Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगदत्त

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

प्रस्तोता

योगेन्द्र दत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

168023

श्री गुरुदत्त की चुनी हुई रचनाएं

हमारी सांस्कृतिक धरोहर
वेद मन्त्रों के देवता
वेद और वैदिक काल
विश्वेदेवाः
विज्ञान और विज्ञान
वेदों में सोम
वेदों में इन्द्र
वेद प्रवेशिका
अद्वैत मीमांसा
न्याय दर्शन
सांख्य दर्शन
ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन)
ईश केन् कठ उपनिषद
प्रश्न ऐत्तरेय उपनिषद
मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद
तैत्तिरीय उपनिषद
सृष्टि रचना
सायंस और वेद
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)
भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
इतिहास में भारतीय परम्पराएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में लेख श्री गुरुदत्त जी की निम्न रचनाओं में से लिये गए हैं—

१. वेद और वैदिक काल
२. वेद प्रवेशिका
३. सायंस और वेद
४. इतिहास में भारतीय परम्पराएँ
५. भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
६. धर्म तथा समाजवाद
७. श्रीमद्भगवद्गीता : एक अध्ययन
८. श्रीमद्भगवद्गीता : सरल सुबोध भाषा भाष्य
९. विक्रमादित्य साहसांक
१०. पत्रलता
११. दो लहरों की टक्कर
१२. दासता के नये रूप
१३. न्यायाधिकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

081
168023

लेखक

गुरुदत्त

प्रस्तोता

योगेन्द्र दत्त

Central Library
168023
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली–110 005

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© ईशान दत्त

R
089.9143
GUR-H

मूल्य : 220.00 रुपये

प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 डी.बी. गुप्ता मार्ग
(समीप प्रह्लाद मार्केट) करोल बाग, नई दिल्ली-5
फोन / टैलीफैक्स : 23553624/23551344
e-mail : indiabooks@rediffmail.com

संस्करण : 2013

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

पूज्य श्री गुरुदत्त जी के जन्म-शताब्दी-वर्ष में उनके कुछ चुने हुए लेखों को, पुस्तकाकार में एक ही खण्ड में प्रस्तुत करने का मैंने संकल्प किया था तथा मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है कि मेरा यह संकल्प पूरा हो रहा है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर श्री गुरुदत्त जी की कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके कई लेख तथा कुछ रचनाएँ अभी अप्रकाशित भी हैं। उनकी रचनाओं में चर्चित विभिन्न विषयों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए, उनका सार एक ही रचना में पाठकों के सम्मुख रखने का यह एक प्रयास है।

श्री गुरुदत्त जी की सभी रचनाओं का आधार शुद्ध भारतीय संस्कृति ही रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर यह घोषित भी किया है कि वह भारतीय संस्कृति की युक्तियुक्त, सप्रमाण विवेचना ही प्रस्तुत कर रहे हैं, अपनी ओर से नया कुछ नहीं दे रहे।

लेखन-कला श्री गुरुदत्त जी को जन्म-जात प्राप्त हुई थी, किन्तु केवल लिखने के लिए लिखना वह एक कुली का बोझा ढोने के समान मानते थे। लेखन उद्देश्यपूर्ण ही होना चाहिए और उद्देश्य क्या हो ? स्वाभाविक है यह प्रश्न उनके सामने प्रस्तुत हुआ।

उन्होंने अपने आस-पास देखा, समाज को देखा, भले लोगों की श्रेष्ठता देखी, कुरीतियों में फँसे लोगों को देखा, देश की गन्दी राजनीति देखी, तथाकथित विद्वानों की पूर्वाग्रह में ग्रसित मिथ्या धारणाओं को जाना, फिर ज्ञान के स्रोत वेदों का अध्ययन किया, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों को पढ़ा तथा उन पर अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि, जो कि उन्होंने विज्ञान का विद्यार्थी होने से प्राप्त की थी, उसके द्वारा मनन किया; अपने मनन के परिणामों के प्रमाण शास्त्रों में ढूँढ़े, तब पाठकों की समझ में आ सकने की भाषा में अत्यन्त रोचक ढंग से सभी-कुछ लेखबद्ध कर दिया।

उनकी रचनाएँ अथाह ज्ञान का भण्डार हैं। उन रचनाओं में प्रस्तुत ज्ञान का सार इस छोटी-सी पुस्तक में पाठकों को समर्पित किया जा रहा है—इसी विश्वास के साथ कि पाठकगण इससे, जो कि वास्तव में भारतीय संस्कृति तथा भारतीय मान्यताओं को समझाने का एक प्रयास है, लाभ उठाएँगे। यह रचना पाठकों के लिए, समाज के लिए भारतीय संस्कृति के उपासकों तथा जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी, इसी धारणा के साथ—

—योगेन्द्र दत्त

८ दिसम्बर, १९९४
निवास १८, मार्ग, २८
पूर्वी पंजाबी बाग, नई दिल्ली-११००२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

भारत जगद्गुरु के रूप में विख्यात रहा है। अपनी इस विरासत पर आज भी हम गर्व का अनुभव कर फूले नहीं समाते। किन्तु क्या किसी ने सोचा है कि हमारे पूर्वजों की जो धरोहर हमारे अधिकार में है उसको हम किस मात्रा-प्रमाण-संख्या में सँभाल पाए हैं? सँभालने की तो बात दूर, वह धरोहर क्या है, अधिकांश भारतीयों को तो इसका भी ज्ञान नहीं है। वर्तमान पीढ़ी के उन लोगों को जिन्हें अपने पूर्वजों की धरोहर के विषय में कुछ जिज्ञासा है, चिन्ता है और गर्व भी है, उनको यह देखकर बहुत कष्ट होता है कि अब तक जो धरोहर किसी-न-किसी रूप में, पूरी नहीं तो कुछ अंश में ही सही, सुरक्षित थी, क्या भविष्य में भी वह सुरक्षित रह पाएगी?

उनके लिए नितान्त निराश होने का कोई कारण नहीं। आशा की किरण सदा ही विद्यमान रही है। हमारा सौभाग्य है कि मानवता के इतिहास में नितान्त निराशा अथवा अन्धकार का काल कभी आया नहीं है। समय-समय पर कुछ विभूतियाँ इस धरा पर अवतरित होती ही रही हैं, जिन्होंने हमारे पूर्वजों की धरोहर को सँजोकर रखने का सफल प्रयास किया है। ऐसे ही एक मनीषी वर्तमान पीढ़ी को भी प्राप्त रहे हैं।

स्व० श्री गुरुदत्त को हम उसी श्रेणी का मनीषी मानते हैं। अपने जीवन-काल में हिन्दू समाज को जितना उन्होंने दिया है उसका एक अंश भी यदि हम समझ पाए और सँभाल पाए तो, हम समझते हैं कि हिन्दू के अस्तित्व की रक्षा के लिए वही पाथेय पर्याप्त सिद्ध हो सकता है। किन्तु जब बाड़ ही खेत को खाने लगे तो उस खेत को बचा पाना कदाचित् परामात्मा के लिए भी सम्भव नहीं है, ऐसी हम लोगों की मान्यता है। हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति के कारण ही हिन्दू समाज ह्रास को प्राप्त हो रहा है। गुरुदत्त जी ने समाज को जो देना चाहा, समाज ने उनको शंका की दृष्टि से ही नहीं देखा अपितु अपनों में गिने जानेवाले लोगों द्वारा ही उनका विरोध हुआ, और कुछ तो ऐसे भी निकले जिन्होंने उनकी प्रताड़ना करने में भी संकोच नहीं किया। यह सब अब अतीत की गाथा बन गई है। जो बीत गया, जो कर दिया गया; उसे अब उलटाया नहीं जा सकता। किन्तु जो किया जा सकता है, विचारणीय विषय वही है।

स्व० गुरुदत्त जी ने जो हमें दिया है, अर्थात् जिस साहित्य का प्रणयन उन्होंने किया है, वह उनकी धरोहर, उनकी थाती हमें न केवल सँभालकर रखनी है अपितु समाजोत्थान के लिए उसका हमें उपयोग भी करना है। तभी वह धरोहर वृद्धि प्राप्त करेगी। 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' वाली कहावत को चरितार्थ करने के लिए हमें सन्त कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीरदास की भाँति पहले उसे जतन से ओढ़ना होगा। गुरुदत्त जी ने उसे जतन से ओढ़ा था और फिर उसको ज्यों-की-त्यों धर दिया था।

स्व० गुरुदत्त ने वेदों और अपने प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर उनका मन्थन किया था और उस मन्थन से जो नवनीत निष्पन्न हुआ था उसको उन्होंने अपनी सुकृतियों के माध्यम से हिन्दू समाज के सम्मुख रखा है। उनकी कोई भी कृति, कोई भी रचना, चाहे वह कोई लेख हो, कहानी हो, कविता हो, उपन्यास हो अथवा शास्त्र-चर्चा हो, सभी कुछ संग्रहणीय है। वह हमारे वेद-शास्त्रों का नवनीत है। हमें उनकी रचनाओं का अध्ययन कर तदनुसार समाज का मार्गदर्शन करना होगा, तभी वह धरोहर, वह धाती सुरक्षित रहेगी और उसके माध्यम से ही वर्तमान में तथा भविष्य में भी, हिन्दू के अस्तित्व की रक्षा सम्भव होगी।

इसी प्रसंग में, स्व० श्री गुरुदत्त जी के शताब्दी-वर्ष में उनकी कृतियों का सार-संक्षेप 'हमारी सांस्कृतिक धरोहर' के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उचित एवं उत्तम तो यही होगा कि उनकी एक-एक कृति का अध्ययन किया जाय और तदुपरान्त इस सार-संक्षेप का अध्ययन हो। तदपि, यदि किसी के लिए वह सब सम्भव नहीं है तो इस एकमात्र संकलन का अध्ययन करने से भी पाठक को 'गुरुदत्त-सर्वस्व' की उपलब्धि हो जाएगी, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल और त्रुटि मानव से होती ही है, अतः यह कह पाना नितान्त असम्भव है कि यह पूर्ण 'गुरुदत्त-सर्वस्व' है, तदपि इसमें बहुत-कुछ समाहित करने का यत्न किया गया है। यह प्रयत्न किया है उनके कनिष्ठ सुपुत्र श्री योगेन्द्र दत्त ने। यह क्या है, कैसा है, इसके पारखी तो पाठक ही हैं, अतः इसका निर्णय उन पर ही छोड़कर हम अपना निवेदन पूर्ण करते हैं।

—अशोक कौशिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संस्कृति

यदि कोई हावड़ा के पुल पर खड़े होकर, पुल के नीचे बहते गन्दे जल को देखे और उसमें अनेक प्रकार तथा आकार के जहाज़, नौकाओं अथवा बजरों को तैरता देखे तो एक विशेष प्रकार का भाव उसके मन में उत्पन्न होगा। मन पूछेगा कि जिस पानी में अनेक नगरों का मल-मूत्र, अनेक कारखानों का कचरा और नौकाओं के असंख्य यात्रियों की थूक इत्यादि मिली हुई है, क्या यही पतितपावनी गंगा का जल है ?

हरिद्वार तथा उससे भी ऊपर गंगोत्तरी में जो शीतल, स्वच्छ, मधुर और पावन जल है, क्या यह वही है जो इस पुल के नीचे से गंधाता हुआ चला जाता है ? दूर पूर्वी किनारे के एक घाट पर, अमावस्या के पर्व पर स्नानार्थ आए असंख्य नर-नारी दिखाई देते हैं। दूर-दूर के गाँव तथा नगरों से आए ये लोग इस हुगली के पानी में डुबकी लगाने को व्याकुल प्रतीत होते हैं। यह क्यों? यह तो वह पतित-पावनी गंगा नहीं, जिसके दर्शन-मात्र अथवा नाम-मात्र अथवा नाम-स्मरण से पापी देवता बन जाते हैं।

कलकत्ता के घाट पर गंगा में स्नान करनेवाले के मुख से "हर-हर गंगे" के शब्द क्या अनर्गल हैं? अतः इसमें सार पूछने की लालसावाले जिज्ञासु को भक्त के मन में पैठने की आवश्यकता है।

"ओ भक्त ! देखो जल में यह क्या बहता जा रहा है ?"

किसी जहाज़ द्वारा छोड़ी गन्दे तेल की धारा थी।

"जै गंगा मैय्या की !" भक्त के मुख से अनायास निकल गया और फिर उसने प्रश्नकर्ता के मुख की ओर देखते हुए पूछा, "वह देखो, कौन स्नान कर रही है ?"

जिज्ञासु की दृष्टि उस ओर घूम गई। एक कुबड़ी, कानी, वृद्धा गले तक पानी में पैठी हुई, सूर्य की ओर मुख कर भगवान् की अर्चना कर रही थी। जिज्ञासु की समझ में कुछ नहीं आया। उसने प्रश्न-भरी दृष्टि से भक्त की ओर देखा। भक्त ने पूछा, "कैसी है वह भक्तिनी ?" फिर कहा—

"आँखों वाले अन्धे ! उसकी आत्मा में पैठकर देखो। आज वह निर्धन, अपाहिज और निस्सहाय लोगों का एकमात्र आश्रय बनी हुई है। सत्य-मार्ग की पथिक सत्तर वर्ष का मार्ग लाँघकर उस आलोक में लीन होनेवाली है जिसमें लीन होने के लिए संसार लालायित रहता है।"

"परन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं मिला।"

"बाहरी रूप-रंग देखनेवालों को वास्तविक श्रेष्ठता दिखाई नहीं देती। भाई, संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जो कुछ दिखाई देता है कितन कुरूप है ! परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सब कुछ सारहीन है। भगवान् शिव की जटाओं से स्रवित जल इस नदी के कण-कण में व्यापक है। उसका तो एक बिन्दु-मात्र पूर्ण सागर को पवित्र करने की सामर्थ्य रखता है।"

"यह मन की भावना-मात्र है भक्त ! डुबकी लगाकर देखो कि तुम्हारे शरीर को भगवान की जटाओं से निकला जल लगता है अथवा उस जहाज़ का फेंका हुआ कचरा ?"

इस भावना में कुछ तत्त्व है क्या ? यह प्रश्न मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। परन्तु संसार में कहीं शुद्धता-पवित्रता मिलती भी है ? प्रकृति में प्रायः सब वस्तुएँ मिश्रित तथा अन्य वस्तुओं से संयुक्त अवस्था में पाई जाती हैं और बुद्धिमान् पुरुष मैल-मक्खी को निकाल शुद्ध वस्तु उपलब्ध कर लेते हैं।

भारतीय संस्कृति भी गंगा की पवित्र धारा की भाँति बहुत ही प्राचीन काल से चली आती है। वेदों के काल से चली हुई, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र अथवा रामायण, महाभारत इत्यादि कालों में समृद्ध होती हुई और फिर बौद्ध, वेदान्त, वैष्णव इत्यादि मतों से व्याख्यात होती हुई बहती चली आई है। कालान्तर में इस सभ्यता में कचरा और कूड़ा-करकट भी सम्मिलित हुआ है और अब हुगली नदी की भाँति एक अतिविस्तृत, मिश्रित और ऊपर से मैला प्रवाह बन गई है।

इस प्रवाह में अभी भी वह शुद्ध, निर्मल और पावन ज्योति विद्यमान है। आँख के पीछे मस्तिष्क न रखनेवाले के लिए वह गन्दा पानी है। परन्तु दिव्य दृष्टि रखनेवाले जानते हैं कि इसमें अभी भी मोती-माणिक्य भरे पड़े हैं। भारतीय सभ्यता गंगा की भाँति हुगली का पानी नहीं, प्रत्युत वह पवित्र जल है जो त्रिपुरारि की जटाओं से निकलता है।

वैदिक सभ्यता आज हिन्दुस्तानी तहज़ीब बनने जा रही है; हुगली का मटियाला गंधाता हुआ जल बनने जा रही है। उसमें स्नान करने का अर्थ यह होगा कि पूर्ण विदेशी सभ्यता इसको आच्छादित करने जाए। केवल देखनेवाले, इसको पूर्ण रूप में परिवर्तित हो गया समझते हैं, परन्तु समझनेवाले इस हुगली के पानी में गंगोत्तरी के जल को व्यापक पाते हैं।

कुछ ऐसी बातें हैं जो इस सभ्यता की रीढ़ की हड्डी हैं। पुनर्जन्म, कर्म-फल, विद्वानों का मान, विचार-स्वातन्त्र्य, व्यक्ति के समाज की श्रेष्ठता, चरित्र-महिमा इत्यादि इस सभ्यता के अमिट अंग हैं। ये सब-के-सब वैदिक काल से आज तक अक्षुण्ण चले आते हैं। भारतीय सभ्यता की ये वस्तुएँ सार-रूप हैं। जब-जब भारतीयों ने इसको छोड़ा है और विदेशी सभ्यतारूपी मिले हुए कचरे को भारतीय सभ्यता माना है, तब-तब देश तथा जाति आर्थिक, मानसिक और आत्मिक पतन की ओर अग्रसर हुई है।

जब कचरा अधिक होने लगता है तो मनुष्य पवित्रता के स्रोत पर पहुँच डुबकी लगाने की सोचता है। यदि वर्तमान सभ्यता वेदों की पवित्र सभ्यता का गँदला रूप है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गँदलापन इतना अधिक है कि असल को खोज निकालना कठिन हो रहा हो तो इसके स्रोत वेदों में डुबकी लगाने की आवश्यकता है।

गंगा की महिमा जमुना, घाघरा इत्यादि उसमें मिलनेवाली नदियों के कारण नहीं है। उसमें मिला हुआ कीचड़ अथवा मैला उसकी शोभा को नहीं बढ़ाता है। उसकी महिमा तो उसके स्रोत के निर्मल जल के कारण है। बुद्धिमान् मैले को पृथक् कर सार को प्राप्त कर उसका भोग करता है। यही परम साधना है।

—गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

१.	वेद	१३
२.	वेद-मंत्रों के देवता	४८
३.	दर्शन शास्त्र	६९
४.	वैदिक काल	७४
५.	श्रीमद्भगवद्गीता	७५
६.	इतिहास	८८
७.	पुराण	१३६
८.	मनुष्य	१६०
९.	धर्म	१८७
१०.	धर्म-व्यवस्था	१९१
११.	समाज	२०९
	परिशिष्ट	२२७
१२.	विक्रमादित्य साहसांक	२२८
१३.	सम्राट् अशोकवर्धन	२३४
१४.	हर्षवर्द्धन	२३९
१५.	शिक्षा का सरकारीकरण	२४५
१६.	दासता के नये रूप	२४९
१७.	हमारा न्यायाधिकरण	२५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद

वेद क्या हैं और इनकी रचना कब हुई तथा वैदिक काल के लोग कैसे थे, इस विषय पर अपने कुछ विचार पाठकों के सम्मुख रखना चाहता हूँ। इस विषय पर लिखने का मेरा विचार इस कारण हुआ कि कुछ पाश्चात्य विचारक, जो स्वयं को वेद के विद्वान् मानते हैं और वैसा ही प्रख्यात करते हैं, वे कुछ ऐसी बातें लिख रहे हैं जो सत्य नहीं हैं।

भारतीय साहित्य तथा इतिहास के ठेकेदार भी प्रायः वेद के तथाकथित यूरोपियन विद्वानों का अनुकरण कर रहे हैं।

मध्यकालीन भारतीय विद्वान्, हमारा अभिप्राय है सायण, महीधर आदि भाष्यकार भी कुछ ऐसे विचार प्रकट कर गए हैं जो प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते।

इस कारण मैंने इस विषय पर अपने कुछ विचार उपस्थित करने का साहस किया है। अपने विचारों की पुष्टि के लिए युक्ति और प्रमाण भी देने का यत्न किया है।

महर्षि स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि ऋक् नाम है स्तुति का। स्तुति का अभिप्राय है किसी के गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन। अतः ऋचाएँ, पृथिवी से लेकर परमात्मा तक के पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन करती हैं। सरल भाषा में यह कहा जा सकता है कि वेद ज्ञान और विज्ञान के ग्रन्थ हैं।

'ज्ञान' से अभिप्राय है अनादि मूल तत्त्वों का वर्णन और उनका परस्पर सम्बन्ध, और 'विज्ञान' है इस कार्य-जगत् के विभिन्न पदार्थों का वर्णन। ये दोनों ही बातें वेद में हैं।

वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। आदि-ज्ञान का भण्डार चार वेद-ग्रंथ हैं। इनके नाम हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनके पदों को मन्त्र कहते हैं। इन मंत्रों की संख्या इस प्रकार है—

ऋग्वेद	१०४८२
यजुर्वेद	१९७५
सामवेद	१८७३
अथर्ववेद	५९७७
कुल मन्त्र संख्या	२०३०७

महर्षि दयानन्द ने लिखा है और हिन्दू समाज के सब विद्वानों का भी यही मत है कि वेद परमात्मा का वह ज्ञान है जो परमात्मा ने इस संसार में मनुष्य के कल्याण के लिए दिया है। इससे ही यह अनुमान लगाया जाता है कि जिन-जिन विद्याओं से मनुष्य का,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संसार में रहते हुए वास्ता पड़ता है, उन सबका ज्ञान इन बीस हजार तीन सौ सात मन्त्रों में परमात्मा ने मनुष्य को दे दिया है। यद्यपि यह बीस हजार की संख्या बहुत अधिक है, फिर भी माना जाता है कि संसार की सब विद्याओं का मूल ही इनमें दिया जा सका है। व्याख्या मनुष्य के स्वयं करने के लिए छोड़ दी है।

वृक्ष का मूल, वृक्ष की अनेकानेक शाखाओं और असंख्य पत्तों का पोषण करता है। इसी प्रकार यह माना जाता है कि वेद-ज्ञान भी असंख्य विषयों और उपविषयों के ज्ञान का स्रोत है। वह सब जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है, मूल रूप में वेद में है। वेद के भारतीय विद्वानों का ऐसा ही मत है।

यह माना जाता है कि वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् वेदज्ञान का किसी मनुष्य ने आविष्कार नहीं किया। परमात्मा भी इसका उद्‌गाता नहीं। यह ऐसे ही अनादि है जैसा परमात्मा स्वयं तथा जीवात्मा और प्रकृति अनादि हैं। वेद-ज्ञान सदा रहता है। यह केवल तभी प्रकट होता है जब इसे ग्रहण करने योग्य मनुष्य-जैसा प्राणी उत्पन्न होता है।

मनुष्य पृथिवी पर उत्पन्न हुआ। इस कारण मनुष्य के उत्पन्न होते ही यह ज्ञान उसे मिल गया।

यह भारतीय परम्परा है कि वेद अनादि हैं। इसी कारण इसे ब्रह्म कहते हैं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति भी ब्रह्म माने जाते हैं और उनके साथ ही वेद भी ब्रह्म हैं। ये चारों अनादि पदार्थ हैं।

केवल इनका आविर्भाव इस पृथिवी पर तब हुआ जब यहाँ पर मनुष्य उत्पन्न हुआ। इनका आविर्भाव किस प्रकार हुआ, यह यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णित है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ —यजु:० ३१-७

उस सर्वहुत (सबसे ग्रहण करने योग्य) यज्ञस्वरूप परमात्मा से ऋक्, साम, अथर्व और यजुर्वेद प्रकट हुए।

इसी अभिप्राय का एक मन्त्र अथर्ववेद में भी है।

यह हुआ वेद का यह प्रमाण कि वेद भूमण्डल की सबसे प्राचीन पुस्तक है। परन्तु हम तो युक्ति से यह सिद्ध करते हैं कि सृष्टि पर प्रथम मानव को परमात्मा ने वेद-ज्ञान दिया। परमात्मा है और वेद उस सर्वज्ञ परमात्मा के ही ज्ञान का रूप है।

सृष्टि-रचना महान् ज्ञानवान् और शक्तिशाली आत्म-तत्त्व के बिना नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि ऐसा तत्त्व (परमात्मा) है। मनुष्य को यदि कोई सिखानेवाला न होता तो यह सर्वथा अज्ञ और कोई भी मानव-योग्य कर्म करने में अशक्त रहता। इस कारण आदि-मनुष्य को ज्ञान किसी ने दिया है और वह देनेवाला परमात्मा है। उसका दिया ज्ञान वेद है।

वैदिक परम्परा है कि मनुष्य, जैसा आज है, वैसा ही आदि-सृष्टि के समय बना था। इस कारण यदि यह ज्ञान उसे न दिया जाता तो मनुष्य चलना-फिरना भी न सीख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। आज भी मनुष्य के शिशु को यदि समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह पशु-समान ही रहेगा; कुछ भी नहीं सीख सकेगा। यह वस्तु-स्थिति है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य, मनुष्य के रूप में ही पैदा हुआ था। यह नहीं कि कोई इतर जीव-जन्तु जाति-परिवर्तन से मनुष्य बना हो। जाति-परिवर्तन का सिद्धांत ग़लत है। इस कारण आदि-मनुष्य को प्रारंभिक ज्ञान देना आवश्यक था।

यह है वेद की महिमा और मनुष्य के लिए इसकी आवश्यकता। वेद सब कालों में सब विषयों का मूल ज्ञान देता है। केवल यही नहीं, प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य ने जो कुछ आज तक आविष्कार किया है, वह उस प्रारम्भिक ज्ञान के आधार पर ही किया है।

परमात्मा

एक नास्तिक न तो परमात्मा को मानता है, न ही उसके दिए ज्ञान को। उसके लिए यही आवश्यक है कि वह पहले इस बात का उत्तर ढूँढे कि यह सृष्टि कैसे बनी?

ब्रह्मसूत्र में लिखा है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। —ब्र० सू० १-२-१

अर्थात्—जो सब स्थान पर, और सब काल में प्रसिद्ध है, उसके ज्ञान से परमात्मा की सिद्धि होती है।

कैसे सिद्धि होती है? वही सूत्रकार कहता है—

जन्माद्यस्य यतः। —ब्र० सू० १-१-२

अर्थात्—जिसने यह सृष्टि उत्पन्न की है, जो इसका पालन कर रहा है और जो इसका (समय पर) संहार करेगा, वह (ब्रह्म अर्थात् परमात्मा) है।

संसार में कुछ भी स्वतः बनता हुआ दिखाई नहीं देता। यह इस सर्वत्र प्रसिद्ध जगत् को देखने से हमें पता चलता है। एक विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन ने कहा है—

प्रकृति का प्रत्येक कण यदि खड़ा है तो खड़ा ही रहेगा और यदि चल रहा है तो सीधी रेखा में एक स्थिर गति से तब तक चलता ही रहेगा, जब तक कि उस पर किसी बाहरी शक्ति का प्रभाव न पड़े।

अतः पृथिवी, चन्द्र और अन्य बड़े-बड़े नक्षत्रों की गति आरम्भ करनेवाला और इनको इतने काल से अण्डाकार-मार्ग (ellipitical path) पर चलानेवाला, कोई महान् सामर्थ्यवान् होना चाहिए।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि बिना कर्ता के कर्म नहीं होता। इसका वर्णन दर्शनाचार्य व्यास मुनि ने ब्रह्मसूत्रों में भी किया है। वह कहता है—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥ ब्र० सू० २-२-४

अर्थात्—प्रकृति की गति उलट नहीं सकती, जब तक कोई बाहर से उस पर प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न डाले।

अतः पृथिवी, चन्द्र, तारागण इत्यादि कभी चलने आरम्भ हुए थे। उक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि इतने बड़े-बड़े पदार्थ बिना किसी बाहरी शक्ति के हरकत में नहीं आ सकते थे। साथ ही ये जो अण्डाकार-मार्ग पर चल रहे हैं, वे बिना किसी महान् शक्तिशाली के निरन्तर प्रयत्न के चल नहीं सकते थे। वह सामर्थ्यवान् परमात्मा है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमात्मा ने यह वेदज्ञान हमारे पितरों को कैसे दिया?

इसका समाधान वेद ने स्वयं किया है। ऐसा कहा है कि वेद-ज्ञान अपौरुषेय है, अर्थात् ज्ञानरूप में यह सदा से है। मनुष्य में जीवात्मा भी पुरुष कहाता है और परमात्मा भी पुरुष है। इस कारण जब किसी वस्तु को अपौरुषेय कहा जाये तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह न परमात्मा का कहा होगा, न किसी मनुष्य का। तब यह प्रकट कैसे हुआ? इस विषय में वेद इस प्रकार कहता है—

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥

—ऋ० १०-१३०-३

(यत् विश्वे देवाः देवम् अयजन्त) जब सम्पूर्ण देवता परमात्मा का यजन [परमात्मा द्वारा चलाये लोक-कल्याण के कार्य को] करते हैं [तब] (का आसीत् प्रमा प्रतिमा) जो स्वरूप बना था, उसका प्रमाण [माप=measure] क्या था? (किम् निदानम् आज्यं) [इस निर्धारण का] कारण और निर्माण में [पदार्थ] क्या था? (किम् आसीत् परिधिः) [उस निर्माण का घेरा] कितना बड़ा था? (छन्दः किम् आसीत् प्रउगं) छन्द क्या थे जो गाये जा रहे थे? (किम् उक्थं) वे छन्द क्या कहते थे?

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना में जब देवता (अग्नि, वायु, सूर्य, बृहस्पति इत्यादि) बन गये, तब वे किस प्रकार परमात्मा के रचना-यज्ञ को आगे चला रहे थे? कितना बड़ा जगत्, कितनी बड़ी परिधि का उन्होंने बनाया था? अभिप्राय यह कि यह बहुत बड़ा था। और इसके बनाने में किस सामग्री का प्रयोग किया गया था?

सामग्री के विषय में तो सांख्यदर्शन कहता है कि प्रकृति के परमाणु साम्यावस्था में थे। वेदों में भी (ऋ० १-१६३-३) 'सोमेन समया' साम्यावस्था प्रकृति को ही रचना में 'आज्यं' कहा है।

मंत्र में कहा है कि जगत् प्रकृति से बना था और बहुत लम्बा-चौड़ा था। उस समय देवता परमात्मा के कार्य को आगे चला रहे थे।

जगत् जिसमें हमारा सौर-मण्डल एक बहुत ही छोटा-सा भाग है, उसकी परिधि और मान अब जानने का यत्न किया गया है।

यह कहा है कि यदि जगत् (galaxy) के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने के लिए हम प्रकाश की गति (१,८६,३०० मील प्रति सैकेण्ड) से भागें तो ६०,००,००,००० (साठ करोड़) वर्ष लग जायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस जगत् (आकाश-गंगा) में नक्षत्रों और ग्रहों की संख्या लगभग दस अरब (१०p०,००,००,०००) है।

यह आकाश-गंगा हमारा जगत् है। इसमें सौर-मण्डल कितना छोटा-सा है, इसका अनुमान इससे लग जायेगा कि आकाश-गंगा एक चपटी तश्तरी की भाँति के फैलाव में है और यह अपने केन्द्र पर घूम रही है। हमारा सौर-मण्डल भी इस पूर्ण प्रपंच में घूम रहा है। यह अनुमान है कि सौर-मण्डल को इस महाचक्र में घूमते हुए चक्र पूर्ण करने में २०, ००,००,००० (बीस करोड़) वर्ष लग जायेंगे।

वेद इस पूर्ण जगत् का ही वर्णन करता है। यहाँ यह भी विदित होना चाहिए कि इस जगत् से बाहर और जगत् भी हैं। परन्तु वेद जो हमें मिले हैं, वे इस जगत् का वर्णन कर रहे हैं। कहा है कि इस जगत् के देवता (दिव्य पदार्थ) जब बन गए तो छन्द उच्चारण करने लगे। वे छन्द क्या थे? किस-किस ने उच्चारण किए?—यह अगले मंत्रों में कहा है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥

—ऋ० १०-१३०-४,५

अर्थात्—उस समय (जिसका कथन पूर्वमन्त्र १०-१३०-३) में है (अग्ने सयुग्वा गायत्री) अग्नि के साथ गायत्री छन्द का सम्बन्ध (अभवत्) उत्पन्न हुआ। (उष्णिहया सविता सं बभूव) उष्णिता से सविता का (सम्बन्ध) हो गया। (उक्थैः अनुष्टुभा महस्वान् सोमः) ओजस्वी सोम से सम्बद्ध अनुष्टुभ् छन्द होते हैं। (बृहस्पतेः बृहती वाचम् अवत्) बृहस्पति से बृहती छन्द आता है। (विराट् मित्रावरुणयोः) विराट् छन्द मित्र और वरुण से (अभिश्रीः) आश्रित होते हैं। (अह्नः भागः) दिन के समयः (त्रिष्टुप् इन्द्रस्य) इन्द्र का [सम्बन्ध है] त्रिष्टुप् के साथ। (विश्वान् देवान् जगती आविवेश) सम्पूर्ण देवताओं का जगती छन्द व्याप्त हुआ। (तेन चाक्लृप ऋषयः मनुष्याः) उन [छन्दों] से ज्ञानवान् हुए ऋषि और मनुष्य।

वे ज्ञानवान् कैसे हुए, यह भी बताया है—

चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥

—ऋ० १०-१३०-६

अर्थात्—(तेन चाक्लृपे) उन [छन्दों] से ज्ञानवान् होकर (ऋषयः मनुष्याः) ऋषि, मनुष्य (पितरः नः पुराणे) हमारे पुरा काल में उत्पन्न पितर (यज्ञे जाते) जो रचना के समय उत्पन्न हुए थे (पूर्वे पश्यन् मन्ये) पूर्व-काल में देखते हुए [छन्द] अनुभव किये (मनसः चक्षसाः) मन के चक्षुओं से, (तान्) उनको (इमं यज्ञमयजन्त) इस हो रहे यज्ञ में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन चार मन्त्रों में किस प्रकार वेद मनुष्यों तक पहुँचे, इसका वर्णन है। रचनाक्रम में जब देवता बन गए तब अग्नि से गायत्री छन्द, सविता से उष्णिग् छन्द, सोम से अनुष्टुभ छंद और बृहस्पति से बृहती छंद आश्रय पाकर प्रसारित हुए। वरुण और मित्र से विराट्, इन्द्र से त्रिष्टुप् दिन के समय और सब देवताओं से जगती छन्द आश्रय पा गए। अर्थात्—

(१) गायत्री छन्द अग्नि के सहाय से,
(२) उष्णिग् छन्द सविता के सहाय से,
(३) अनुष्टुभ् छन्द सोम के सहाय से,
(४) बृहती छन्द बृहस्पति के सहाय से,
(५) विराट् छंद अग्नि और मित्र से,
(६) त्रिष्टुप् इन्द्र से,
(७) जगती छंद सब देवताओं से।

इस प्रकार वेद के सात छंद हैं। शेष इनके उपछन्द हैं। ये इन देवताओं के सहाय से प्रकट हुए।

ये छन्द ऋषियों ने अपने मन के चक्षुओं से अनुभव किए और उनको समझकर स्वयं ज्ञानवान् हुए तथा रचना-यज्ञ में उत्पन्न हुए मनुष्य, पितर और पूर्व के अन्य लोग ज्ञानवान् हुए।

इन मन्त्रों में इन सब ज्ञानवान् होनेवालों के लिए 'यज्ञे जाते' कहा है। इसका अर्थ है कि जो सृष्टि-रचना के साथ उत्पन्न हुए। इसका अभिप्राय है अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए।

इन मन्त्रों में एक अन्य शब्द आता है—'सयुग्वा'। इसका अर्थ है 'सहयोग' से। अभिप्राय यह है कि इन छन्दों को उच्चारण करनेवाले तो ये देवता थे, परन्तु ये केवल सहयोग ही दे रहे थे। किसको सहयोग दे रहे थे? परमात्मा को। किस प्रकार सहयोग दे रहे थे? जैसे हमारा मुख और गले में स्वर-यन्त्र आत्मा के कहे शब्द उच्चारण करते हैं। मुख और गला तो प्रकृति के अंश हैं, ये जीवात्मा के आदेश पर बोलने लगते हैं। वैसे ही परमात्मा के आदेश पर देवता बोलने लगते हैं।

परन्तु ऋषियों और अमैथुनी पुरुषों ने जब इन्हें सामान्य जनों को दिया तो एक भाषा में दिया। उस भाषा का नाम राष्ट्री है और वेद में उसके प्रकट होने का भी वृत्तान्त है।

वहाँ कहा है—

यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

—ऋ० ८-१००-१०, ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—(यत् वाक् अविचेतनानि वदन्ति) जब वाणी जो विशेष अर्थवाली नहीं [सामान्य अर्थों को कहती है] (देवानां निषसाद) देवताओं [दिव्य पदार्थों] में स्थापित हो जाती है। [तब] (चसस्त्र ऊर्जं) चारों दिशाओं में शक्तिरूप में (दुदुहे पयांसि) विविध ज्ञान दुहती (क्व स्वित् अस्याः परमं जगाम मन्द्रा) यह परम आनंद को देनेवाली है।

(देवाः देवीं वाचं अजनयन्त) देवता उस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं। (विश्वरूपाः पशवो वदन्ति) सभी प्राणी उसे बोलते हैं। (सा नः मन्द्रा इषं ऊर्जं दुहाना धेनुः) वह हमें हर्षोत्पादक अन्न और ऊर्जा ऐसे देती है जैसे गाय दूध देती है। (ताः अस्मान् उप एतु सुष्टुता) वह वाणी हमको सेवा के लिए प्राप्त हो।

इस प्रकार वेद में वाणी का और वेद के छन्दों का पृथिवी पर आने का वर्णन मिलता है। यह इस प्रकार कि पहले राष्ट्री भाषा परमात्मा की कृपा से और देवताओं की सहायता से उच्चारित हुई और वह शक्ति की भाँति चारों दिशाओं में फैल गई। हमने उसका ऐसे पान किया जैसे गाय के स्तनों से निकल रहा दूध पान करते हैं। यह वाणी सामान्य थी। यह वेद की भाँति ज्ञानवाली नहीं थी; सामान्य पदार्थों के विषय में बताने वाली थी। जब मनुष्य इस वाणी को सीख गया तब देवताओं द्वारा उच्चारित हो रहे छन्द रश्मियों (तरंगों) की भाँति प्रसारित होने लगे। उन तरंगों को ऋषियों ने समझा और स्वयं उनका अर्थ समझकर वे ज्ञानवान् हुए; और जब प्रथम अमैथुनी मानव-सृष्टि हुई तो उसको ज्ञानवान् किया। तदनन्तर जो मनुष्य उनसे पीछे पैदा हुए वे ज्ञानवान् हुए।

वेदों के जन्म की और मनुष्य को वेद-ज्ञान मिलने की यह प्रक्रिया है।

साथ ही वेद (ऋ० १०-१३०-३) में कहा गया है कि जब रचना-क्रम में देवता बन गए तो छन्द उच्चारण होने लगे। परन्तु मनुष्य तो उसके बाद उत्पन्न हुआ।

पृथिवी बनी तो देवताओं के साथ ही थी, पृथिवी भी एक देवता है, परन्तु बनने के समय पृथिवी अति उष्ण थी। यह भी वर्णन मिलता है कि आरम्भ में यह तरल (अर्ध-ठोस) थी। बाद में यह ठण्डी हुई और इसका ऊपर का छिलका कड़ा हो गया। तदनन्तर सूर्य और सोम की [illegible]पतियाँ उत्पन्न हुईं और तब पहले पशु-पक्षी इत्यादि बने और अन्त में [illegible]। वेद को सुनने और समझनेवाले तब ही हुए।

ऊपर वर्णित सृष्टि-क्रम से यह पता चलेगा कि द्वितीय मन्वन्तर में छन्द उच्चारण होने आरम्भ हुए और वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में मनुष्य उत्पन्न हुए तो वेदों का वर्तमान स्वरूप बना।

हमारे विचार में वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में मानव-सृष्टि हुई है और इसे लगभग ३८ लाख वर्ष हुए हैं। उसी समय वेदों का वर्तमान स्वरूप बना।

वर्तमान स्वरूप से मेरा अभिप्राय है वेदों का इस भाषा में कहा जाना जिसे हम वैदिक भाषा कहते हैं।

आज से ३८ लाख वर्ष पूर्व ऋषि, जो अमैथुनी सृष्टि की उपज थे, उन्होंने इन वेदों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को सुना और उस समय उपस्थित मनुष्यों को उनसे ज्ञानवान् कराया।

मैंने यह भी बताया है कि राष्ट्री भाषा (सामान्य उपस्थित पदार्थों का ज्ञान करानेवाली भाषा) पहले प्रकट हुई। बाद में उस भाषा में वेद और वेदार्थ प्रकट किए गए।

दोनों के आविर्भाव में कितने काल का अन्तर था, यद्यपि इस विषय में ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह अंतर कुछ अधिक नहीं रहा होगा। यह इस कारण कि वेदवाणी जो बाद में आई वह (यज्ञे जातः) रचना में अमैथुनी ढंग से उत्पन्न हुए लोगों की समझ में आई। इसका अर्थ है कि मानव-सृष्टिरचना के प्रारम्भिक काल में ही वेद वर्तमान रूप में आए।

आरम्भ में ये छंद पदों और मन्त्रों में आए। इस विषय में भी वेद में कहा है। एक मन्त्र है—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

—ऋ० १-१६४-४१

अर्थात्— (गौरीः मिमाय सलिलानि) गाय के समान वेदवाणी मिमयाती अर्थात् शब्द करती हुई जो तरल थी, (तक्षती एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी) वह वाणी एक पद, दो पद, आठ पदों और नौ पदों में कट-कटकर आई, (सहस्राक्षरा परमे व्योमन्) सहस्रों अक्षरों में व्योम में से।

अभिप्राय यह है कि वेदवाणी कट-कटकर पदों में आई और वे मन्त्र बन गए।

परन्तु ऋषियों ने मन्त्रों को सूक्तों, अनुवाकों इत्यादि में बाँटना तो बाद में किया, जिससे वे किसी विषय को प्रकट कर सकें।

इनके सूक्तादि विभाग मानवकृत हैं। ये बदले भी जा सकते हैं। सूक्तों में विभाजन तथा सूक्तों और मन्त्रों के देवता का निश्चय कालान्तर में मन्त्रों का भाव समझकर किया गया है।

वर्तमान चतुर्युगी के आरम्भ में तो वेद पदों में और मन्त्रों में ही आए, परन्तु बाद में इनको विषयानुसार बाँधा गया। व्यास नाम के ऋषि अथवा ऋषियों ने यह व्यवस्था की, यह परम्परा है।

एक व्यास हुए हैं, जिन्होंने महाभारत लिखा है। परन्तु उन सत्यवती-नन्दन व्यास के अतिरिक्त भी कई व्यास हुए हैं। वायु-पुराण में लिखा है कि द्वापर युग में बीस से अधिक व्यास हुए हैं। 'व्यास' वेदों के विद्वान् की उपाधि मानी जाती है।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किस व्यास ने और किस काल में वेदमंत्रों को अनुवाक और सूक्त में बाँटा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R 089.9143
GUR-H
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar 166023

वेद का विषय

वेद में क्या लिखा है, इस विषय में भी पाश्चात्य प्राच्यविदों से हमारा मतभेद है। बम्बई के 'भारतीय विद्या भवन' ने एक पुस्तक प्रकाशित की है 'वैदिक एज' (Vedic Age)। वह पुस्तक यूरोपियन इण्डोलोजिस्टों की छाया ही है। इसके लेखकों ने वेद और वैदिक काल को समझा ही नहीं प्रतीत होता। यूरोपियन इतिहासज्ञों और वेद-विषय में भ्रान्त विद्वानों ने जो कहा है, वही इस पुस्तक में लिखा गया है।

उदाहरण के रूप में ऋग्वेद और वैदिक रिलिजन के लेखक प्रो० कैल्टन ने प्रो० मैक्समुल्लर के विचारानुसार अपनी पुस्तक (Rigveda and Vedic Religion) में लिखा है कि वेदों में बच्चों की-सी अर्थहीन और असम्बद्ध बातें हैं।

ऐसे पाश्चात्य लेखकों का अनुकरण 'वैदिक एज' के लेखकों ने किया है।

मैक्समुल्लर इत्यादि ईसाई मत के दीवाने थे और वे यह सहन नहीं कर सके कि हज़रत आदम से पहले का रचित कोई ग्रन्थ मिल जाए। ईसाइयों के मूल ग्रंथ बाइबल के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति आज से सात हज़ार वर्ष पूर्व हुई है।

न तो विज्ञान इसको ठीक मानता है, न ही भारतीय इतिहास से यह सत्य सिद्ध होता है।

मैक्समुल्लर सन् १८६८ में अपनी पत्नी को एक पत्र में लिख गए हैं—

I hope I shall finish that work and I feel convinced, though I shall not live to see it, yet this edition of mine (of the Rigveda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in the country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, 'the only way of uprooting' all that has been sprung from it during the last three thousand years.

इस पद का भावार्थ है—

'मुझे आशा है कि मैं उस काम को (ऋग्वेद का सम्पादन) पूरा कर दूँगा और उसके तथा वेदों के अनुवाद के छपने से (यद्यपि मैं यह देखने के लिए जीवित नहीं रहूँगा) भारत और भारत में करोड़ों रहनेवालों के भाग्य पर प्रभाव पड़ेगा। यह उनके धर्म का मूल है और उस मूल के दर्शन कराने से ही उनके पिछले तीन हजार वर्ष से बने प्रभाव को मिटाया जा सकेगा।'[1]

यह इस लेख का विषय नहीं कि इन दिग्भ्रान्त हीनबुद्धि लेखकों का विस्तृत खण्डन किया जाए। यह थोड़ा-सा नमूना इस बात को बताने के लिए दिया है, जिससे पाठकों को पता लग जाए कि भारत का वास्ता कैसे धूर्तों से पड़ा है।

---

१. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड द्वारा उद्धृत—'वेदों में यथार्थ स्वरूप' में, पृष्ठ २५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन विद्वानों ने वेदों का अध्ययन, उनकी भाषा का ज्ञान प्राप्त कर तथा व्याकरण और निरुक्त के आधार पर किया है, वे वेदों को क्या समझते हैं, उनकी बात ही हम बताना चाहते हैं।

उदाहरण के रूप में मनु वेद के विषय में कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं··· —(मनु० २-६)

पूर्ण धर्म का मूल वेद में है।

और भी कहा है—

धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। —(मनु० २-१३)

धर्म के जिज्ञासुओं के लिए श्रुतिः (वेद) परम प्रमाण है।

मनु आगे कहता है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ —(मनु० १२-९४)

पितरों, देवों और मनुष्यों के लिए अनादि वेद नेत्र के समान हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

····**अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस**··· ।
—बृ० उ० ४-५-११

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद परमात्मा के ही श्वास मात्र हैं।

महाभारत का लेखक भी इस विषय में लिखता है—

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
—महाभारत शान्ति० २३२-२४

आदि-अन्तरहित नित्य वाणी को परमात्मा ने प्रकट किया।

यास्क वेदों के एक महान् विद्वान् हुए हैं। उन्होंने वेद के विषय में कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
—निरुक्त १-१८

जो वेद को पढ़ता है, बिना अर्थ जाने, वह (मनुष्य नहीं) भार उठानेवाला खम्बा होता है। (और) जो अर्थ को जानता है, (वह) सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है।

देखना यह है कि वेदार्थ समझने और उसके अनुसार व्यवहार करने से कल्याण कैसे होगा। मैं इसका कुछ दर्शन कराना चाहता हूँ। परन्तु उससे पूर्व मैं एक-दो बातें मध्यकालीन वेद के भाष्यकारों के विषय में लिख देना चाहता हूँ। वेद के इन व्याख्याकारों के कारण वेद-सम्बन्धी मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई है।

भारत में एक काल ऐसा आया कि तपस्या का मिथ्या अर्थ लगाकर फलदायक कर्म से हीन बनना अधिक हितकर समझा जाने लगा था। इस प्रकार की कई कथाएँ प्रचलित हो गईं कि अमुक व्यक्ति एक टाँग पर दस वर्ष तक खड़ा रहा और महात्मा कहाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे ने कहा कि अमुक ऋषि पेड़ों से उलटे होकर टँगे रहे और सिद्धि पा गए।

तपस्या का यह अर्थ नहीं था। इससे लोगों ने यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना छोड़कर शरीर को कर्महीन और सामर्थ्यहीन बनाना ही तपस्या मान लिया।

सिद्धार्थ (बुद्ध) को भी कोई गुरु मिले तो वह उसे भूखे रहकर जीवन व्यतीत करना ही तपस्या बता गये। उन (बुद्ध) को समय पर ही ज्ञान हो गया कि यह तपस्या नहीं है।

इस मिथ्या तपस्या के प्रचार से भारतीयों ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए समय व्यय करना व्यर्थ समझा और शरीर को हीन तथा क्षीण करने में ही सब प्रयास लगा दिए। परिणाम यह हुआ कि वेद-जैसा विस्तृत ज्ञान का मूल स्रोत समीप होते हुए भी वे वेद को भूल गये। वेद के ज्ञाताओं का अभाव हो गया।

इसके साथ एक अन्य रोग मध्यकालीन विद्वानों को लग गया। वह रोग वेदान्त का था। वेदान्त मत जैसा शंकराचार्य के ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है, उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं और कर्म मनुष्य को इस लोक में बाँधता है। अच्छे अथवा बुरे दोनों प्रकार के कर्म संसार में बाँधते हैं।

इस कथन का परिणाम यह हुआ कि लोग भूल गए कि अच्छे कर्म यदि ज्ञानयुक्त हों तो मोक्ष दिलानेवाले होते हैं, और ज्ञान किसी से प्राप्त करने से मिलता है। वेद भी तो परमात्मा के दिए ज्ञान के ग्रन्थ हैं। ज्ञान मनुष्य में स्वतः उत्पन्न नहीं होता। इसके लिए भगवद्‌गीता में विस्तार से कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—भ० गीता० ४-३४, ३५, ३६, ३७

इन श्लोकों का अर्थ है—भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम कर सेवाभाव से प्रश्न पूछकर ज्ञान की जिज्ञासा करो तो तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन ज्ञान का उपदेश करेंगे।

उस ज्ञान को पाकर पुनः मोह को प्राप्त नहीं होवोगे और उस ज्ञान से अपने में (अपने समीप) सब भूतों को देखोगे (क्योंकि) उनमें मैं ही दिखाई दूँगा।

यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाले हो, तो भी ज्ञानरूपी तरनी से पाप-सागर को पार कर जाओगे।

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान की अग्नि सब कर्मों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भस्म कर देगी।

ज्ञान की बहुत महिमा है। ज्ञान क्या है? यह वेद में लिखा है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद में क्या लिखा है? उसके विषय में महर्षि स्वामी दयानन्द ने और अन्य विद्वानों ने कहा है कि वेद के छः अंग हैं और छः उपांग हैं।

अंग वेद में लिखे विषय के भाग हैं और उपांग वेद में लिखे ज्ञान की रक्षा के लिए मनुष्यकृत ग्रंथ हैं।

मनुष्य-शरीर के अंग, शरीर का भाग ही होते हैं और एक अंग के न होने से शरीर अपंग हो जाता है। इसी प्रकार वेद के छः अंग वेद का स्वरूप ही हैं। ये छहों परस्पर ग्रथित हैं।

छः उपांग तो वैसे ही ज्ञान की रक्षार्थ हैं जैसे शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र-मकानादि वस्तुएँ होती हैं।

छः अंग हैं—शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण और निरुक्त।

छः उपांग हैं—पूर्व-मीमांसा दर्शन, उत्तर-मीमांसा दर्शन, सांख्यदर्शन, वैशेषिक दर्शन, न्यायदर्शन और योगदर्शन।

अंग मूल रूप में वेद में हैं और उपांग वेद का अंग न होते हुए भी वेद की रक्षा के लिए लिखे गये हैं।

इन सब अंगों-उपांगों पर आचार्यों ने विशिष्ट ग्रंथ भी लिखे हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वेद में दिये मूल ज्ञान के विपरीत अंगों-उपांगों में कहीं कुछ आ जाए तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहाँ कहीं वेद में और उनके अंगों पर लिखे अथवा उपांगों के ग्रंथों में अन्तर दिखाई दे तो वेद को प्रमाण माना जाता है। वेद-कथन इन अंगों-उपांगों पर लिखे ग्रंथों के कथन की एक स्वतन्त्र परीक्षा भी है। वह परीक्षा है आधारयुक्त तर्क। वेदार्थ अथवा वेद-विषय पर लिखे ग्रंथ के अर्थों की परीक्षा में निरुक्त यह कहता है—

....अयं मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।
न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।

—निरुक्त १३-१२

अर्थात्—इस प्रकार मन्त्रों के अर्थ विचार करने की ऊहः (जिज्ञासा) दिखाई दी। चाहे श्रुति-प्रमाण से, चाहे तर्क से, प्रसंग का नाश करके नहीं, निर्वचन करना चाहिए। प्रकरण के अनुकूल निर्वचन करना चाहिए।

यह वेदों के अर्थ करने के विषय में कहा गया है। वास्तव में वेद-सम्बन्धी ग्रंथों की यही प्रक्रिया है, जिससे अर्थ समझे जा सकते हैं। यहाँ तर्क के विषय में बता देना चाहिए। कुछ लोग तर्क को भ्रम-मूलक समझते हैं। परन्तु देखा जाय तो दर्शनशास्त्र इस तर्क के आधार पर ही वेद तथा वैदिक ज्ञान की सिद्धि करते हैं। परन्तु उस तर्क में एक शर्त है, वह यह है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ।

—ब्र० सू० २-१-११

(तर्क अप्रतिष्ठानात् अपि) तर्क भी अप्रतिष्ठित होने से [प्रभावित नहीं]। (अन्यथा अनुमेयं इति) नहीं तो अनुमान-प्रमाण [असिद्ध हो जायेगा] (चेत् एवम्) यदि ऐसा कहेंगे तो (अविमोक्षप्रसङ्गः) [अर्थ जानने में] मोक्ष [सफलता] न मिलने की अवस्था हो जायेगी।

इसका अभिप्राय यह है कि तर्क प्रतिष्ठित ही होना चाहिए। अप्रतिष्ठित तर्क भी अर्थ जानने में बाधा खड़ी कर देगा।

प्रतिष्ठित तर्क के अर्थ सांख्यदर्शन ने इस प्रकार समझाये हैं—

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते । (१-५९)

(युक्तितः अपि) युक्ति से भी (न बाध्यते) बाधा नहीं होती [ज्ञान प्राप्त करने में] (दिङ्मूढवत् अपरोक्षात् ऋते) जैसे प्रत्यक्ष के बिना दिशा भूल गया मनुष्य होता है, वैसे ही युक्तिविहीन मनुष्य होता है।

और युक्ति का आधार प्रत्यक्ष कैसे सहायक होता है? वह दर्शनाचार्य कपिल अगले सूत्र में कहते हैं—

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः । (१-६०)

अर्थात्—(अचाक्षुषाणाम्) जो इन्द्रियों का विषय न हो (अनुमानेन बोधो) इसका अनुमान से ज्ञान होता है। (धूमादिभिः वह्नेः इव) जैसे धूमादि देखने से अग्नि का ज्ञान होता है।

यह आधारयुक्त युक्ति है। इसको सांख्याचार्य 'अनुमान' कहता है।

मैंने यह बताया है कि वेद के छः अंग हैं। इनमें से तीन अंग विद्याओं का वर्णन करते हैं और तीन भाषा के विषय में कहे हैं।

वेद की विषय-वस्तु तो तीन ही हैं। तीन में ही संसार के सब तत्त्वों का वर्णन आ जाता है। तीन विषय हैं—शिक्षा, कल्प तथा ज्योतिष।

(१) **शिक्षा** का अभिप्राय है जिससे मनुष्य को मनुष्य बनकर उसे संसार में रहने का ढंग बताया जाये।

यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिए कि कुछ लोग शिक्षा का अर्थ वेद को समझने की विद्या कहते हैं। मेरा उनसे मतभेद है। शिक्षा का अर्थ है मनुष्य को संसार में व्यवहार का ज्ञान कराना। यह मुख्यतः यजुर्वेद का विषय है।

यजुर्वेद में मनुष्य के व्यवहार के विषय में ही बताया है।

(२) **कल्प** का अर्थ है सृष्टि की रचना। इसमें सृष्टि-निर्माण, सृष्टि के चलने और अन्त में सृष्टि के प्रलय का वर्णन है। इसमें ही पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का मूल आ जाता है। वर्तमान युग की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब मूल रूप में वेद में हैं। इनका वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।

(३) **ज्योतिष** विषय मूल रूप में अथर्ववेद में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद के अन्य तीन विषय छन्द, व्याकरण और निरुक्त तो वेद की वर्णन-शैली के विषय में ही हैं।

छः उपांग वेद के पूर्वोक्त विषयों को युक्ति से प्रकट करने का प्रयास हैं। जो कुछ सिद्धांतात्मक रूप में वेद में कहा है, उसको तर्क द्वारा दर्शनशास्त्रों में सिद्ध किया गया है।

उदाहरण के रूप में ज्योतिष और यजुर्वेद का विषय पूर्व-मीमांसा दर्शन में वर्णित है। कल्प के विषय का वर्णन उत्तर-मीमांसा (ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन) और सांख्यदर्शन में मिलता है। वैशेषिक दर्शन भी कल्प विषय की एक शाखा का ही वर्णन करता है। न्यायदर्शन में तो तर्क करने का ढंग बताया है और योगदर्शन में मन, बुद्धि तथा शरीर को सुचारु रखने और इससे लाभ उठाने का वर्णन है।

ब्राह्मण ग्रंथ तथा उपनिषद्

यहाँ थोड़ा-सा ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के विषय में भी कह दिया जाये तो अच्छा होगा।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेकानेक वैदिक विषयों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। यह साहित्य का एक बहुत विशाल भण्डार है। फिर भी ये ग्रन्थ मानवकृत हैं। ये उस प्रकार ऋषियों को प्रस्फुरित नहीं हुए जैसे वेद-मन्त्र हुए थे। ये ग्रन्थ वेद-मन्त्रों की व्याख्या करने के लिए हैं। ऋषियों ने जैसा उन्हें समझा वैसा कहा है।

प्राचीन ग्रन्थों में ब्राह्मण और मन्त्र शब्द पर्यायवाचक नहीं माने गये।

सायण कहता है—जो परम्परा से मन्त्र नहीं, वह ब्राह्मण है। और जो ब्राह्मण नहीं, वह मन्त्र है।[1]

इसी प्रकार स्कन्द स्वामी लिखते हैं—

तथा 'अमीमदन्त पितरो यथा भागमावृषायिषत' इत्यस्य 'यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाहे' इति शतपथब्राह्मणे विवरणात्··· (ऋ० १-३२-३)

स्वामी दयानन्द का भाव इसमें स्पष्ट है। वह कहते हैं—

ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि।

—अनुभ्रमोच्छेदन (सं० १९३७), पृ० ६

अर्थ है—ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों की व्याख्या के लिए हैं, वे वेद नहीं हैं।

कुछ मध्यकालीन विद्वान् ब्राह्मणों को वेदों का भाग मानते थे, परन्तु ब्राह्मण मनुष्यकृत होने से वेद नहीं हो सकते।

ऐतरेय ब्राह्मण २९-९ में एक पद है—**दूरोहण रोहति तस्योक्तं ब्राह्मण।**

दूरोहण यज्ञ जो स्वर्ग में ले जाता है, वह ब्राह्मण है।

---

१. सायण : ऋग्वेद भाष्य भूमिका उपोद्घात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम दो खण्ड भी यज्ञों के विषय में ही हैं।

जिस प्रकार का यज्ञ इन ब्राह्मणों में वर्णन किया गया है वैसा वेदों में नहीं है। वेदों में यज्ञ का अर्थ है किसी प्रकार का लोक-कल्याण का कार्य। जब प्राकृतिक वस्तुओं को विज्ञान और शिल्प (science & technology) से उपयोगी बनाया जाए तो वेद के अनुसार यह भी यज्ञ होगा।

सृष्टि-रचना को भी यज्ञ-कार्य कहते हैं। इसके अनुसार संतान उत्पन्न करना भी यज्ञ ही माना जाता है। परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का अर्थ होम किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदों को समझाने का भी यत्न किया है। उदाहरणार्थ एक मन्त्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥ —ऋ० २-१२-१

इस सूक्त का देवता इन्द्र है और इन्द्र का ही अर्थ इसमें बताया है। अर्थ है—(यो जातः प्रथमः) जो पहले उत्पन्न हुआ (मनस्वान् देवः) मन-शक्ति को रखनेवाला देव था, (क्रतुना देवान् पर्यभूषत्) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को बनानेवाला और सुन्दर रूप देता है। (यस्य नृम्णस्य मह्ना शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्) जिसके महान् धन [शक्ति] के भय से पृथिवी और आकाश काँपते हैं, वह इन्द्र जानो।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना के समय इन्द्र देवता सबसे पहले उत्पन्न हुआ। यह संसार के देवताओं का निर्माण करता है और उनको सुन्दर बनाता है। इसके महान् भय तथा सामर्थ्य से पृथिवी और आकाश भयभीत रहते हैं।

अब इसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में की है। वहाँ कहा है—

असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः॥

स योऽयं मध्ये प्राणः। एषऽएवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यतऽ इन्द्रियेणैन्द्ध तद्वैन्द्ध तस्मादिन्धऽ इन्धो ह वै तमिन्द्रऽ इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः प्राणाः सप्त पुरुषानसृजन्त॥ —शत० ६-१-१-१,२

अर्थ हैं—पहले यह असत् (अस्वरूपवान् अथवा अव्यक्त) ही था। तब कहते हैं कि वह अव्यक्त क्या था? वह अव्यक्त ऋषि ही थे। तब कहते हैं कि वे ऋषि कौन थे? प्राण ही वे ऋषि थे जिन्होंने सबसे पहले इस सृष्टि को चाहा। श्रम तथा तप किया तो खिन्न हो गये। इस कारण उनका नाम ऋषि हुआ।

यह प्राण ही मुझमें इन्द्र है। इसी इन्द्र ने अपने इन्द्रिय अर्थात् पराक्रम से इन प्राणों को दीप्त किया। दीप्त करने से 'इन्ध' (दीप्ति करनेवाला) नाम पड़ा। उसी दीप्त करने वाले को इन्द्र कहते हैं। इन्द्र परोक्ष (छुपा अथवा अदृश्य) है। देव परोक्षप्रिय होते हैं। दीप्त हुए इन प्राणों ने सात पुरुष उत्पन्न किये।

अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना के समय पहले इन्द्र उत्पन्न हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह परमात्मा का तेज है जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ था। प्रकृति के अव्यक्त स्वरूप का अभिप्राय है परमाणु। ये ऋषि कहे जाते हैं। ये ऋषि ही प्राण थे। प्राण का अभिप्राय सत्त्व, रजस्, तमस् से है।

सांख्यदर्शन में कहा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सां० १-६१

अभिप्राय यह है कि प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था का नाम है। इन सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति के अंशों ने ही सृष्टि की रचना आरम्भ की। परंतु कैसे की? यह ब्राह्मण-ग्रन्थ इस प्रकार वर्णन करता है—इन्द्र इन सबमें परोक्ष (छुपकर) बैठा हुआ था, सब परमाणुओं में, क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब परमाणुओं में उपस्थित था और इन्द्र परमात्मा की शक्ति होने से वहाँ था। उस इन्द्र ने श्रम और तप से प्राणों (ऋषियों) को तप्त किया और दीप्त कर दिया।

तब प्राण अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् जाग पड़े और रचना-कार्य करने लगे।

वेद कहता है कि इन्द्र वह देवता है जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ और जगत् के देवताओं के उत्पन्न करने और उनको विभूषित करने में सफल हुआ।

शतपथ ब्राह्मण में बताया है कि वह परमात्मा का तेज है जिसने परमाणु की साम्यावस्था भंग कर रचना-कार्य आरम्भ किया था।

परमात्मा की भाँति उसका तेज परमाणु में परोक्ष में था और परोक्ष में रहकर ही कार्य करता है।

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद की व्याख्या भी करते हैं। परन्तु यज्ञों की अपनी विशिष्ट प्रक्रिया निर्माण कर उन्होंने भ्रम ही फैलाया है।

यज्ञ का अभिप्राय है संसार का कोई भी कार्य जो सबके कल्याण के लिए हो। इस विषय में एक वेद-मन्त्र है—

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥ —यजु:० १-३

अर्थात्—(वसोः पवित्रमसि शतधारम्) यज्ञ सैकड़ों विधियों से पवित्र करनेवाला है। (वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्) यज्ञ सहस्रों उपायों से पवित्र करनेवाला है। (देवः सविता त्वा पुनातु) सूर्य देवता उस [यज्ञ] को पवित्र करे। (वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः) सफलतापूर्वक पवित्र करनेवाले यज्ञ सैकड़ों धाराओं से हमारी कामनाओं को पूर्ण करें।

इस मन्त्र में सूर्य से प्राप्त ऊर्जा से श्रेष्ठ कर्म करने का संकल्प किया गया है। वसु के अर्थ शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ किये हैं। (यज्ञो वै वसुः—शत० १-५-४-२)

यहाँ इस मन्त्र में कहा है कि सैकड़ों-सहस्रों विधियों से यज्ञ (निःस्वार्थ भाव से किया कर्म) लाभ और सुख पहुँचाता है। हम जो विविध कर्म इस संसार में करते हैं, वे कार्य सूर्य की सहायता से सफल होते हैं। क्योंकि कार्य करने की सामर्थ्य सूर्य द्वारा ही इस पृथिवी पर प्राप्त होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे कहा है—

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागँ्सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यँ्रक्ष॥ —यजुः० १-४

(सा विश्वायुः) वह अर्थात् यज्ञ सम्पूर्ण आयु का देनेवाला है। (सा विश्वकर्मा) वह सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। (इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेन आ तनच्मि) उस परमात्मा के तेज (शतपथ १-६-१-१ के अनुसार) को शांति से हृदय में स्थित करता है। (विष्णो हव्यं रक्ष) हे सर्वव्यापक परमेश्वर, मेरे यज्ञ के साधनों की रक्षा करो।

वह सम्पूर्ण प्राणियों की (अर्थात् जगत् की) आयु को और इस संसार में होनेवाले सम्पूर्ण कामों को सिद्ध करनेवाला और सबको धारण करनेवाला है। यह सब वह कैसे सम्पन्न करता है, इसका भी रहस्य बताया है। कहा है कि इन्द्र (ईश्वर का तेज) का एक अंश ही है जो सूर्य में प्रकट हो रहा है। उस तेज की शक्ति से मैं सामर्थ्य ग्रहण करूँ। सर्वव्यापक परमात्मा जिसके तेज से सूर्य के द्वारा इस पृथिवी पर हो रहा यज्ञ सफल हो रहा है वह इसमें साधनों की रक्षा करे।

यज्ञ की यह व्याख्या जो मैंने की है यजुर्वेद के मन्त्रों से स्पष्ट होती है।

मेरा यह मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहाँ वेद के कुछ जटिल प्रश्नों पर व्याख्या है, वहाँ यज्ञ के एक विशेष रूप का भी वर्णन है।

इससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं। जब यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र ही ग्रहण किया गया तो श्रौत-सूत्रों में नवग्रह की पूजा आरम्भ हो गई। वेद में भी नवग्रहादि की पूजा घुसा दी गई।

अग्निवेश गृह्य सूत्र-५, वैखानस गृह्य सूत्र ४-१३-१४-१, बोधायन गृह्य सूत्र शेष १६, १७ इत्यादि में नवग्रह-पूजा आ गई।

इस प्रकार मन्त्रों के यज्ञ-कर्म के साथ विनियोगवाले मन्त्रार्थ भ्रष्ट हुए। 'शन्नो देवी' से शनिश्चर की पूजा और 'उद्बुध्यस्वाग्ने' से बुध की पूजा मानी गयी।

इसका यह भी परिणाम हुआ कि कई काल्पनिक मन्त्रों की सृष्टि हुई। साथ ही मन्त्रों के मिथ्या विनियोग किए गए। मन्त्रार्थ कुछ हैं और क्रिया कुछ होती है।

अतः मेरा यह कहना है कि वेद से हटकर जो कथन हैं, उनको स्वीकार करने के लिए बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

उपनिषद्

भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता—तीनों को 'प्रस्थान त्रयी' कहा है। 'प्रस्थान त्रयी' का अभिप्राय है उत्कृष्ट ज्ञान के तीन स्थान (ग्रन्थ)।

ज्ञान क्या है?

ब्रह्म सूत्र में कहा है—"**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।**" अर्थात् जो सर्वत्र (सब स्थान पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्ध है उसके कथन से (ज्ञान की उपलब्धि है)।

इस संसार में सब जगह क्या प्रसिद्ध है? निःसन्देह यह जगत, जो चलता हुआ अपने चारों ओर दिखाई देता है, सुनाई दे रहा है, चला जा रहा है, स्पर्श किया जा रहा है अथवा सूँघा जा रहा है। वह ही सब स्थान पर प्रसिद्ध है। इस जगत् से ही ज्ञान प्राप्त होता है और वह ज्ञान सत्य ही है।

जगत् को उपनिषत्कारों ने सत्य ही कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य की विशद व्याख्या की गई है। उसका निष्कर्ष है—**'आप एवदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त ब्रह्म प्रजापतम्**—(५-५-१) यह (कार्य जगत्) पहले आपः ही था। उस आपः से सत्य की रचना की गई। अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति की रचना की—

अतः सर्वत्र प्रसिद्ध यह जगत् है और ब्रह्मसूत्र कहते हैं कि इसके कथन से परम ब्रह्म (वेद) का ज्ञान प्राप्त होता है।

यदि यह ठीक है तो 'प्रस्थान त्रयी' में इसी जगत् के ज्ञान का उल्लेख होना चाहिए। हमारा विचार है कि यही (जगत् का ज्ञान) इन तीनों ग्रन्थों में वर्णित है।

स्वामी शंकराचार्य जगत् को मिथ्या मानते हैं जबकि बृहदारण्यक उपनिषद् में जगत् को आपः से बना हुआ कहा है।

परन्तु जगत् क्या है?

इसका वर्णन 'ब्रह्मसूत्र' में भली प्रकार किया गया है। एक दूसरे ढंग से और एक दूसरे ही उद्देश्य से उसी की व्याख्या भगवद्गीता में की गई है और हमारा यह निश्चित मत है कि उपनिषदों में भी उसी अर्थात् जगत् की ही व्याख्या है। जगत् ही सत्य है और सत्य की व्याख्या ही परम ज्ञान है।

जगत् क्या है इसकी वेद में बहुत सरल ढंग से व्याख्या कर दी गई है। वहाँ कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभि चाकशीति।।

(ऋ० १-१६४-२०)

सब उपनिषदों का सामूहिक (ण्दत्तमून) निष्कर्ष यही है कि जगत् सत्य है। इसका ज्ञान ही सत्य ज्ञान है और इस जगत् में तीन अक्षर पदार्थ प्रतिष्ठित हैं। इन तीन अक्षरों के अतिरिक्त ब्रह्म के जाननेवाले भी इस परम सत्य में उपस्थित हैं। वह परम सत्य परम ब्रह्म है।

श्वेताश्वनर उपनिषद् में कहा है—र्ख्वेसर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।।६।।
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।। (१-६,७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है—सब जीव उस बड़े (जगत रूपी) चक्र में स्थित हैं। यहाँ जीव से अभिप्राय प्राणी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा का संयोग प्राणी है। जीवात्मा (इससे यही अभिप्राय है) इस ब्रह्म-चक्र में भ्रम में फँसा हुआ है। इस जगत् को ब्रह्म-चक्र कहा है इस (ब्रह्मचक्र, प्राणी और जीवात्मा) से पृथक् एक अन्य आत्मतत्त्व है। जीवात्मा यदि उसे प्रेरक मान उसमें लीन हो जाता है तो वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। (ऐसा जीव ब्रह्मलीन कहता है।)

सत्य ज्ञान का मूल वेदों में है। मूल का अभिप्राय संक्षेप में पूर्ण वृत्तान्त। अतः वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व) जगत् के ज्ञान के ग्रन्थ हैं।

जगत् सत्य है। सत्य का ज्ञान वेद में है और वेद कहता है कि दो आत्मतत्त्व प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे हैं। एक उस वृक्ष के फल खाता है और दूसरा साक्षीमात्र देखता है (ऊपर दिए वेदमंत्र में यही कहा है)।

वेदों से लेकर भगवद्गीता-पर्यन्त सभी में इसी सत्य परम ब्रह्म के ज्ञान का वर्णन है। गीता उपनिषद् रूपी गउओं का दुहा हुआ दूध मानी जाती है। परन्तु हम समझते हैं कि उपनिषद् स्वयं वेदों के एक अंशमात्र का ही व्याख्यान हैं। वेद में उपनिषों से बहुत अधिक हैं। उपनिषद्कार किसी कारण से वेद के एक अंश का ही वर्णन कर सके हैं। इस पर भी हमारा मत है कि उपनिषद् भी तीन अक्षरों का वर्णन करते हैं और कार्य-जगत् तीनों अक्षरों के मिले-जुले कार्य का परिणाम है।

मुण्डकोपनिषद् में तीनों अक्षरों का वर्णन है। ऐसा ही अन्य उपनिषदों में है। यदि यह कहा जाए कि उपनिषदों में केवल परमात्मा का ही वर्णन है, तब ऐसा कहना पड़ेगा कि ऐसा कहने वालों को उपनिषद् का भाव ही समझ नहीं आया।

ईशावास्योपनिषद् में भी है तो तीनों अक्षरों का वर्णन, परन्तु यह उपनिषद् बहुत ही छोटा होने से तीनों अक्षरों का इसमें सन्तुलित वर्णन है। परमात्मा का वर्णन तो विशेष है और अन्य का संकेतमात्र है। स पर भी है तीनों का वर्णन।

वस्तुस्थिति यह है कि ईशावास्योपनिषद् में केवल १८ मन्त्र है और यह यजुर्वेद का एक छोटा-सा अध्याय है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के १७ मन्त्र हैं और इस उपनिषद् के प्रवक्ता ने यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के सत्रह मन्त्रों के साथ एक मन्त्र और मिलाकर उस उपनिषद् में १८ मन्त्र दिए हैं। यजुर्वेद के इस अध्याय के प्रथम मन्त्र का प्रथम पद है 'ईशावास्यम्'। इसी पद से इस उपनिषद् का नाम ईशावास्योपनिषद् है। एक मन्त्र क्या और क्यों मिलाया गया है, इसकी विवेचना यहाँ आवश्यक नहीं। इस पर भी पूर्ण उणनिषद् जहाँ यजुर्वेदे का उपसंहार कहा जा सकता है, वहाँ रचित जगत् का बहुत संक्षिप्त वर्णन करता है।

ब्रह्म तीन हैं। ब्रह्म का अर्थ है अति महान् पदार्थ। ये तीनों अद्वितीय अपने में एक ही हैं। ये अजन्मा, अक्षर और अतिसूक्ष्म (अव्यक्त) हैं। इन तीनों के संयोग से ही जगत् बनता है। अक्षर हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी बात को प्रकट करने के लिए हमने एक वेदमन्त्र ऊपर दिया है। यही मन्त्र (ऋ० १-१६४-२०) कम-से-कम दो अन्य उपनिषदों में ज्यों-का-त्यों आता है, यानी मुण्डकोपनिषद् में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में। अभिप्राय यह है कि वेदों से ही उपनिषत्कारों ने इस मन्त्र को लिया है। वेद उपनिषदों से बहुत पहले के कहे गए ग्रन्थ हैं। इस कारण यह मन्त्र (द्वा सुपर्णा—१-१६४-२०) वेद से ही लिया गया है।

यजुर्वेद का मुख्य विषय कर्म है। अर्थात् मनुष्य को जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए। उस पूर्ण शिक्षा का उपसंहार ही यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में दिया गया है और यही ईशावास्योपनिषद् है।

शिक्षा

शिक्षा का मूल यजुर्वेद में है और पूर्व-मीमांसा दर्शन में इस पर तर्क किया गया है।

शिक्षा का आशय है मनुष्य को यह ज्ञान कराना कि इस संसार में किस प्रकार रहना चाहिए।

प्रश्न है कि मनुष्य को ही क्यों यह ज्ञान कराना, इतर जीव-जन्तुओं को क्यों नहीं?

पृथिवी पर जितनी भी प्राणी-योनियाँ हैं, सबमें केवल मनुष्य ही वह योनि है जो अपने कर्मों की स्वयं अधिकारिणी है। अन्य योनियाँ सम-योनियाँ कहाती हैं, अर्थात् उन योनियों में किए कर्म अपने अधीन नहीं होते। भूख लगती है तो खाना खा लेते हैं। प्यास लगती है तो पानी पी लेते हैं। यदि भूख-प्यास लगने पर भी खाने-पीने को कुछ नहीं मिलता तो विवश होकर मुख देखते रहते हैं; कुछ कर नहीं सकते। क्योंकि, कर्म करने में केवल मनुष्य ही स्वतन्त्र है।

यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र ही इस विषय में चमत्कारक है। मन्त्र इस प्रकार है—

इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्राय भागं प्रजावतीरनीवाऽ अयक्ष्मा मा व स्तेनऽ ईशत माघशँ् सो ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ —यजुः० १-१

इस मन्त्र का देवता (विषय) है सविता (सूर्य)। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(त्वा ऊर्ज्जे त्वा इषे वायवः स्थ) तुम्हारी दी हुई ऊर्जा और तुम्हारा दिया हुआ अन्न क्रियाओं का सिद्ध करनेवाला (वः) हमें (देवः सविता प्रार्पयतु) सविता देवता संयोजन [निर्माण] करे। (श्रेष्ठतमाय कर्मण) श्रेष्ठ कर्म करने के लिए। (आप्यायध्वम् अघ्न्याः) जो अघ्न्य है वह उन्नति को प्राप्त हो। (इन्द्राय भागं प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्मा) सामर्थ्य का भाग प्रजाओं को प्राप्त हो, वे नीरोग हों और ज्वर से रहित हों। (मा वः स्तेनः मा ईशत) हममें चोर-डाकू और पापी न हों। (सः ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात वह्वीः यजमानस्य पशून् पाहि) वह [सविता] हममें स्थिर रक्षक हो जाए और गृहस्थियों के पशुओं की रक्षा करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने सूर्य से दो पदार्थ इस पृथिवी पर दिए हैं—एक ऊर्जा और दूसरा अन्न। अन्न भी सूर्य से प्राप्त ऊर्जा से ही संपुष्ट होता है।

अन्न में दो तत्त्व मुख्य हैं—कार्बोहाइड्रेट (स्टार्च इत्यादि) और प्रोटीन। ये दोनों पदार्थ पेड़-पौधों में सूर्य-रश्मियों से बनते हैं। यदि पेड़-पौधों पर सूर्य-रश्मियाँ न पड़ें तो ये नहीं बन सकते। सब प्राणियों का जीवन इन दो पर ही निर्भर करता है।

इस मन्त्र में कहा है कि देव सविता द्वारा अन्न और ऊर्जा से हम और हमारे अघ्न्य पशुओं (पालतू जानवरों) का रक्षण हो। साथ ही कहा है कि हममें जो प्राणशक्ति ऊर्जा से आती है, उससे हम धर्मकार्य करें जिससे हमारा यश और हमारी कीर्ति बढ़े।

शिक्षा में कर्म का प्रथम पाठ यही है कि कर्म करने की शक्ति परमात्मा से सूर्य के द्वारा हमें प्राप्त होती है। हम उसका सदुपयोग करें।

पृथिवी पर विद्युत्, अग्नि तथा अन्य शक्ति का स्रोत भी केवल सूर्य ही है। कोयला और तेल में भी शक्ति सूर्य से ही संचित होती है।

और सूर्य की शक्ति का संचय-स्थान कहाँ है? यह कहा जाता है कि सूर्य पर हाइड्रोजन के ऐटम (परिमण्डल) संयुक्त होकर हीलियम के परिमण्डल बना रहे हैं और उनसे शक्ति निकलती है। उनका संयुक्त होना भी तो किसी के करने से ही होता है। वह कौन है? कहा है कि वह परमात्मा का तेज है, जिससे यह हो रहा है।

इस प्रकार सब कर्मों का स्रोत शक्ति और शक्ति का स्रोत सूर्य अर्थात् परमात्मा बताकर कर्म की व्याख्या आरम्भ की।

वेद के कुछ मन्त्र वसु के सम्बन्ध में हैं। वसु का अर्थ सामान्य भाषा में यज्ञ है। यज्ञ की व्याख्या यह की गई है—वह सब कार्य जिससे मनुष्यमात्र को लाभ हो, उसे यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ-कर्म में परमात्मा के सृष्टि-रचना-कार्य से लेकर मनुष्य के नित्य जीविकोपार्जन तक के सब कर्म आ जाते हैं। शर्तें दो हैं कि सब कार्य लोक-हित में हों और उनसे किसी को हानि न पहुँचे।

निर्माण कर्म से होता है। इसे सामान्य भाषा में प्रयत्न अर्थात् काम कहते हैं। यजुर्वेद में कहा है कि जिस कार्य से प्राकृतिक पदार्थों से उपयोगी पदार्थ निर्माण हों, वह कार्य यज्ञ है।

उदाहरण के रूप में कोई हल चलाकर और भूमि में बीज डाल अन्न उत्पन्न करता है, वह यज्ञ करता है। इसी प्रकार कोई कच्चा लोहा लेकर उससे लोहे के गार्डर-सलाखें इत्यादि बनाता है तो वह यज्ञ करता है। कोई अन्य चूना-सीमेंट-ईंटें इत्यादि बनाता है तो वह भी यज्ञ करता है।

इस प्रकार एक छोटे-से-छोटा कार्य अर्थात् मोची तथा भंगी के कार्य से लेकर सुन्दर भूषण अथवा वस्त्र बनानेवाला तक के सब कार्य यज्ञ होते हैं। इसमें केवल एक बन्धन होता है। वह यह कि कर्म करने में लोक-हित की भावना रहे। तब ही वह यज्ञ होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यथा यह स्वार्थ है। कई लोग स्वार्थ के कार्य को असुर-यज्ञ कहते हैं। वैसे शास्त्रों में तो केवल उसी कर्म को यज्ञ कहा है जिससे अधिक-से-अधिक लोगों का हित सिद्ध हो सके।

ऐसा कार्य करता हुआ मनुष्य जब उसमें से अपने परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक ले, तब ही उसका कार्य यज्ञ के लक्षणों में आता है।

यजुर्वेद में एक अन्य मन्त्र में कहा है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ —यजु:० १-५

अर्थात्—(अग्ने) हे शक्ति-स्वरूप परमात्मा! (व्रतपते व्रतं चरिष्यामि) तू व्रतों का स्वामी है, मैं भी व्रत कर रहा हूँ। (तत् शकेयम् तत् मे राध्यताम्) उस व्रत-पालन की मुझमें शक्ति हो (मैं उसे पूर्ण कर सकूँ)। (इदम् अहम् अनृतात् सत्यं उप एमि) इस व्रत-पालन करने से मैं अनृत से सत्य को प्राप्त होऊँ।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब इस संसार-संघर्ष में सम्मिलित हो तो शक्तिस्वरूप परमात्मा से प्रार्थना करे कि वह अब इस गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने लगा है। इसे वह सफलतापूर्वक पालन कर सके। ऐसा व्रत करे—हे परमात्मा, मैं इस संसार में जीवन का व्रत पालन कर सकूँ और इस व्रत का पालन करता हुआ अनृत को छोड़कर सत्य का पालन कर सकूँ।

वेद का यह कथन उन युवा दम्पती के लिए है जो विवाह के उपरान्त गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि दम्पती जीवन आरम्भ करने के समय दो अग्नियों में खड़ा होकर पूर्वोक्त व्रत ले।

दो अग्नियों का अभिप्राय भी वहाँ कहा है। एक गार्हस्पत्य अग्नि है और दूसरी है आहवनीय। अग्नि का अभिप्राय है दम्पती की सामर्थ्य।

वेद अपने प्रथम मन्त्र में कह चुका है कि प्राणी की शक्ति परमात्मा की ही दी हुई है। परमात्मा सूर्य के द्वारा पृथिवी पर अपनी शक्ति की वर्षा कर रहा है। वही शक्ति मनुष्य की इन्द्रियों में, प्राण का सूक्ष्म कार्य करती है।

शतपथ ब्राह्मण का यही अभिप्राय है कि इस शक्ति को दो भागों में बाँटकर मनुष्य उसके बीच में खड़ा होकर व्रत ले।

और फिर एक बात कही है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर॥ —यजु:० ४०-१५

अर्थात्—[मरने पर] (वायुः अनिलम् अमृतम्) वायुः अग्नि और अमर जीवात्मा [पृथक्-पृथक् हो जाते हैं] (अथ इदम् भस्मान्तम् शरीरम्) और यह शरीर भस्म हो जाता है। [इस कारण] (क्रतो स्मर) शरीर में जो कार्य करनेवाला है, उसके विषय में जानो [वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा है]। (क्लिबे स्मर) शरीर में जो सामर्थ्य है, उसके विषय में जानो [यह परमात्मा का दिया प्राण है]। (कृतं स्मर) अपने कर्मों का ज्ञान प्राप्त करो। [कर्मफल] जो मनुष्य को धकेलकर अपनी दिशा में ले जाते हैं, उनको जानो।

इस मन्त्र में यह कहा है कि अग्नि और वायु शक्ति के दो रूप हैं जिनसे इस संसार के कार्य चलते हैं। मरने के समय शरीर तो भस्म हो जाता है और इसमें जो दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, वायु अन्तरिक्ष की वायु में और अग्नि अग्नि में मिलकर एकमय हो जाती हैं। मनुष्य-शरीर में दोनों शक्तियाँ काम कर रही होती हैं। वायु प्राण के रूप में कार्य करता है। शरीर की गतियाँ इससे ही सम्पन्न होती हैं। वैसे वायु पाँच प्रकार की होती है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

अभिप्राय यह है कि पाँच प्रकार से वायु शरीर में कार्य करती है और वायु एक शक्ति है। इस कारण वह शक्ति जिससे शरीर में गतियाँ पैदा होती हैं, वायु कहाती है।

एक गति है जिससे हम साँस भीतर ले जाते हैं और फिर साँस बाहर निकालते हैं। यह फेफड़ों के फैलने और सिकुड़ने से होता है। अतः जो शक्ति फेफड़ों को फैलाती है और सिकोड़ती है, वह **प्राण** है।

दूसरी वायु **अपान** है। इससे शरीर में ऊपर की ओर होनेवाली गतियाँ सम्पन्न होती हैं, जैसे डकार आदि का आना।

समान उस वायु को कहते हैं जो नाभि में स्थित होती है।

उदान नीचे को गति देनेवाली वायु को कहते हैं। इससे मल-मूत्र का निष्कासन होता है।

व्यान उस वायु को कहते हैं जिससे रक्त आदि की गति होती है।

ये सब प्राण ही हैं।

अग्नि उस शक्ति को कहते हैं जिससे भोजन पचता है और शरीर के अंग बनते हैं। दूसरे शब्दों में, शरीर में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं को करनेवाली शक्ति अग्नि कहाती है।

यजुर्वेद में यह मन्त्र है जिसे शिक्षा का चरम समझना चाहिये।

कल्प

ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि को कल्प कहते हैं। इस जगत् में, परमाणु की साम्यावस्था भंग होने से लेकर जगत् के पूर्ण होने तक, और फिर विघटन द्वारा अन्त में पुनः परमाणु की साम्यावस्था बनने तक का पूर्ण क्रियाकलाप कल्प कहाता है।

यह एक अति विस्तृत विषय है। इसमें सृष्टि किस प्रकार निर्मित हुई और किस प्रकार यह लाखों वर्षों से चल रही है तथा किस प्रकार से विघटित होती हुई यह अन्त में प्रकृति के अव्यक्त रूप में लय हो जाएगी, इन सबका वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा विचार है कि वेद का अधिकांश भाग कल्प ही है। उसमें अध्यात्म के विषय में बहुत न्यून भाग है। यद्यपि अध्यात्म का विषय भी कल्प के अन्तर्गत है, परन्तु यह कल्प को भी पार कर जाता प्रतीत होता है।

अध्यात्म में तीन अनादि पदार्थ कहे हैं—परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा। परमात्मा एक है। प्रकृति भी एक ही है परन्तु यह कणों (परमाणु-समान टुकड़ों) में विभक्त है। जीवात्मा असंख्य हैं। जब प्रकृति लय की अवस्था में हो जाती है तब भी तो प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा रहते हैं। किस अवस्था में और कहाँ रहते हैं, यह विषय भी कल्प के अन्तर्गत है।

इतने विस्तृत विषय का वर्णन इस छोटे-से लेख में नहीं किया जा सकता, न ही यहाँ स्थान है; और निश्चय ही यह ये सामर्थ्य में भी नहीं है कि मैं इसका पूर्ण ज्ञान दे सकूँ।

इस विषय को समझाने के लिए हम दर्शनशास्त्रों का सहारा लेंगे। मैंने पहले बताया है कि दर्शनशास्त्र वेद को युक्ति से समझाने के लिए लिखे गये हैं और कल्प के विषय में तीन दर्शनशास्त्र अपनी पूर्ण सामर्थ्य से प्रकाश डालते हैं और चौथे दर्शन-शास्त्र में भी कल्प के विषय को सुलझाने का प्रयास किया गया है। वे तीन शास्त्र हैं—ब्रह्मसूत्र (उत्तर-मीमांसा), सांख्य दर्शन और वैशेषिक दर्शन। इन तीनों दर्शनों में कल्प के विषय का वर्णन है। चौथा शास्त्र अर्थात् पूर्व-मीमांसा कल्प में मनुष्य के व्यवहार का वर्णन करता है। यद्यपि विषय सीमित है, फिर भी है कल्प-काल में व्यवहार का ही।

इस एक विषय का निरूपण करने में चार दर्शनशास्त्रों का प्रयत्न, इस विषय की महानता और विशेषता का सूचक है।

विषय का निरूपण हम ब्रह्म से ही आरम्भ करते हैं।

(१) **ब्रह्म**—ब्रह्म शब्द का अर्थ है बहुत बड़ा, अति महिमायुक्त, महान् और अपने में अनिवार्यता का गुण रखनेवाला।

उपनिषदों में कई पदार्थों को ब्रह्म कहा है। वेद, सूर्य, जगत्, वाणी आदि को ब्रह्म के नाम से स्मरण किया है। फिर भी तीन अनादि पदार्थों को निर्विवाद रूप से ब्रह्म कहनेवाला श्वेताश्वतर उपनिषद् है। वहाँ कहा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

—श्वे० १-६,७

अर्थ है—सब जीव उस बड़े (जगत् रूपी) चक्र में स्थित हैं। यहाँ जीव से अभिप्राय प्राणी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा का संयोग प्राणी है। जीवात्मा (इससे यही अभिप्राय है) इस ब्रह्म-चक्र में भ्रम में फँसा हुआ है। इस जगत् को ब्रह्म-चक्र कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस (ब्रह्मचक्र, प्राणी और जीवात्मा) से पृथक् एक अन्य आत्मतत्त्व है। जीवात्मा यदि उसे प्रेरक मान उसमें लीन हो जाता है तो वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है (ऐसा जीव ब्रह्मलीन कहाता है)।

आगे कहा है—ऊपर जो कहा है कि परमब्रह्म (ब्रह्मचक्र) है जिसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं, ये तीन अक्षर हैं—मूल प्रकृति, जीवात्मा और प्रेरणा देनेवाला परमात्मा। इस (ब्रह्मचक्र अथवा परमब्रह्म) में ही, ब्रह्म को जाननेवाले कहते हैं कि ब्रह्म में लीन (युक्त) विचरते हैं।

इन दो मन्त्रों में जगत् को ब्रह्मचक्र कहा है। साथ ही कह दिया है कि इस ब्रह्मचक्र में चार पदार्थ हैं—परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति और ब्रह्मलीन जीव।

आगे इसी उपनिषद् में कहा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा, ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता, त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

—श्वे० १-९, १२

ज्ञानवान् और अज्ञानी, दोनों अजन्मा (अनादि) हैं। ज्ञानवान् शक्तिमय और अज्ञानी दुर्बल है। एक अन्य अजन्मा (अनादि) पदार्थ है जो भोग करनेवाले के लिए भोग का पदार्थ प्रस्तुत करता है। इन रूपोंवाले जगत् में स्थित अनन्त आत्मा हैं। जब ये तीनों जाने जाएँ तो यह ब्रह्म का ज्ञान होता है।

अपने भीतर में सदा स्थित उस (परम तत्त्व देव) के परे अन्य कुछ भी जानने योग्य नहीं। भोक्ता, भोग्य और प्रेरणा देनेवाला, जानो कि यह सब तीन प्रकार का ब्रह्म है।

इन मन्त्रों में यह कहा है कि इस पूर्ण जगत् के मूल तत्त्व तीन ही हैं—जीवात्मा जो भोग करता है, प्रकृति जो भोग में प्रयुक्त होती है, और परमात्मा जो प्रेरणा देनेवाला कहा जाता है—ये तीनों ब्रह्म हैं।

इन तीनों को अनादि तत्त्व माना है।

उपनिषत्कार ने जो विशेष बात कही है, वह ब्रह्म के विषय में है। परमब्रह्म यह पूर्ण संसार और संसार से भी ऊपर जो कुछ है, वह सब है और उस परमब्रह्म में तीन अनादि पदार्थ हैं—परमात्मा जो प्रेरणा देनेवाला है, जीवात्मा जो भोग की लालसा रखता है, तथा मूल प्रकृति जो भोग की सामग्री उपस्थित करती है।

इसको वेद में एक अन्य ढंग से कहा है। ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १-१६४-२०

(द्वा सुपर्णा सयुजा) दो सुन्दर पंखों [गतियों] वाले, साथ-साथ सम्बन्ध और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सखाभाव रखनेवाले (समानं वृक्षम् परि षस्वजाते) एक ही वृक्ष पर समान रूप से आश्रय पाए हुए हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनों में से एक (पिप्पलं स्वादु अत्ति) उस वृक्ष के पके फलों को स्वाद से खाता है। (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) सब ओर से देखता है।

यह है कल्प-मूल।

वेद के एक उपांग ब्रह्मसूत्र में यही बात युक्ति से स्पष्ट की है। वहाँ कहा है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च॥ —ब्र० सू० १-२-१, २, ३, ४

जो सब स्थान और काल में प्रसिद्ध है (जगत्यां जगत्, यजुः० ४०-१) उसके कहे गये गुणों के ज्ञान से (सूर्य, चन्द्र, तारागणों) इत्यादि को देखकर यह पता चलता है कि शरीर के गुण उसमें नहीं। जीवधारी और सूर्य-चन्द्रादि के गुणों में अन्तर है। वह अन्तर है—कर्म और उसके करनेवाला होने से।

इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि इस गतिशील जगत् को, जो हम नित्य देखते और जानते हैं, देखने से यह विदित होता है कि शरीरी अर्थात् जीवधारी का गुण जगत् के सब पदार्थों में नहीं है। शरीरधारी अर्थात् जीव में कर्म करने का गुण है। यह कर्म करता है अपनी इच्छा से। न इच्छा हो तो कर्म नहीं करता। परन्तु सूर्य-चन्द्रादि ऐसा नहीं कर सकते। अतएव इस संसार में शरीरधारी (जीव) संसार से विलक्षण है।

इसके उपरान्त कहा है कि जगत् के सब पदार्थ गति कर रहे हैं और हम जानते हैं कि ये सब सीधी रेखा में गति नहीं करते। इस कारण इनको गति देनेवाला और गति पर प्रभाव उत्पन्न करनेवाला कोई होना चाहिए।

वैज्ञानिक न्यूटन ने यह सिद्धान्त निश्चय किया था कि प्रकृति का कोई कण भी ठहरी हुई अवस्था से अपने-आप चल नहीं सकता, और जब चल रहा होता है तो वह अपनी गति की दिशा को बदल नहीं सकता, जब तक कि कोई बाहरी शक्ति उस पर प्रभाव न डाले।[1]

इस कारण ब्रह्मसूत्र-रचयिता कहता है—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥

—ब्र० सू० १-२-७

अर्थात्—(अर्भकौकस्त्वात्) शरीरों में छोटे-से स्थान पर होनेवाला भी (तत् उपदेशात्) वैसा कहे जाने पर भी (न इति) नहीं है, (चेत् न निचाय्यत्वात् एवम्) यदि कहो

1. 'Every particle of matter continues in the state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state'
—Newton, 1st law of motion.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो निश्चय होने से (व्योमवत् च) व्योमवत् है।

शरीर अर्थात् प्राणी कार्य करता है, वैसे ही जैसे चन्द्र, बृहस्पति तथा अन्य तारागण चलते हैं। क्या इनके चलानेवाला छोटे-से शरीर में है? सूत्रकार कहता कि नहीं है। अन्य कारणों से हम जान चुके हैं कि जो चन्द्र-तारागण इत्यादि को चलाता है, वह एक सर्वव्यापक तत्त्व है। जहाँ-जहाँ तक व्योम है वहाँ-वहाँ तक वह विद्यमान है।

ब्रह्मसूत्र का एक सूत्र है—

तत्तु समन्वयात्। —ब्र० सू० १-१-४

अर्थात्—(तत्) वह (तु) इस कारण (समन्वयात्) [जगत् के कार्यों में] समन्वय से होने के कारण [यह सिद्ध होता है कि इस पूर्ण संसार का संचालन करनेवाला कोई एक है]।

यहाँ कहा है कि वह शरीरी में और अशरीरी में गति उत्पन्न करनेवाला एक सर्वव्यापक तत्त्व है।

परन्तु ब्रह्मसूत्र यह कह चुका है कि शरीरी के गुण जगत् के अन्य पदार्थों में नहीं पाए जाते।

उदाहरण के रूप में मनुष्य एक दिन प्रातःकाल भ्रमण के लिए किसी उद्यान की ओर जा रहा है, अगले दिन उसकी इच्छा नदी के तट पर भ्रमण को जाने की होती है, तीसरे दिन वह किसी अन्य दिशा को चल पड़ता है, एक अन्य दिन वह चिड़ियाघर की ओर जा सकता है।

यह व्यवहार सूर्यादि नक्षत्रों का नहीं देखा जाता। वे नियम से एक ही दिशा में नियत समय पर उदय होते हैं और अस्त होते हैं।

इसी कारण कहा है कि शरीरी के गुण वे नहीं, जो जगत् के दूसरे गतिशील पदार्थों के हैं।

इस कारण दर्शनाचार्य कहता है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ —ब्र० सू० १-२-११

अर्थात्—(गुहां) गुहा [मस्तिष्क में एक छोटे-से स्थान में] (प्रविष्टौ आत्मानौ) आत्म-तत्त्व प्रविष्ट (हि) निश्चय से हैं, (तत् दर्शनात्) उनके दर्शन से।

प्राणी के मस्तिष्क में एक गुहा अर्थात् छोटे-से स्थान पर दो आत्म-तत्त्व रहते हैं। आत्म-तत्त्व से अभिप्राय है चेतन तत्त्व। ये दो हैं। कारण यह कि दो प्रकार की चेष्टाएँ प्राणी में होती हैं। सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि की भाँति भी चेष्टा होती देखी जाती है। हम भोजन करते हैं और फिर सो जाते हैं। भोजन को पचाने और उसे आगे शरीर के अंग-प्रत्यंग में ले-जाने का कार्य, बिना प्राणी की इच्छा के होता रहेगा। परन्तु कुछ अन्य चेष्टाएँ भी होती हैं जो प्राणी के दूसरे चेतन तत्त्व के अधीन होती हैं। जैसे हम किसी शत्रु पर प्रहार करना चाहते हैं अथवा किसी प्रियजन को नमस्कार करना चाहते हैं, हमारी इच्छानुसार हमारे हाथ कार्य करेंगे—शत्रु पर प्रहार करेंगे अथवा प्रियजन को नमस्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे।

अतः, सूत्रकार का कहना है कि प्राणी (शरीरी) में दो आत्म-तत्त्व हैं—एक जो सर्वव्यापक है और दूसरा जो केवल शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है।

सर्वव्यापक तत्त्व को परमात्मा कहते हैं और जो शरीर-शरीर में भिन्न-भिन्न हैं, वे जीवात्मा कहाते हैं।

एक मनुष्य किसी घटना से प्रसन्नता अनुभव करता है। उसी घटना से दूसरे को अप्रसन्नता अनुभव होती है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा प्राणी-प्राणी में पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु परमात्मा सबमें एक है।

यही बात ऋग्वेद के इस मन्त्र में कही गई है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

—ऋ० १-१६४-१

इस मन्त्र का अर्थ है—(अस्य वामस्य पलितस्य) इस सुन्दर [परन्तु] बूढ़ा हो जानेवाले का (तस्य होतुः भ्राता मध्यमा अस्त्यश्नः) बीच में बैठा उसका भाई यज्ञ [कर्म] करता है और भोग करता है। (तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो विश्पतिं) तीसरे भाई को, पालन करते हुए तथा रक्षा करते हुए (अपश्यं सप्त पुत्रम्) सात पुत्रों के साथ मैं देखता हूँ।

यह कहा है कि संसार में सुन्दर और घिस जानेवाला कुछ है और उसमें एक भाई बैठा है, जो शरीर यज्ञ का करनेवाला और संसार का भोग करनेवाला है। तीसरा भाई उसका पालन करता है। शब्द 'घृतपृष्ठः' है। अर्थ है पीठ पर घी सिंचन करनेवाला। जैसे आज के युग में मशीन को चलते रहने के लिए तेल देना पड़ता है, इसी प्रकार वह घृतपृष्ठ करनेवाला कहा जा सकता है। परमात्मा संसार की मशीनरी को स्निग्ध करके चालू रखता है। परन्तु भाई तो केवल प्राणियों के अन्दर ही होता है। यह तीसरा भाई अपने सात पुत्रों के साथ सब प्राणियों के भीतर रहता है।

ऋग्वेद के इसी भाव को दूसरे मन्त्र में भी कहा है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

—ऋ० १-१६४-२

अर्थात्—(यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः) जहाँ [इस संसार में] सब भुवन-नक्षत्र ठहरे हुए हैं और (त्रिनाभि चक्रम् अजरम् अनर्वम्) तीन नाभियोंवाला है और बिना घोड़ों के चल रहा है। (रथम् एकचक्रम् एकः अश्वः वहति सप्तनामा सप्त युञ्जन्ति) एक चक्र को जिसमें सप्तनाम वाले सात जोड़ हैं, उसे एक ही अश्व हाँकता हुआ ले-जा रहा है।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् एक चक्र की भाँति अपने केन्द्र पर घूम रहा है। सब नक्षत्र उस चक्र में टिके हैं। चक्र की तीन नाभियाँ हैं और सात नामवाले जोड़ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि जगत्, जिसमें हमारा सौर-मण्डल भी है, एक बहुत बड़ी तश्तरी की भाँति का चक्र है और यह अपने केन्द्र पर चक्र की भाँति ही घूम रहा है। इस जगत् को वर्तमान वैज्ञानिक 'गैलेक्सी', जिसे हम आकाशगंगा कहते हैं, एक तश्तरी की भाँति घूमता हुआ चक्र मानते हैं।

इस आकाशगंगा में सात सूर्य माने जाते हैं और उनके अपने-अपने सौर-मण्डल हैं। इस चक्र की तीन नाभियाँ हैं। इसका अर्थ है कि चक्र में तीन चक्र हैं और घूमनेवाले भी नक्षत्र हैं। इन तीन नाभियों की बात वर्तमान ज्योतिष-विद्या नहीं मानती।

इसमें दूसरे भ्राता का नाम नहीं लिया। एक ही अश्व इसे घूमता हुआ माना है। वह अश्व परमात्मा का तेज है। किसी भुवन अथवा नक्षत्र में दूसरे भ्राता जीवात्मा का कथन नहीं है।

तेज के प्रभाव से जब परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हुई और परमाणुओं में परस्पर आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न हुआ तो परमाणु-समूह बनने लगे।

सांख्यदर्शन इसका वर्णन इस प्रकार करता है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः
प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः
स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥ —सां० १-६१

सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ और तन्मात्राओं से स्थूल महाभूत बनते हैं।

स्थूल महाभूतों से ही यह चराचर जगत् बना है और इन्द्रियों के संयोग से शरीर और प्राणी का निर्माण हुआ है।

सांख्यदर्शन का यह कथन मूलरूप में वेद में भी है। ऋग्वेद में कहा है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥
यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥
असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥
इमा ते वाजिन्नवमार्जनानी मा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः॥

—ऋ० १-१६३-१,२,३,४,५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्रार्थ हैं—(श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातम्) बाज के पंखों और हिरण की बाहों [के समान तीव्रगति से चलनेवाला] (प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रात् उत वा पुरीषात् यत् अक्रन्दः ते अर्वन्) अर्वन् जो बहुत शब्द करता हुआ पैदा होता हुआ ऊपर अन्तरिक्ष में सब कार्य पूर्ण करने के लिए उठा।

[यह अर्वन्] (यमेन) परमात्मा द्वारा (दत्तं) दिया हुआ (त्रितः एनम् आयुनक् इन्द्रः एनम् प्रथमः अधितिष्ठत्) यह अर्वन्, त्रित ने लगामों की भाँति ग्रहण कर लिया और इन्द्र से अधिकृत हो गया। त्रित का अभिप्राय त्रिगुणात्मक परमाणु है। (अस्य गन्धर्वः सूरात् रशनाम् अगृभ्णात् अश्वं वसवः निरतष्ट) सूर्य की किरणों की भाँति त्रित [त्रिगुणात्मक परमाणु] ने (अर्वन्) ग्रहण किया और थामा।

(असि यमः) तू यमन करनेवाला [त्रित को नियंत्रण में रखनेवाला] है। (असि आदित्यः) तू प्रकाशस्वरूप है। (अर्वन् असि) तू अर्वन् (तेज माँगनेवाला) है। (त्रिता गुह्येन व्रतेन) परमाणु गुप्त रूप से गठित होने से (असि सोमेन समया) साम्यावस्था में समीप-समीप थे, (विपृक्तः) पृथक्-पृथक् थे। (आहुः ते त्रीणि दिवि बन्धनानि) यह कहा जाता है कि तीन दिव्य संगठनों में बँध गए।

(त्रीणि ते आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीणि अस्य) वे तीन बन्धन दिव्य गुणवाले हैं। ये तीन अपाः [अहंकार] कहे जाते हैं। (त्रीणि) तीनों [अपः] (अन्तः समुद्रे) अन्तरिक्ष में (उत इव मे वरुणे छन्ति) ऊर्जा से (यत्र अर्वन् ते आहुः परमं जनित्रम्) जहाँ अर्वन् से कहा जाता है यह परम ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ।

(इमा ते वाजिन् अवमार्जनानि) तब इस अश्व [अपः] से जगत् के पदार्थों का शोधन हुआ। (मा शफानां सनितुः निधाना) इससे कल्याणकारी संयुक्त पदार्थ बने। (अत्र ते भद्रा रशना अपश्यम्) यहाँ वह सुखकारक [पदार्थ को] देखूँ। (या ऋतस्य अभिरक्षन्ति गोपाः) जो ईश्वरीय नियम से परमात्मा द्वारा हमारा पालन करते हैं।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा का तेज घोर शब्द करता हुआ उत्पन्न हुआ और अति वेग से अन्तरिक्ष में फैल गया। वह सब कामना पूर्ण करनेवाला था। इस तेज को अर्वन् का नाम दिया है। यह परमात्मा का तेज त्रित अर्थात् प्रकृति के त्रिगुणात्मक परमाणु से लगामों की भाँति स्वीकार किया गया। यह सूर्य की रश्मियों के समान उन त्रितों (परमाणुओं) पर अधिष्ठित हो गया। ये त्रित छुपी हुई शक्ति से बहुत दृढ़ता से गठित था। यह उसकी साम्यावस्था थी। अर्वन् ने उसको असाम्यावस्था में कर दिया। एक शब्द है विपृक्तः। इसका अर्थ है अपने स्वरूप से बदल दिया। ऐसा होने से तीन दिव्य गुणवाले बन्धन (आपः) बने। यह तीन अहंकारों से बनने का वर्णन है। इन्हें ही वर्तमान विज्ञान में ऐटम के तीन कण—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन कहते हैं। इन्हें वैदिक भाषा में आपः कहा है। ये दिव्य शक्तिवाले हैं।

इन तीन दिव्य शक्तिवालों से यह परम ब्रह्माण्ड बना है। ये आपः अश्व कहे हैं क्योंकि यह रचना-कार्य को आगे चलाते हैं। इनसे विश्व के सब पदार्थ शुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ठीक-ठीक) बने और ठीक योग बनकर कल्याण करनेवाले हुए। हम इनसे अपने सुख और स्वाद को प्राप्त करते हैं।

कल्प—२

जब रचना चलने लगी तो पृथिवी ठण्डी हुई और ठण्डी होने पर जल से ढप गयी। तब इन्द्र, वरुण और मरुतादि देवताओं की सहायता से पृथिवी के जल का शोषण किया गया। बड़े-बड़े वराह (बादल) बने और उनसे पृथिवी का जल अन्तरिक्ष में चला गया। पृथिवी पर भूमि जल से बाहर आ गयी। जब भूमि रहने लायक हुई तो यहाँ प्राणी-सृष्टि हुई और मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल से प्राकृतिक पदार्थों को अपने उपयोग के योग्य बनाया।

ईश्वरीय सिद्धान्त तो अटल है, परन्तु उसका प्रयोग मनुष्य अपनी बुद्धि से करता है। इस प्रयोग में ही मनुष्य स्व और पर के भेद में पड़कर धर्म और अधर्म में फँस जाता है। वेद तो मनुष्य को शिक्षा देता है और जो इस शिक्षा के अनुसार कर्म करता है वह कल्याण का भागी होता है। कर्म करने के विषय में भी वेद ने मार्गदर्शन किया है। यजुर्वेद का एक मंत्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —यजु॰ ४०-२

अर्थ है—(इह कर्माणि कुर्वन् एव जिजीविषेत्) इस संसार में कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करो, (शतं समाः) सौ वर्ष तक। (एवं न अन्यथा अस्ति, न कर्म लिप्यते नरे) इससे दूसरा कोई मार्ग नहीं, इस कारण कर्मों में लिप्त (मोहग्रस्त) न हो।

इसका अभिप्राय यह है कि इस संसार में कर्म किए बिना रहा नहीं जाएगा। सौ वर्ष तक मनुष्य-जीवन की अवधि है। अतः कर्म तो करे, परन्तु कर्मों में लिप्त न हो।

कर्मों में लिप्त न होने का अभिप्राय यह है कि कर्मफल की इच्छा को छोड़कर कर्म करे। इसे ही भगवद्गीता में निष्काम कर्म का नाम दिया है।

मनुष्य प्राकृतिक पदार्थों को ले। उनको मानवोपयोगी रूप दे, परन्तु ललचाई दृष्टि से भोग न करे। अर्थात् उनका उतना ही भोग करे जितना जीवन के लिए अनिवार्य है।

वेद ने ऐसा क्यों कहा है? क्योंकि मनुष्य (जीवात्मा) उन प्राकृतिक वस्तुओं के निर्माण में कुछ भी योगदान नहीं करता। यह वस्तु अर्थात् प्राकृतिक पदार्थ परमात्मा के ही निर्माण किये हुए हैं और मनुष्य को प्रयोग के लिए मिले हैं। इसलिए सब मनुष्यों का विचार कर, उनका उतना ही भोग करे, जितना उसके भाग में हो।

यदि वह ऐसा करेगा तो क्या होगा? इस विषय में शास्त्र कहता है—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥
न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्॥
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनेनमधीयते॥ —ब्र॰ सू॰ १-२-१८,१९,२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—(अन्तर्यामी) भीतर से नियंत्रण करनेवाला (अधिदैवादिषु) अधिदेवादि अर्थात् भौतिक शरीरों में है, (तत् धर्म व्यपदेशात्) उसके धर्मों के बताये जाने से।

(न च स्मार्तम्) और वह स्मृति-यंत्र मस्तिष्क नहीं है (अतत् धर्माभिलापात्) उसके धर्मों के ज्ञान से यही पता चलता है।

(शरीरः च उभये अपि) और शरीरः अर्थात् जीवात्मा तथा मस्तिष्क दोनों भी नहीं, (भेदेन एनम् अधीयते) इनके भेद को जानने से।

इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है, शरीर की नहीं !

यह मस्तिष्क (मन और बुद्धि) भी नहीं, जो कार्य करते हैं। जीवात्मा और मस्तिष्क दोनों ही नहीं।

सूत्रकार का कहना है कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है। इसे प्राण कहते हैं। वेद में इसको परमात्मा के सात पुत्र कहा है। —ऋ० १-१६४-१

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा इसके काम करने में उत्तरदायी क्यों है और परमात्मा क्यों नहीं ?

इस विषय में सूत्रकार कहता है—

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिंगं च ॥
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥
इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ —ब्र० सू० १-३-१५,१६,१८

अर्थात्—(गतिशब्दाभ्यां) वाकादि इन्द्रियों की गति से [कार्य से] (तथा दृष्टं लिंगं च) और लिंग अर्थात् चिह्न दिखाई देता है [परमात्मा का]।

(अस्य धृतेः च) और इसको धारण करता है। (महिम्नः) यह इसका महिमायुक्त कार्य है। (अस्मिन् उपलब्धेः) इस शरीर में पाया जाता है।

(इतरपरामर्शात्) अपने से छोटे [जीवात्मा] के परामर्श से (इति) यह है, (चेत् न असम्भवात्) यह कहो तो असम्भव नहीं।

इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि शरीर की इन्द्रियों के कार्य परमात्मा की शक्ति से होते हैं और परमात्मा शरीर को धारण करता है। ये दोनों कार्य परमात्मा के अति महिमायुक्त हैं। ये कार्य करने की शक्ति परमात्मा इतर (कम सामर्थ्यवान्) जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए दे देता है।

जीवात्मा परमात्मा की इस प्राण-शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा से करता है। यदि इस शक्ति का प्रयोग वह अच्छे कार्यों में करता है तो वह उन्नति करता है, और यदि बुरे कार्यों में करता है तो वह अवनति करता है। उन्नति का अभिप्राय है उसको श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर जन्म मिलता है। मनुष्य-योनि में भी कई स्तर होते हैं और यह भी माना जाता है कि मनुष्य-योनि से भी ऊपर की योनियाँ हैं। महाभारत में लिखा है कि ऋषिगण सूर्य-रश्मियों पर ऐसे स्थित होते हैं जैसे वृक्ष की शाखाओं पर बैठे पक्षी, और वे सूर्य-रश्मियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गति से इस संसार में विचरते हैं। —महाभारत १२-३६२-३

ऐसी योनि को और फिर उससे मोक्षावस्था को प्राप्त करने के लिए परमात्मा की दी हुई प्राण-शक्ति का उचित प्रयोग करे तभी यह सम्भव हो सकता है।

ब्रह्मसूत्र में लिखा है—

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥

—ब्र० सू० १-४-२१,२२,२३

अर्थात्—(इति औडुलोमिः) यह ऋषि औडुलोमि का मत है—(एवं भावात् उत्क्रमिष्यत) ऐसा होने से मनुष्य उन्नति करता है।

(इति) इस प्राण से (अवस्थितेः) संचालित होने से—(काशकृत्स्नः) यह काशकृत्स्न ऋषि का मत है।

(प्रकृतिः च) और प्रकृति शरीर के भोग में बाधक है,(प्रतिज्ञा दृष्टान्त अन् उपरोधात्) प्रतिज्ञा [दृढ़ निश्चय] और शास्त्र-ज्ञान की प्रेरणा न होने से।

इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य परमात्मा के प्राण का प्रयोग करता हुआ जब भले कर्म करता है तो उन्नति अर्थात् श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर योनियों को प्राप्त करता जाता है।

शरीर की कामनाएँ इस उत्क्रमण में बाधा डालती हैं। यह बाधा तब ही होती है जब जीवात्मा में दृढ़ संकल्प और शास्त्र-ज्ञान का अभाव हो।

ज्योतिष

हम शिक्षा और कल्प के विषय में लिख चुके हैं। अब वेद के तृतीय अंग ज्योतिष के विषय में लिखना चाहते हैं।

ज्योतिष से अभिप्राय है अन्तरिक्ष में नक्षत्रादि का ज्ञान।

आचार्य भास्कर वेद और ज्योतिष का सम्बन्ध इस प्रकार वर्णन करते हैं—

वेद चक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं
इदं ज्योतिषं किल वेदचक्षु स्मृतम्

ज्योतिष वेद का चक्षुस्थानीय है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य चक्षु से अपने से दूर के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, इसी प्रकार वेद-ज्ञान को देखने के लिए ज्योतिष चक्षु का अर्थात् आँखों का काम करता है।

अर्थात् सृष्टि-रचना, पालन और लय का तिथिकाल बतानेवाला शास्त्र ज्योतिष है।

विद्वान् लोग नक्षत्रादि को देखकर ही इस बात का ज्ञान प्राप्त कर सके हैं कि यह रचना कब हुई और कब तक रहेगी तथा इन रचनाओं और पालन-कार्य में क्या-क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन आये हैं।

यह इस लेख में नहीं बताया जा सकता कि अन्तरिक्ष में क्या-क्या देखकर विद्वानों ने सृष्टि-रचना के विषय में क्या-क्या गणनाएँ की हैं। हाँ, वेद में इस विषय में जो कुछ कहा है, उसका संकेत ही यहाँ किया जा सकता है।

वेद इस प्रपंच (सृष्टि) की अवधि—३,३२,००,००,००० सौर वर्ष मानता है और वेद में इस काल को १००० भागों में बाँटा है।

इस विषय में मैं स्पष्ट कर दूँ कि वेद में इस ज्योतिष का मूल रूप में वर्णन है। परन्तु वर्तमान युग में प्रचलित फलित ज्योतिष का वेद में वर्णन नहीं है, न ही वेद में इसका वर्णन है कि सूर्य-चन्द्रादि ग्रह पृथिवी पर और उस पर रहनेवाले मनुष्यों पर क्या और किस प्रकार प्रभाव डालते हैं।

शब्दशास्त्र

व्याकरण, निरुक्त और छन्द, ये विद्याएँ वैदिक भाषा का अर्थ और वेद विषय को समझने के लिए हैं। व्याकरण, निरुक्त इत्यादि के विषय में यास्क ने विस्तार से और उदाहरणों-सहित लिखा है। परन्तु यहाँ संक्षेप में ही इनके विषय में लिखना सम्भव है।

व्याकरण, निरुक्त और छन्द को 'शब्द शास्त्र' कहा है। इन तीनों की सहायता से वेदार्थ करने में सुविधा होती है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि भाषा पहले बनी और इसका 'शब्द शास्त्र' बाद में बना। यही कारण है कि शब्दशास्त्र वेदवाणी के पीछे-पीछे चलता है, न कि वेदवाणी शब्दशास्त्र के पीछे-पीछे चलती है। यास्क ने कहा है—

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां
तथा तानि निर्ब्रूयात्। —निरुक्त २-१

अर्थात्—जिन-जिन पदों में स्वर और संस्कार (प्रत्यय, विभक्ति आदि) समर्थ हों (अर्थ बता सकें), (शब्द) विकार (परिवर्तनों) के नियमों से अर्थ का समर्थन होता हो तो वहाँ वैसा ही अर्थ करना चाहिए (ऐसी स्थिति में अर्थ और विवेचन समान होगा)।

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद्
वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।

अर्थात्—और अर्थ संगत होने पर व्याकरण की प्रक्रिया से ही अर्थ नहीं बनें तो अर्थ (भाव) की नित्यता पर विचार कर किसी भी वृत्ति (व्यवहार) की समानता से परीक्षा कर ले (शब्द में धातु की समानता से अर्थ करे)। जहाँ (धातु आदि की) समानता न हो वहाँ अक्षर अथवा वर्णन की समानता में, स्वर-व्यंजन की समानता से निर्वचन (भाव-ज्ञान) कर ले। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मंत्र के विषय (देवता) का वर्णन छोड़कर कुछ का कुछ कहने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वचन (भाव प्रकट) करते समय यह आवश्यक है कि देवता से निर्दिष्ट विषय का वर्णन न छोड़े।

इस विषय में यास्क अपने भाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहता है—

अयं मन्त्रार्थ चिन्ताऽभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। —निरुक्त १३-१२

अर्थात्—इस प्रकार यह मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया है। चाहे श्रुति-प्रमाण से, चाहे तर्क से; प्रसंग का नाश नहीं करके मन्त्र निर्वचन करना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह है कि मंत्रार्थ वेद में कहीं भी वर्णित बात का विरोध नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में, वेद में परस्पर-विरोधी वचन नहीं हैं। साथ ही, चाहे अर्थ श्रुति की समानता से करो अथवा युक्ति से करो, परन्तु प्रसंग (विषय अर्थात् देवता) को छोड़कर अर्थ नहीं करना चाहिए।

यास्क ने वेद के विषय में एक बात यह कही है कि वेद की ऋचाएँ तीन प्रकार की (अर्थवाली) हैं। कहा है—

....सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।

—निरुक्त ७-१

अर्थात्—अब देवता (मंत्र विषय) की उप परीक्षा (सूक्ष्म परीक्षा) है। अभिप्राय यह है कि मंत्रों में वर्णित विषय की सूक्ष्मता से परीक्षा की जा रही है। जिस कामनावाला ऋषि मंत्र में अर्थ को देखता है, वह मंत्र में स्तुति (विषय की विवेचना) करता है, वही इस मंत्र का देवता है। उन (देवताओं) का विचार कर कहा गया है कि ऋचा तीन प्रकार की हैं—(१) परोक्ष (पदार्थों) का अर्थ प्रकट करनेवाली; (२) प्रत्यक्ष (पदार्थों) का अर्थ प्रकट करनेवाली और अध्यात्म का अर्थ प्रकट करनेवाली।

एक बात और कही है—

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

—निरुक्त ७-३

अर्थात्—परोक्ष पदार्थ की स्तुति की ऋचा और प्रत्यक्ष पदार्थों की स्तुति की ऋचा बहुत अधिक हैं। अध्यात्मपरक ऋचाएँ बहुत कम संख्या में हैं।

मैंने वेदों के विषय में संक्षेप में बताया है। वेदों के अंगों से मेरा अभिप्राय है वेद में वर्णित विषय।

अब वेद-मंत्रों के देवता के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद-मंत्रों के देवता

'देवता' दिव्य गुणयुक्त पदार्थ को कहते हैं। पदार्थ से अभिप्राय वह सब-कुछ है जो शब्दों में वर्णन किया जा सके। अतः दिव्य गुणयुक्त पदार्थ कोई व्यक्त अथवा अव्यक्त पदार्थ भी हो सकता है। परमात्मा से लेकर पृथिवी-पर्यन्त कोई भी पदार्थ वर्णनीय हो सकता है। उसमें कोई दिव्य गुण हो तो वह देवता हो जाएगा।

दिव् धातु से देवता शब्द व्युत्पन्न है। 'दिव्' का अर्थ है दीप्ति-(चमक)-युक्त, अर्थात् अपने गुणों से प्रकट होनेवाला।

दिव्य पदार्थ में अन्य गुण भी हो सकते हैं। कम-से-कम एक गुण विशेष होने से ही वह दिव्य होगा अर्थात् देवता माना जाएगा।

ऐसे कई-एक पदार्थों के नाम वेदों में आए हैं। यदि उनमें से किसी दिव्य पदार्थ की स्तुति, वर्णन, वेद-मंत्र में हो तो वह उस मंत्र का विषय (देवता) कहा जाएगा।

दिव्य गुणवाले पदार्थ कभी मंत्र का विषय न होने पर भी किसी विशेष प्रयोजन से मंत्र में आते हैं। उस समय भी वे होते देवता ही हैं। देवता वे अपने गुणों से होते हैं।

उनका दिव्यपन उनके कर्म से जाना जाता है। शौनक कहता है—

स्तोतृभिर्देवता नाम्ना उपेक्षेतेह मन्त्रवित्॥
तत्खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वात्यदिह किंचन॥

(बृहद्दे० १-२२, २३)

अर्थ हैं—मंत्रों को जाननेवाले श्रोताओं के द्वारा देवताओं के नाम से मंत्रों को जाननेवाला होता है।

कर्म से ही नाम का ज्ञान होता है। वेद का वास्तविक अर्थ अथवा जो कुछ भी सम्बन्धित बात है, वह इन नामों से ही जानी जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि मंत्र में शब्दों अथवा देवताओं के नामों का अर्थ उनके कर्म से जाना जाता है जो मंत्र में ही वर्णन किया होता है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। मंत्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(ऋ० १-१-१)

मंत्र का देवता अग्नि है। अग्नि की ही स्तुति इसमें कही है। अर्थ में अग्नि का ही वर्णन कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि (रचना के समय) सामने उपस्थित हो यज्ञ कर रही थी। वह होता है और धन-सम्पदा देनेवाली है।

इस मंत्र में अग्नि के दिव्य गुणों की ओर संकेत किया गया है। इससे अग्नि इस मन्त्र का देवता है।

साथ ही अग्नि नाम अग्रणी कर्म के कारण है। सबसे पहले रचना में यह यज्ञ करती है। जो पहले काम करे, वह अग्रणी (अग्नि) है। अग्रे से अग्नि नाम पड़ा है।

इस प्रकार, शौनक ने कहा है कि वेद-मंत्रों में दिव्य गुणवाले पदार्थों की स्तुति की जाती है और उस स्तुति से ही देवता के नाम की सिद्धि होती है।

एक अन्य देवता—इन्द्र का उदाहरण ले सकते हैं। इन्द्र के विषय में एक मंत्र है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

(ऋ० २-१२-१)

मंत्र का देवता इन्द्र है और इन्द्र की व्याख्या में यह मुख्य वचन है। कहा है—(यः मनस्वान् एव प्रथमः जातः) जो मन के गुणोंवाला पहले ही उत्पन्न हुआ, (देवः देवान् क्रतुना परि-अभूषत्) जो [दिव्य गुणोंवाला] संसार के देवताओं को अपने कर्म से, अपनी कर्तव्य-शक्ति से सुन्दर [उपकारी] करता है; (यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम् नृम्णस्य मह्ना) जिसके बल से पृथिवी, आकाश पृथक्-पृथक् होते हैं और जिसके सामर्थ्य को महत्त्वपूर्ण कहा है, जिससे सब डरते हैं, जिससे धन [सामर्थ्य] की महिमा है, हे (विद्वान्) मनुष्यो! वह इन्द्र है।

पहली बात जो इस मंत्र में समझने योग्य है, वह यह है कि इन्द्र को 'प्रथमः जातः' कहा है।

अग्नि को प्रथमः जातः नहीं कहा, वरन् समक्ष उपस्थित (पहले ही उपस्थित) कहा है, अर्थात् अग्नि (आदि) पैदा नहीं हुई और इन्द्र को सृष्टि की उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं में पहले पैदा हुआ कहा है।

जहाँ अग्नि के विषय में कहा है कि यह धन-रत्नादि अर्थात् जगत् के सब पदार्थ देनेवाली है, वहाँ इन्द्र के विषय में कहा है कि उससे संसार के अन्य दिव्य गुणयुक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और जिससे सब डरते हैं, अर्थात् पृथिवी और आकाश पृथक्-पृथक् होते हैं और जिसकी महान् सामर्थ्य है।

शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र के नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार कही है—

स योऽयं मध्ये प्राणाः। एष ऽ स्वेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत ऽ इन्द्रियेणेन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध ऽ इन्धो ह वै तमिन्द्र— (शतपथ० ६-१-१-२)

अर्थ है—वह जो इस (परमाणु) के मध्य में प्राण (शक्ति) है, यह ही इन्द्र है। अपने इन्द्रिय अर्थात् बल से इन्हें (प्राणों को) दीप्त (प्रकाशित) करता है। उसे दीप्त करने से ही यह 'ईन्द्ध' अर्थात् 'इन्द्र' कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् 'ईन्द्ध' (दीप्ति-प्रकाशित) से इन्द्र नाम पड़ा। शौनक ने भी कहा है—कर्म देखकर नाम रखा गया है।

इस प्रकार देवता है—दिव्य गुणवाला पदार्थ जिसका नाम उसके गुण, कर्म, स्वभाव से रखा जाता है। जिससे गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन किया जाए, वह उस मंत्र का देवता अर्थात् विवेच्य विषय कहा जाता है। कभी किसी प्रयोजन से भी किसी देवता का नाम मंत्र में आ जाता है, वह मंत्र का देवता नहीं होता है।

यास्काचार्य देवताओं का प्रकरण आरम्भ करते हुए अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में कहता है—

अथातो दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति॥ (यास्क निरु० ७-१)

अर्थ है—अब देवताओं का प्रकरण आरम्भ होता है। तो जो नाम प्रधान स्तुति (गुण, कर्म, स्वभाव का विशेष वर्णन) वाले देवताओं के दिए हैं, वे देवता प्रकरण वाले हैं, अर्थात् जिनका वर्णन मंत्र में है, वे मंत्र के देवता होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जब मंत्र में किसी के विशेष गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन किया गया हो तो वह उस मंत्र का देवता होता है।

इसी बात को शौनक एक दूसरी प्रकार से कहते हैं। वह अपने ग्रन्थ 'बृहद्देवता' के आरम्भ में ही लिखते हैं—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
देवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥
तद्धितांस्तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च॥
न हि कश्चिद्विज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणा फलमश्नुते॥

(बृह० १-२, ३, ४)

अर्थ है—मंत्र-मंत्र में प्रयत्न से उसके देवता (वर्णित नियम) को जानना चाहिए। जो कोई मंत्र के देवता को जानता है, वह ही उसके अर्थ को समझ सकता है।

वह व्यक्ति ही ठीक-ठीक सम्मति दे सकता है कि मंत्र कहने का उद्देश्य क्या है। वह उद्देश्य जो उस मंत्र में तब निहित था, जब वह ऋषि पर प्रकट हुआ था।

जिसको मंत्र के देवता का ज्ञान नहीं, वह न तो उस मंत्र के अर्थ को समझता है, न ही उसमें कहे कर्म को करने में सफल होता है।

मंत्र के देवताओं का ज्ञान कैसे होता है? यह भी कहा है। प्रत्येक सूक्त अथवा मंत्र अथवा मंत्रांश पर बताया गया है कि उस सूक्त, मंत्र अथवा मंत्रांश में किस देवता की स्तुति (गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन) की गयी है। यह प्रायः उन ऋषियों ने ही कहे हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन पर मंत्र का आविर्भाव हुआ था।

मंत्रों के देवताओं का ज्ञान मंत्र के भाव से भी पता चल जाता है। कुछ मंत्रों में स्तुत्य देवता उस मंत्र अथवा सूक्त में मध्यम पुरुष में सम्बोधित किया गया होता है। यदि न भी हो तो मन्त्रार्थ करने से पता चल जाता है कि किसके विषय में मंत्र कहा गया है।

कभी-कभी ऐसा अनुभव होना भी सम्भव है कि मंत्र में कहा देवता मंत्रार्थ से सिद्ध नहीं होता। उस स्थिति में पाठक अथवा भाष्यकार को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी बुद्धि से मंत्र का अर्थ लगाये और मंत्र में वर्णित विषय का ज्ञान प्राप्त करे।

इस विषय में निरुक्त ने भी एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। निरुक्त कहता है—

....अयं मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः॥ (निरुक्त १३-१२)

अर्थात्—यह मंत्र के अर्थ के लिए चिन्ता-विचार-स्फूर्ति दिखाई है। (कहा है कि) वेद का अर्थ तर्क से पता चलता है। पृथक्-पृथक् मंत्र निर्वचन नहीं किया जाता। न ही प्रकरण छोड़कर मंत्र का अर्थ किया जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि निर्वचन (निश्चय से अर्थ) करने के लिए तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए—(१) वेद में परस्पर-विरोधी अर्थ नहीं हो सकते। वेद एक ज्ञानवान् का कहा हुआ है, इस कारण इसमें एक स्थान का दूसरे स्थान से विरोध नहीं होना चाहिए। (२) दूसरे यह कि तर्क से अर्थ सिद्ध होना चाहिए। (३) जिस देवता का (विषय का) वर्णन हो रहा हो, उसके अनुसार ही अर्थ होंगे।

यहाँ तर्क के विषय में बता दें, तो ठीक होगा। कुछ लोग तर्क को मिथ्या अर्थ-दर्शन करानेवाला मानते हैं। परन्तु सांख्य, न्याय और ब्रह्मसूत्रों में तर्क को अर्थ सिद्ध करने में समर्थ माना है। इतनी शर्त लगायी है कि तर्क आधारयुक्त होना चाहिए, अर्थात् किसी प्रत्यक्ष घटना के आधार पर किया गया तर्क उतना ही विश्वास-योग्य होता है जितना कि प्रत्यक्ष देखा होता है।

प्रत्यक्ष देखे के आधार पर तर्क का अभिप्राय यह है कि जब हम प्रत्यक्ष में बार-बार किन्हीं दो वस्तुओं, घटनाओं अथवा विचारों का साथ-साथ होना देखें तो एक के होने से दूसरे का भी होना तर्क से मान लिया जाता है।

उदाहरण के रूप में, हम धुआँ और आग को साथ-साथ ही देखते हैं। इस कारण धुआँ देखकर अग्नि का होना तर्कसिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले को मरता देखते हैं। इस कारण किसी बालक के जन्म के समय ही तर्क से कहा जा सकता है कि वह मरेगा भी।

इस शर्त के साथ कि तर्क का आधार प्रत्यक्ष हो, तो इससे जो सत्य का प्रदर्शन होता है वह सिद्ध ही है।

अतः निरुक्ताचार्य कहता है कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

....**मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेवं किं चानूचानो ऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥**

(निरुक्त १३-१२)

अर्थ है—ऋषियों के ऊपर (अर्थात् सुकृत लोकों को) चले जाने पर मनुष्य देवताओं (विद्वानों) से बोले—कौन हममें अब ऋषि (मंत्रद्रष्टा) होगा? उनको (कहा गया—) तर्क तुम्हारा ऋषि (मंत्रद्रष्टा) होगा। मंत्रार्थ में संगति को देखना चाहिए। जो पूर्वापर के अनुसार (तर्क से) सिद्ध हो, वही अर्थ होगा।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ मंत्र अथवा सूक्त पर कहे देवता पर सन्देह हो, वहाँ तर्क और पूर्वापर प्रकरण से देवता को निश्चय किया जा सकता है। देवता से अभिप्राय मंत्र का विषय है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि सूक्तों, मंत्रों अथवा मंत्रांशों पर जो देवता लिखे रहते हैं, वे मंत्र का विषय होते हैं और मंत्रार्थ करते समय उनका ध्यान रखना चाहिए। जहाँ सन्देह हो, वहाँ युक्ति से देवता का पता किया जाता है।

पूर्व इसके कि हम देवताओं की गणना तथा उनके गुण, कर्म, स्वभाव के विषय में चर्चा आरम्भ करें, वेद के विषय में कुछ-एक बातें समझ लेनी चाहिएँ। उनको ध्यान में रखकर ही मन्त्रार्थ किए जाएँगे तो वेद में वर्णित देवताओं का ज्ञान ठीक-ठीक हो सकेगा।

जब देवताओं के गुण, कर्म, स्वभाव को वेदमंत्रों से ही जानना है तो वेदार्थ करने पर विचार करना ही पड़ेगा। अन्यथा वेदार्थ अशुद्ध होंगे और फिर मंत्रों में वर्णित देवताओं का भी ठीक ज्ञान नहीं हो सकेगा।

उस शास्त्र को, जिससे वेदार्थ करने के ढंग का ज्ञान हो, निरुक्त कहते हैं। कई निरुक्ताचार्य हुए हैं। सबसे प्राचीन निरुक्ताचार्य, जिनका ग्रन्थ आज मिलता है, यास्क हैं। यास्क के निरुक्तशास्त्र में ही कुछ-एक उनसे पहले के निरुक्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके ग्रन्थ नहीं मिलते। यास्क के उपरान्त के कुछ-एक आचार्यों के लेख इस विषय पर मिलते हैं। दुर्गाचार्य एक विख्यात निरुक्ताचार्य हुए हैं। इनका लिखा निरुक्तशास्त्र स्वतंत्र नहीं है। उन्होंने यास्क के निरुक्तशास्त्र के आधार पर ही अपने ग्रन्थ की रचना की है।

शौनक अपने बृहद्देवता ग्रन्थ में कुछ-एक के नाम का उल्लेख करता है। उसने (१—२४,२६ में) इन निरुक्ताचार्यों के नाम गिनाए हैं—मधुक, श्वेतकेतु, गालव, यास्क, गार्ग्य और रथिवर। शौनक अपने को भी इनमें मानता है।

ये सब विद्वान् पहली बात यह मानते हैं—

सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः।
आशी रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः॥

(बृहद्देवता १-२७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है—शौनक का मत है कि नाम कर्म से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् रूप और वचन भी कर्म से ही होते हैं।

ऊपर दिए गए नामों वाले विद्वानों में कुछ-एक कहते हैं कि नौ लक्षण हैं, जिनसे हमें देवता के नाम का ज्ञान प्राप्त होता है, और कुछ-एक कहते हैं कि चार लक्षण हैं। शौनक का मत यह है कि वे सब भी कर्म से ही प्रकट होते हैं।

यास्क अपने निरुक्त में केवल देवताओं के नाम के लिए ही नहीं, वरन् वेद में आए सब नामों के विषय में इस प्रकार कहता है—

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। (यास्क १-१२)

अर्थ है—इस प्रकार ये चार प्रकार के पद कह दिए गए हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

नाम आख्यातज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होनेवाले हैं।

यास्क इसके उदाहरण देता है। एक उदाहरण है—गौः। निघण्टु में पृथिवी के नामों में 'गौ' शब्द आया है। इसकी व्युत्पत्ति गम् धातु से है।

'गम्' से 'गा' और 'औ' प्रत्यय लगने से 'गौ' बना है, जिसका अर्थ है—जो चलती है, वह गौ है।

पृथिवी भी चलती है। इस कारण पृथिवी को भी 'गौ' कहते हैं। गाय पशु, सूर्यरश्मि और अन्य प्रकार की तरंगें भी चलती हैं। वे सब भी 'गौ' शब्द से कही जा सकती हैं।

इस प्रकार क्रिया से नाम उत्पन्न होते हैं। परिणामस्वरूप यह सम्भव है कि शब्द का अर्थ करने में भूल हो जाए। कहनेवाले का अभिप्राय गौ से गाय हो और पढ़नेवाला उसका अर्थ पृथिवी अथवा प्रकाश-किरण करने लगे। इसी कारण शौनक ने यह भी कहा है कि उनमें कर्मों को देखकर अर्थ लगाए जाने चाहिएँ।

यह इस प्रकार कि यदि यह कहा हो कि गाय घास चर रही है तो गौ का अभिप्राय गाय पशु होगा। यदि कहा जाए कि गौ की पीठ पर ओषधियाँ उत्पन्न हो रही हैं अथवा कहा जाए 'गौ' पर पहड़, नदी-नाले हैं, तो 'गौ' का अर्थ पृथिवी लिया जाएगा। इसका उदाहरण भी यास्क ने दिया है। वह इस प्रकार है—

आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्॥ (ऋ० ९-४६-४)

मंत्र का देवता है, "पवमानः सोमः" अर्थात् पवित्र हुआ सोम।

पदच्छेद—आ, धावत, सु-हस्त्यः शुक्रा, गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः, श्रीणीत, मत्सरम्॥

मन्त्रार्थ—(सुहस्त्यः आ धावत मन्थिना शुक्रा गृभ्णीत) हे कुशल कारीगरो! शीघ्र आओ! बल को सिद्ध करो! बलकारक पदार्थ बनाओ, मन्थन से, मथानी से बिलोकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(गोभिः श्रीणीत मत्सरम्) गाय के दूध के साथ मिलाओ सोम (आम इत्यादि स्वादिष्ट पदार्थ)।

'मत्सरम्' का अर्थ यहाँ—प्रसन्न करनेवाला है। इस सूक्त में सोम की स्तुति की जा रही है, इस कारण यहाँ सोम से अभिप्राय वह पदार्थ है जो स्वाद निर्माण करता है। सोम के अर्थ हमने बताए हैं—वह पदार्थ जो इन्द्रियों को सुख देता है और पवित्र करनेवाला है। हमने निर्वचन किया है—मीठे आम का रस दूध में मिलाकर तैयार करने का वर्णन है।

मुख्य बात है गोभिः—गौ द्वारा प्राप्त। हमने अर्थ किए हैं—दूध। यही इस मंत्र में वर्णित कर्म से सिद्ध होता है।

गौः का एक अन्य उदाहरण है—

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥

(ऋ० १०-२७-२२)

इस मंत्र का देवता 'इन्द्र' है।

पदच्छेद—वृक्षे-वृक्षे, नियता, मीमयत्, गौः, ततः, वयः, प्र, पतान्, पुरुष-अदः।
अथ, इदम्, विश्वम्, भुवनम्, भयात, इन्द्राय, सुन्वत्, ऋषये, च, शिक्षत्॥

मन्त्रार्थ—(पुरुष-अदः गौः ततः वयः नियता वृक्षे मक्षे प्र पतान् मीमयत्) शरीर में बैठे हुए भोग करनेवाले गति से बहते हुए नियत शरीर से नियत शरीर में पहुँचते हैं और बोलने लगते हैं।

(पुरुष का अर्थ है—पुरि-शपः अर्थात् शरीर में बैठा हुआ। अदः का अर्थ है—खानेवाला अर्थात् भोग करनेवाला। वृक्ष से अभिप्राय है जो काटा-छाँटा जा सके। प्रकृति से अभिप्राय है—प्रकृति से बना शरीर।)

(अथ इदम् विश्वम् भुवनम्) और इस पूर्ण भुवन (भू-मण्डल) को।

(इन्द्राय सुन्वत) इन्द्र के लिए यज्ञ करो।

(भयात ऋषये च शिक्षत्) भयभीत होते हुए विद्वान् शिक्षा लेते हैं।

इसमें गौः से अभिप्राय है गति करता हुआ जीवात्मा। इसी प्रकार 'गम्' धातु से 'गा' और उससे 'गौः' बना। 'गाम्' उन सब पदार्थों का अर्थ है जो चलती हैं।

ऊपर दो उदाहरणों से स्पष्ट किया है कि किस प्रकार एक स्थान पर 'गोभिः' से अर्थ गाय का दूध है और दूसरे मंत्र में 'गौः' का अर्थ आत्मा किया है।

ये उदाहरण तो सामान्य 'नामों' के हैं। इसी प्रकार देवताओं के भी अर्थ उनके कर्मों से लगाए जाते हैं। देवताओं के भी 'नाम' होते हैं। वे किसी क्रिया से उत्पन्न होते हैं।

अग्नि और इन्द्र के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। इस प्रकार अर्थ करने को निर्वचन करना कहते हैं।

निर्वचन का अर्थ है—निश्चित अर्थ करना। गौः का निर्वचन दो मंत्रों में किया गया है। एक में 'गौः' से गाय और 'गोभिः' से गौः द्वारा उत्पन्न पदार्थ (दूध) है। और दूसरे में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गौः' से अर्थ शरीर से शरीर को जानेवाला आत्मा लिया है। मंत्रों में वर्णित बातों को देखकर ही ये अर्थ किए गए हैं।

इस प्रकार निर्वचन करने के विषय में निरुक्ताचार्य दुर्ग कहता है—

अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्॥ (निरुक्त भाष्य (सं० २०२१) पं० भगवद्दत्त, पृष्ठ—७१)

अर्थ है—शब्द में छिपे हुए अर्थ के परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्षवृत्ति (अदृश्य अथवा अतिअदृश्य) होने पर खींचकर अर्थ, तोड़कर जो अर्थ हों, वह निर्वचन होता है।

सब निरुक्ताचार्य कहते हैं कि वेदों में शब्दार्थ गौण है और निर्वचन मुख्य है। वेदार्थ करने में यास्क एक अन्य बात कहता है। वह इस प्रकार है—

अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्॥

(निरुक्त २-१)

अर्थ है—अब निर्वचन के विषय में कहते हैं। जिन पदों में स्वर और प्रकृति तथा प्रत्यय के संस्कार मंत्र का अर्थ बताने में सफल हों अर्थात् प्रसंग के अनुसार अर्थ हों तो उसका वैसा ही निर्वचन करना चाहिए। इस अवस्था में अर्थ और निर्वचन समान होंगे। परन्तु जहाँ प्रकृति तथा प्रत्यय आदि से अर्थ ठीक न बैठते हों (व्याकरण से बनें) तब व्याकरण का विचार छोड़ पद में छुपे अर्थ प्रत्यक्ष करने चाहिएँ।

ये दोनों बातें वेद का अभिप्राय समझने में ध्रुव के समान पथ-प्रदर्शन करती हैं।

अतः देवताओं की स्तुति करते हुए कभी देवताओं की निन्दा नहीं हो सकेगी।

यहाँ इतना बता देना चाहते हैं कि हमारे मत में वेदों में देवताओं की निन्दा, प्रलाप, उपसर्ग, उनका उत्तेजित हो क्रोध करना इत्यादि बातें नहीं हैं। देवता दिव्य गुण रखते हुए भी प्रकृति के रूप-रूपान्तर ही हैं। प्रकृति सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि गुणों से रहित होने से उक्त विचार नहीं रख सकती।

कुछ यूरोपियन और उनकी परिपाटी पर लिखनेवाले भारतीय लेखकों ने भी वेदों में देवताओं को मानवों की भाँति विलाप अथवा युद्ध इत्यादि करने की बात कही है। इस विषय में इन शब्दों का अभिप्राय यथास्थान उनकी विवेचना के साथ कर देंगे।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वेद-भाषा में शब्दों के अर्थ स्थिर क्यों नहीं हैं? इस विषय में भी बात स्पष्ट होनी चाहिए। वास्तव में मध्यकालीन भारतीय विद्वानों और उनकी नकल में यूरोपियन विद्वानों ने जो भूल इसमें की है, वह वेद शब्दों के अर्थ स्थिर समझने में है। जो एक शब्द का अर्थ एक स्थान पर आया है, वही अर्थ सर्वत्र होता है।

यह हम 'गौः' शब्द का उदाहरण लेकर बता चुके हैं कि 'गौः' के अर्थ गाय, पृथिवी, सूर्य-रश्मियाँ, जीवात्माएँ (जब एक शरीर से दूसरे शरीर में गति करते हैं) और अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य गति करनेवाले पदार्थ हो सकते हैं। यूरोपियन विद्वान, विशेष रूप में मध्यकालीन भारतीय विद्वान् इसमें कारण का विस्मरण कर वेद शब्दों के मिथ्या अर्थ लगाते रहे हैं और फिर वेदमंत्रों के भाव को न समझ उसकी निन्दा करते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि वेद-भाषा जिसे वेद में राष्ट्री भाषा के नाम से स्मरण किया है, वह आदि-सृष्टि में विचार की गई थी। यूरोप के विद्वान् तो आदि-मनुष्य को पशु-तुल्य ही समझते हैं। यदि उनकी इस बात को, जिसे वह विकासवाद के नाम से प्रसिद्ध कर रहे हैं, मान भी लें तो फिर यह कैसे हो गया कि वेद-जैसी प्राचीनतम पुस्तक में वर्तमान विज्ञान की बातें आ गईं।

उदाहरण के रूप में वेद में मरुतों की व्यवस्था समझाने के लिए जैमिनि ब्राह्मण के रचयिता ने यह लिखा है—

ततो मरुतो सृजत् ईशानमुखान्।।

(जै० ब्रा० ३-३८१)

अर्थ है—मरुत बने और उनके मुख ईशान कोण को हो गए।

ईशान कोण का अर्थ है—उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा। यह अवस्था सब अणुओं (मौलिक्यूल) की होती है। वर्तमान विज्ञान की यह जानकारी महाभारत-काल से भी पूर्व उत्पन्न हुए जैमिनि ऋषि को कैसे हो गई?

वेद का काल कभी भी मानें, आज से छः-सात हजार वर्ष से कम तो माना ही नहीं जा सकता। और उसमें यह तथ्य घोषित किया गया है—

—त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि।।
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्।। (ऋ० १-१६३-३,४)

अर्थ है—(गुह्येन व्रतेन त्रितः) त्रित (परमाणु) गुप्त प्रबन्ध से बँधा हुआ था।

(असि सोमेन समया वि-पृक्तः) शान्त अवस्था की समीपता पृथक्-पृथक् हुई। (साम्यावस्था से असाम्यावस्था हुई।)

(ते आहुः त्रीणि दिवि बन्धनानि) इस पर कहा जाता है कि तीन प्रकार के निबन्धन बने। (निबन्धन का अर्थ है—संयोग—संगठन)

(त्रीणि अन्तः समुद्रे) ये तीन अन्तरिक्ष में थे।

(आहुः ते त्रीणि दिवि बन्धनानि त्रीणि अप्सु) कहा जाता है कि ये तीन प्रकार के संयोग अन्तरिक्ष में आपः ही हैं।

(उत-इव मे वरुणः छन्त्सि अर्वन्) और हे अर्वन! इस प्रकार मेरा छन्द (पावन उच्चारण) वरुण करता है।

(आहुः ते परमम् जनित्रम्) कहा जाता है कि वे महान् (जगत) को उत्पन्न करनेवाले हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह है कि आपः प्रकृति के परमाणुओं का संयोग है। ये तीन प्रकार के हैं और इनसे ही पूर्ण जगत् बना है। यह आधुनिक विज्ञान के अनुसार ही है।

यदि उस काल के लोग जंगली थे तो भला यह विज्ञान की बात वेदों में कैसे आ गई? इस कारण हमारे मत से विकासवाद तो सिद्ध नहीं होता। मनुष्य पशु से नहीं बना। यदि यह कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा कि मनुष्य देवता से पशु बन रहा है।

इस स्थान पर हमारा कहना यह है कि वेद आदि-सृष्टि में कहे गए। उनको कहा गया है—छन्दों में। उन छन्दों से ऋषियों (विद्वानों) के मन में भाव उत्पन्न हुए। उन भावों को दूसरों (दो अन्य उत्पन्न हुए) को बताने के लिए शब्द-अर्थ का सम्बन्ध बनाया गया। उस सम्बन्ध बनाने में क्रियाएँ जो मनुष्य देखता था, उनसे नामों की कल्पना सुगम और सफल समझी गई। तब यह सिद्धान्त उपस्थित हुआ जो हमने पिछले अध्याय में कहा है।

कर्म से नाम बने। कर्म को प्रकट करने के लिए शब्द का आविष्कार किया गया और उससे नामों की सृष्टि की गई। यह उपाय सम्भव था और ऐसा करके वेद-ज्ञान का प्रसार किया गया।

इस पर मिथ्या अर्थ लगाने की भूल से बचने के लिए वे नियम बनाए गए जिनका निरुक्त में वर्णन किया गया है। इस प्रकार अर्थ को प्रत्यक्ष करने को निर्वचन करना कहते हैं। वेद में निर्वचन चलते हैं। यह हम देवताओं की व्याख्या करते समय विस्तार से बताएँगे।

ए० ए० मैक्डानेल ने वेद में नामों के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है। ग्रन्थ का नाम है—Vedic Index of Names and Subjects (वैदिक नामों और विषयों की सूची)।

इसका प्राक्कथन पढ़ने से पता चलता है मानो स्पेनिश उपन्यास का मुख्य पात्र संसार-विजय करने चला है।

सबसे पहली बात तो यह है कि मैक्डानेल की यह और इसी प्रकार की अन्य पुस्तकें 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया' की प्रेरणा और सहायता से लिखाई गई थीं। ये पुस्तकें राजनैतिक उद्देश्य से लिखाई गई थीं। उनका उद्देश्य ज्ञान की खोज करना नहीं वरन् एक अधीनस्थ जाति की मान्यताओं के नीचे 'डाइनामाइट' लगाना है।

वहाँ कहा है—

"...I have already stated, that the book should furnish the historical material in Vedic Literature as represented by proper names. As soon, however, as I began to examine more carefully the historical material thus available, I became convinced that restriction to proper names would result in a harvest too meagre to deserve being gathered in the form of a book. It seemed essential

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

to collect all the historical matter accessible to us in the earliest literary documents of India, and thus to furnish a conspetus of the most ancient phase of Aryan civilization that can be realized by direct evidence. If properly and thoroughly treated this matter would, I feel sure, yield a book of genuine value, a comprehensive work of Vedic antiquities.[1]

अभिप्राय है—"मैंने ऊपर कहा है कि इस पुस्तक में वेदों में ऐतिहासिक कथाओं को, नामों से बनाने का यत्न करूँगा। परन्तु ज्यों ही मैंने ध्यान से उन शब्दों में से इतिहास जानने का यत्न किया, मुझे पता चला कि इस प्रकार मिली सामग्री अति अल्प है। एक पुस्तक लिखने के लिए अपर्याप्त है। मुझे जब इस बात का विश्वास हो गया तो मैंने उस सब साहित्य के साधनों से सामग्री एकत्रित करनी आरम्भ कर दी जो भारत के पुराने काल के साहित्य में उपलब्ध है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों की सभ्यता का दर्शन करने का यत्न किया है। यह सामग्री यदि ठीक ढंग से लिखी जाए तो वैदिक प्राचीन बातों पर प्रकाश पड़ सकता है।"

वैदिक शब्दों के साथ जो दूसरी पुस्तकों के शब्द लिये गए हैं, वे हैं ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराणादि ग्रन्थ।

हमारा विचार है कि यह सब पूर्वाग्रहों से प्रभावित कल्पना है। जब कार्य सम्पन्न करने की योग्यता नहीं थी तो हवा में मुक्के चलाने लगे।

हमारा अभिप्राय यह है कि वेद आदि-सृष्टि में कहे गए थे। इन पर विवेचनाएँ बहुत बाद में कही गई हैं। वेद कहे जाने के काल तक मनुष्य के व्यवहार में, ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल के मनुष्यों के व्यवहार-ज्ञान में भी बहुत अन्तर आ गया होगा। यह अन्तर आना स्वाभाविक ही है। इस कारण ब्राह्मण, उपनिषदादि ग्रन्थों में कही बात से उस काल की बात का अनुमान लगाना, जब वेद कहे गए, अशुद्ध है।

आदि-सृष्टि में जब मनुष्यों की अभी कोई भाषा नहीं थी, तब भाषा को अर्थयुक्त करने का प्रयास इस प्रकार किया गया कि पदार्थों के कर्म देखे गए और उन कर्मों से उनके नाम रखे गए।

हमने ऊपर 'गौः' शब्द के उदाहरण से बताया है कि चलनेवाले गतिशील पदार्थों के नाम उस 'गौ' धातु से रखे गए और फिर किस प्रकार एक कर्मवाले अनेक पदार्थों में भेद रखा गया। उस आदिकाल में स्थिर अर्थवाले शब्द न सम्भव थे, न ही उचित।

अतः निरुक्ताचार्यों ने इस रहस्य को जानकर ही यह कहा है कि अर्थों से निर्वचन अधिक उपयुक्त है।

अतः देवताओं के नामों का अभिप्राय भी निर्वचनों से ही पता किया जाना चाहिए।

---

1. Vedic Index of Names and Subjects by A.A. Macodonell, Preface, page vii, Pub : Motilal Banarsidass,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में हमने बताया है कि अग्नि अग्रिम प्रयोग में आनेवाली शक्ति है और इन्द्र दीप्ति करनेवाली शक्ति है।

इसी प्रकार विष्णु व्यापक अर्थवाली शक्ति है, इस कारण यह उस शक्ति का नाम है जो सर्वव्यापक है। और वैश्वानर उस शक्ति को कहते हैं जो विश्व का नेतृत्व करती है अर्थात् निर्माण और प्रलय करती है तथा पालन भी करती है।

हम यह मानते हैं कि वेद और भाषा के आविष्कार से पहले, मानव-सृष्टि हो चुकी थी। ऐसा संकेत वेद में भी मिलता है। एक मंत्र है—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥

(ऋ० ८-१००-१०)

मंत्र का देवता (विषय) है—वाक्।

अर्थ है—(यद् वाक् राष्ट्री अवि-चेतनानि वदन्ति देवानाम् मन्द्रा निषसाद) जब वाणी जन-जन में बोली जानेवाली ज्ञान अर्थ को कहती है जो देवताओं (विद्वानों) को प्रसन्न करती हुई विराजती है।

(चतस्रः ऊर्जम् दुदुहे पयांसि) चारों ओर दुही जाती हुई शक्ति पीनेवाले;

(अस्याः परमम् जगाम्) इसके उत्पन्न होने का स्थान कौन जानता है?

इससे अगला मंत्र इस प्रकार है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

(ऋ० ८-१००-११)

इस मंत्र का देवता भी 'वाक्' है।

मंत्रार्थ—(देवीम् वाचम् देवाः अजनयन्त ताम् विश्व-रूपाः पशवः वदन्ति) वह दिव्य अर्थवाली वाणी विद्वान् प्रकट करते हैं (और) उसको सब रूपोंवाले सामान्य लोग कहते हैं।

(सा वाक् धेनुः नः इषम् ऊर्जम् दुहाना) यह वाणी गाय की भाँति हमें अन्न और ऊर्जा देती है।

(सुष्टु वैतु उप अस्मान् मन्द्रा आ एतु) भली प्रकार कही जाने पर हमको प्रसन्न करती हुई आओ।

इन दोनों मंत्रों का भावार्थ यह है कि जब वाणी अर्थयुक्त होती है तो बहुत प्रसन्नता देती है। वह चारों ओर फैलती हुई अर्थात् सब लोगों में फैलती हुई सुनी जाती है। प्रश्न किया गया है कि इसका उत्पत्ति-स्थान कहाँ है?

दूसरे मंत्र में यह बताया है कि दिव्य अर्थोंवाली वाणी जब विद्वान् प्रकट करते हैं, तब उसको सब रूपों में जनसाधारण कहने लगते हैं।

वह वाणी गाय अथवा पृथिवी की भाँति हमें अन्न और ऊर्जा देती है। हमें वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसन्न करती हुई प्राप्त हो, अर्थात् हम भी अर्थयुक्त वाणी बोलें।

जो बात हम कह रहे हैं कि वाणी के अर्थ विद्वानों (ऋषियों) ने नियत किए थे और निरुक्ताचार्य कहते हैं कि वेद-मंत्रों में शब्दों (निगमों) के अर्थ कर्म से बनाए गए हैं।

वेद में कही बात युक्तियुक्त प्रतीत होती है। परंतु यह सब भाषाओं के लिए नहीं, आदि-सृष्टि में ऋषियों द्वारा कही वेद-भाषा के लिए ही है। बाद की सब भाषाएँ उस वेद-भाषा की अपभ्रंश हैं।

वेद-भाषा में कर्म से नाम निकालने की विधि को यौगिक अर्थ करना कहते हैं। इसमें शब्द की व्युत्पत्ति किसी धातु अर्थात् कर्म से पता की जाती है, और जहाँ व्युत्पत्ति में कई अर्थ निकलें तो जो अर्थ विषय के अनुरूप हो वही वास्तविक अर्थ होंगे।

मंत्रों के विषय को भी देवता कहते हैं और दिव्य दीप्तिमय गुण रखनेवाले पदार्थों को भी देवता कहते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मंत्रों में केवल दिव्यगुणयुक्त पदार्थों का ही वर्णन है ?कुछ लोग ऐसा ही मानते हैं। परन्तु मन्त्र के विषय में दिव्यता हो अथवा न हो, विषय तो विषय ही है। कुछ मंत्र विवाह-संबंधी भी हैं। इस कारण हमारा मत है कि सब-के-सब मंत्रों के विषय दिव्य नहीं होते; दिव्य गुणवाले भी हैं और सामान्य गुणवाले भी हैं। ऊखल और शिला भी विषय हैं।

विषयों के अतिरिक्त सृष्टि-रचना से सम्बन्ध रखनेवाले दिव्य पदार्थों का वर्णन भी है। सब विषय मंत्रों के देवताओं के अन्तर्गत आते हैं।

वेद में सामान्य विषयों की संख्या बहुत है। जो-जो पदार्थ इस विषय में मनुष्य के जीवन में उपकारी सिद्ध होनेवाले हैं, उनका वर्णन वेदों में है। इस कारण यह कहा है कि जो कुछ सृष्टि-रचना के समय में दिव्य पदार्थ के अतिरिक्त भी सामान्य मानव-जीवन के लिए उपयोगी समझ में आए उन सबका वर्णन वेद में है। परन्तु वेद-मंत्रों के विषय में यास्क यह सम्मति देता है—

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ॥

(निरुक्त० ७-१)

वहाँ (वेदों में) ऋचः तीन प्रकार की हैं—प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में, अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में और अध्यात्म के विषय में।

प्रत्यक्ष से अभिप्राय है वे पदार्थ जो दृष्टिगोचर होते हैं। अप्रत्यक्ष से अभिप्राय है जो अदृश्य हैं। प्रत्यक्ष प्रायः कर्म होते हैं। इन दो के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व और प्रकृति के विषय भी अप्रत्यक्ष ही हैं।

यहाँ दिव्य गुणवाले की और सामान्य गुणवाले की बात नहीं कही। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष की बात कही है। और यह भी कहा है—

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

(निरुक्त० ७-३)

अर्थात्—परोक्ष पदार्थों के विषय और प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में बहुत मंत्र हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यात्म के विषय में कम मंत्र हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि-सम्बन्धी पदार्थों (परोक्ष और प्रत्यक्ष) का वर्णन वेदों में अधिक है। आत्म-तत्त्वों का वर्णन वेदों में कम है।

इसी कारण महर्षि स्वामी दयानन्द ने कहा है कि वेद में पृथिवी से परमात्मा-पर्यन्त सब पदार्थों की स्तुति अर्थात् ज्ञान का वर्णन है। गिनती में प्रत्यक्ष पदार्थ अधिक हैं। स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि वेदों में कर्मकाण्ड ही है। कर्मकाण्ड तो नहीं, हाँ, पदार्थों के कर्मों का वर्णन वेद में बहुत अधिक है और यही अभिप्राय यास्क का है। उसका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष से अभिप्राय पदार्थों से ही है। अतः स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि वेद केवल कर्मकाण्ड ही हैं, यह सत्य नहीं। उसमें अध्यात्म का ज्ञान भी है।

अतएव वेदों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थ के कर्मों का वर्णन है। उन कर्मों के ज्ञान से ही उन पदार्थों का ज्ञान होता है।

वे सब पदार्थ, जिनकी स्तुति (ज्ञान) वेदों में है, वे सब देवता अर्थात् दिव्यगुणयुक्त नहीं। उनमें सामान्य व्यवहार के पदार्थ भी हैं। मनुष्यों के सामान्य व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं का भी वर्णन है। इतना स्मरण रखना चाहिए कि सब-कुछ सिद्धान्तात्मक ही है, व्याख्यात्मक नहीं।

परन्तु हम यहाँ देवताओं के विषय में लिख रहे हैं। वे देवता, जो प्राणी की भाँति नहीं हैं। न वेद उनको जीवित प्राणी मानता है, न हम मानते हैं। इस विषय पर विवेचना देवताओं का वर्णन करते हुए करेंगे। यहाँ इतना लिख देना चाहते हैं कि यास्क, शौनक और कुछ अन्य भाष्यकारों ने, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के पीछे के काल के हैं, देवताओं के विषय में कई-एक अयुक्तियुक्त बातें लिखी हैं। देवताओं के विषय में उनके सामान्य कथन को स्वीकार करते हुए भी हम देवताओं के यज्ञ में भाग और यज्ञ में उनकी प्रतिष्ठा के विषय में उनके कथन से मतभेद रखते हैं।

वास्तव में हमारी यज्ञ की परिभाषा उनकी यज्ञ की परिभाषा से भिन्न है। हम यज्ञ उस कर्म को कहते हैं जो सर्वहिताय हो; अग्नि में सुगन्धित द्रव्य, जल, घी, इत्यादि की आहुतियाँ देने को ही हम यज्ञ नहीं मानते। जहाँ-जहाँ वेद में यज्ञ का उल्लेख आया है, उसका अर्थ सर्वहिताय कर्मों से ही है। यज्ञ की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु से है। यज् के अर्थ हैं—देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु—ये सब कर्म सबके हित के लिए हैं। परमात्मा भी यही कर रहा है। देवता भी परमात्मा से लगाए हुए यज्ञ कर रहे हैं। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होने से कभी अपने कर्म को यज्ञरूप अर्थात् सर्वहिताय करता है और कभी नहीं भी करता। देवता तो ऋतों में बँधे हुए सदा एक-सा कार्य करते हैं और सदा सर्वहिताय ही कर्म अर्थात् यज्ञ ही कर रहे हैं।

अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो यज्ञ की बात कही गई है, वह हम पूर्णतः उचित नहीं मानते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः स्वामी शंकराचार्य जब कहते हैं कि वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं, कदाचित् उनका अभिप्राय ब्राह्मण-ग्रन्थों से है। यह ऐसे ही है जैसे पुराण इतिहास के ग्रन्थ हैं। उनमें वेद का नाम अथवा वेद के किसी अंश, प्रसंग की व्याख्या आ जाए तो वह इतिहास-पुराण, वेद का अंग नहीं हो जाता। यही बात ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की है। वहाँ यज्ञों के लिए विधि-विधान कहे हैं। साथ ही उन विधि-विधानों के साथ वेद-मंत्र पढ़ने के लिए कहे हैं। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वेद में उस यज्ञ के करने का विधान है। अभिप्राय यह कि स्वामी शंकराचार्य का कथन ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्ड के विषय में हो सकता है, परन्तु वेद में वैसा कहीं नहीं कहा है।

हमारा कथन है कि वेदों में अनेक कर्मों का वर्णन है, परन्तु यह कि वे कर्म यज्ञ हो गए, अथवा जो भी कर्म करने के लिए वेद में कहा गया, वह यज्ञ ही है, उचित नहीं। यज्ञ उस कर्म को कहते हैं, जिसका उद्देश्य सर्वहिताय हो। वेद में सर्वहिताय कर्म भी कहे हैं। सत्य की विजय के लिए राक्षस (दुष्टों) के विनाश की बात भी कही है।

यह तो हुआ वेदों में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में, अर्थात् मंत्रों-सूक्तों इत्यादि पर लिखे देवता के विषय में।

देवताओं के विषय में शौनक ऋषि कहते हैं—

सत्त्वान्यमूर्तान्यपि च देवतावन्महर्षयः।
पुष्टुवर्ऋषयः शक्त्या तासु तासु स्तुतिष्विह॥
यैस्त्वाग्निरिन्द्रः सोमश्च वायुः सूर्यो बृहस्पतिः।
चन्द्रोऽथ विष्णुः पर्जन्यः पूषा चाप्यृभवोऽश्विनौ॥
रोदसी मरुतो देवाः पृथिव्यापः प्रजापतिः।
देवौ च मित्रावरुणौ पृथक् सह च तावुभौ॥
विश्वे च देवाः सविता त्वष्टा वै रूपकृन्मतः।
अश्वोऽन्नमृत्विजो वज्रो ग्रावाणो रथसंयुताः॥
स्तुताः पृथक् पृथक् स्वैः स्वैः सूक्तैर्ऋग्भिश्च नामभिः।
स्तुतौ स्तुतौ प्रवक्ष्यामि तानि तेषामनुक्रमात्॥

(बृहद्देवता १-८१, ८२, ८३, ८४, ८५)

अर्थ है—ऋषियों और महर्षियों ने अपनी योग्यतानुसार शरीर-सहित और रूप-सहित देवताओं की भी स्तुति की है॥८१॥

अग्नि, इन्द्र, सोम, वायु, सूर्य, बृहस्पति, चन्द्र, विष्णु, पर्जन्य, पूषः, ऋभवः, अश्विनों॥ ८२॥

आकाश, पाताल, मरुत देवता, पृथिवी, आपः, प्रजापति, दिव्य गुणवाले मित्र और वरुण इकट्ठे और पृथक्-पृथक् का भी कथन है॥ ८३॥

और विश्वेदेवा, सविता और त्वष्टा जो रूप बनाते हैं, अश्व, अन्न, ऋत्विज्, वज्र, ग्रावाणः, इन सब देवताओं के अपने-अपने रथ हैं॥ ८४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सब देवता पृथक्-पृथक् अपने-अपने नामों, मंत्रों और सूक्तों में स्तुति किये गए हैं। मैं (शौनक कहता है) इनकी स्तुति क्रमवार करूँगा ॥ ८५ ॥

शौनक देवताओं की गणना इस प्रकार कराता है—

१. अग्निः, २. इन्द्रः, ३. सोम, ४. वायु, ५. सूर्य, ६. बृहस्पति, ७. चन्द्र, ८. विष्णु, ९. पर्जन्य, १०. पूषं, ११. अश्विनौ, १२. आकाश-पाताल, १३. दिव्य मरुत, १४. पृथिवी, १५. आपः, १६. प्रजापतिः, १७. मित्र, १८. वरुण (पृथक्-पृथक् और इकट्ठे), १९. विश्वेदेवाः, २०. वस्तुओं के रूप बनानेवाले सविता, २१. त्वष्टाः, २२. अश्व, २३. ऋत्विज्, २४. वज्रः, २५. ग्रावाणः।

इस प्रकार शौनक ने २५ देवताओं के नाम गिनाए हैं।

देवताओं के विषय में सामान्य बातें

देवताओं में एक ही आत्मा अर्थात् तत्त्व का पदार्थ है। ऐसा यास्क ने कहा है। वह कहता है—

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। (निरु० ७-४)

अर्थ है—महान् ऐश्वर्यवाला होने से देवताओं का एक ही आत्मा (तत्त्व पदार्थ) है। उसके गुण बहुत प्रकार से कहे गए हैं।

यह एक पदार्थ क्या है, जिसे सत्त्व अथवा आत्मा कहा है? इस विषय में यास्क अगले ही वाक्य में कहता है—

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः ॥ (निरुक्त० ७-४)

अर्थ है—एक के अस्तित्व से दूसरे देवता उसके प्रत्यंग होते हैं और यह भी कहा है कि (देवताओं के) अस्तित्व का महत्त्व मूल प्रकृति है, ऐसा ऋषि कहते हैं (वर्णन करते हैं)।

प्रकृति मूल से सब देवता हैं और तदनन्तर एक से दूसरे उत्पन्न होते हैं।

यह यास्क का कथन है। यास्क ने इसे वेद से लिया है। जैसा शौनक ने कहा कि देवताओं के कर्म वेद-मंत्रों से पता चलते हैं, वैसे ही यह बात भी कि सब देवता प्रकृति से एक-दूसरे के उपरान्त उत्पन्न होते हैं, वेद में भलीभाँति वर्णित है।

इस विषय में ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १२९ में प्रकृति से सृष्टि-रचना का वर्णन मिलता है। इस सूक्त में कुछ इसी प्रकार कहा है—

पहले यहाँ कुछ स्वरूपवान् और अस्वरूपवान् भी (सत् और असत्) नहीं था। (ऋ० १०-१२९-१)

आगे कहा है कि उस समय दो ही पदार्थ थे। एक 'आनीत् अवातम्' और दूसरा 'स्वधा'। 'आनीत् अवातम्' का अभिप्राय है शक्ति जो निश्चल थी, और दूसरी वस्तु 'स्वधा' जो अपने में स्थित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वधा का वर्णन अगले मंत्र में कर दिया है। (ऋ० १०-१२९-२)

कहा है—वह स्वधा अन्धकारमय थी। अप्रकेतम्—जानी नहीं जा सकती थी। सब स्थान पर व्यापक थी और सलिल अवस्था में थी। (ऋ० १०-१२९-३)

'सलिल' का अर्थ है, बह जानेवाली। बहती वस्तुएँ वे हैं जिनके कण परस्पर जुड़े हुए न हों, जैसे रेत के अथवा जल के कण। इसी प्रकार प्रकृति के परमाणु एक-दूसरे से असम्बद्ध थे।

रचना के समय एक तेज उत्पन्न हुआ, जिसने तप किया और परिश्रम किया। (ऋ० १०-१२९-३)

परिश्रम कैसे किया ? वह भी आगे कहा है—

सृष्टि-रचना से पूर्व एक मननशील तत्त्व था, उसकी कामना सृष्टि-रचना का बीज बन गई, अर्थात् किसी की इच्छामात्र से रचना आरम्भ हो गई। (ऋ० १०-१२९-४)

वह मननशील तत्त्व अतिविद्वान् था। वह कामना उससे प्रेरित होकर अव्यक्त (इन्द्रियों से न जानी जा सकने योग्य) प्रकृति को व्यक्त (दृश्य) जगत् में बाँधने लगी।

कामना रश्मियों की भाँति चारों ओर परमाणुओं के ऊपर-नीचे फैल गई। सृष्टि के पदार्थ बनने लगे और (महिमानः) जीवात्माएँ भी आ गईं और अपना भाग लेने लगीं। (ऋ० १०-१२९-५)

परमात्मा सर्वज्ञ (सब-कुछ जानता) है। वह जानता है कि वह कामना कहाँ से उत्पन्न हुई और किस प्रकार कार्य करने लगी। उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता। (ऋ० १०-१२९-६,७)

इस प्रकार सृष्टि-रचना का कार्य आरम्भ हो गया।

वेद के अगले सूक्त १०-१२९ और सूक्त १०-१३० का विषय एक ही है। विषय है—भाववृत्तम्—रचना का वृत्तान्त। अतः सूक्त १०-१२९ का विषय ही अगले सूक्त १०-१३० में जारी है। जो रचना-यज्ञ चारों ओर फैलने लगा था, वह १०१ देव-वर्षों तक होता रहा। ब्रह्माण्ड (नेबुला) में पकता रहा। कार्य करनेवाली शक्तियाँ इसका ताना-बाना ऊपर से नीचे बुनती रहीं। एक सौ एक देव-वर्ष के उपरान्त यह स्थिर हो कार्य करने लगा। (ऋ० १०-१३०-१)

परमात्मा ही इसके इस काल में, ताने-बाने की भाँति इसे बुनता रहा। परमात्मा का कार्य रश्मियों (शक्ति की तरंगों) द्वारा होता रहा। सृष्टि-रचनायज्ञ को ये तरंगें बुनती रहीं। (ऋ० १०-१३०-२)

इस प्रकार दिव्य गुणवालों ने यज्ञ किया (सब देवता ईश्वरेच्छा से रचना-कार्य करने लगे) देवम् यजन्त—परमात्मा ने यज्ञ किया। वे देवता क्या कार्य करने लगे ? वे कहाँ तक फैल गए ? इस जगत् की सीमा कहाँ तक थी ? (ऋ० १०-१३०-३)

यहाँ इस मंत्र में कहा है कि इस प्रकार बने देवता क्या कार्य करने लगे ? वह कार्य अगले मंत्रों में वर्णन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने जो ऋग्वेद के १०-१२९, १३० सूक्तों के कुछ मंत्रों का भावार्थ बताया है, उससे यह स्पष्ट है कि देवता का बनना और उनका काम वेद में कहा है। ये मंत्र उनके बनने के विषय में हैं। प्रकृति के परमाणु ही इनका मूल हैं।

इससे भी स्पष्ट एक अन्य स्थान पर इस प्रकार कहा है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ १॥
यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ २॥
असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥ ३॥
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥ ४॥

(ऋ० १-१६३-१,२,३,४)

इन मंत्रों का देवता (विषय) है—अश्वो अग्निः—अर्थात् रचना-कार्य को चलाने-वाली अग्नि। अश्व—गाड़ी को चलानेवाला होता है। यहाँ चलानेवाले का अभिप्राय अश्व नामक पशुविशेष से नहीं है।

मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—(हे अर्वन्! श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू यत् उत् समुद्रात् अक्रन्दः प्रथमम् जायमानः उत वा पुरीषात्) हे अर्वन्! अश्व (सृष्टि-रचना करनेवाले) तुम श्येन के पंखों और हिरण की बाहों की गति से चलते हुए जब अन्तरिक्ष से ऊपर को जाते हुए, घोर नाद करते हुए सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले स्तुति (ज्ञान प्राप्त) किये जाने योग्य हो। (ते उप-स्तुत्यम् महि जातम्) उससे बहुत ही स्तुति (ज्ञान प्राप्त) करने योग्य उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥

(एनम् त्रितः प्रथमः इन्द्रः अधि अतिष्ठत् यमेन दत्तम् एनम् अयुनक्) यह त्रित [परमाणु] पहले इन्द्र से अधिष्ठित [नियंत्रित] था। तब यम (परमात्मा) द्वारा दी हुई शक्ति ने इस [त्रित] को जोड़ लिया। ऐसे जोड़ लिया जैसे घोड़े के मुख में लगाम दे दी जाती है। (गन्धर्वः अस्य सूरात् रशनाम् अगृभ्णात् वसवः अश्वं निः अतष्ट) नियंत्रण में आए हुए परमाणुओं ने बलवान् रश्मियों को स्वीकार कर लिया। हे वसुओ! प्रभावित परमाणुओं को [अश्व को] उस तेज को जो लगाम बना हुआ है, भलीभाँति काम में लाओ ॥ २ ॥

(असि यमः असि आदित्यः असि अर्वन् त्रितः गुह्येन व्रतेन) हे अर्वन्! तुम नियंत्रण करनेवाले प्रकाशमान रचना-कार्य चलानेवाले हो, गुप्त शक्ति से बँधे हुए परमाणु के। (असि सोमेन समया विपृक्तः) त्रित की साम्यावस्था विपृक्त हुई। (त्रीणि ते आहुः त्रीणि दिवि बन्धनानि) इससे तीन कहे जाते हैं। ये तीन दिव्य संयोग होते हैं ॥ ३ ॥

(अन्तः समुद्रे आहुः ते त्रीणि दिवि बन्धनानि त्रीणि अप्सु) कहा जाता है कि अन्तरिक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तीन दिव्य संयोग तीन आपः में हैं। (उत-इव मे वरुणः छन्त्सि अर्वन्) इस प्रकार मेरा पवित्र छन्दों का उच्चारण करनेवाला तू अर्वन् है। (आहुः ते परमम् जनित्रम्) कहा जाता है कि उस आपः ने महान् जगत् उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

त्रीणि बन्धनानि—सूर्य में बने और फिर अन्तरिक्ष में आकर तीन आपः हो गए।

इन चार मंत्रों में वही बात (जो ऋ० १०-१२९-१ से ७ में ऊपर वर्णन की है) कही गई है। कुछ अन्तर भी है। वहाँ रचना से पूर्व की व्याख्या भी थी। स्वधा की अवस्था का भी वर्णन था। यहाँ स्वधा के परमाणु को त्रित, गुप्त व्रत से संगठित वर्णन किया है अर्थात् उसकी व्याख्या यहाँ है। उस अवस्था की जो रचना से पूर्व थी और परमाणु की अवस्था का वर्णन है। और कहा है कि पहले उस पर इन्द्र अधिष्ठित था। उस इन्द्र को परमाणु से हटाकर परमात्मा का अर्वन् (तेज) परमाणु पर अधिष्ठित हो गया, फिर परमाणुओं में परस्पर आकर्षण-विकर्षण होने लगा और तब सृष्टि-रचना होने लगी।

उन दस मंत्रों (ऋ० १०-१२९, १३०) में अन्तिम मंत्र में कहा है कि जो देवता प्रकृति से बने, वे क्या करने लगे। उनका कार्य अगले मंत्रों (ऋ० १०-१३०-४,५,६) में बताया है। इस समय हमने वे मंत्र नहीं दिए। इस कारण कि वह विषय इस समय समक्ष उपस्थित नहीं।

यहाँ मंत्र (ऋ० १-१६३-४) में इतना बता दिया है कि वे आपः परमात्मा की वाणी, वेदों का उच्चारण करने लगे।

इस प्रकार हमने बताया है कि यास्क के अनुसार देवताओं का मूल प्रकृति है। वेद में भी इसका वर्णन है।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्…

—यास्कः निरुक्त—७-५

अर्थ है—

तीन ही देवता हैं—ऐसा निरुक्ताचार्य मानते हैं। एक अग्नि, जो पृथिवी स्थान पर पाई जाती है; दूसरा वायु अथवा इन्द्र, अन्तरिक्ष स्थानवाला। तीसरा सूर्य, द्यु स्थानवाला। तीनों महान् ऐश्वर्यवाले हैं। एक-एक के भी बहुत नामोंवाले देवता हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसा ऊपर वर्णन किया है—सब देवता प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति जड़ पदार्थ है। इस कारण यह स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती। हमने बताया है कि परमात्मा का तेज, जिसे अर्वा भी कहा है, ही से देवताओं की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा चेतन है। उसका तेज उसी के आदेश से कार्य करता है। प्रकृति तेज के प्रभाव से बदलती है और उसके परिणाम बनने लगते हैं। कुछ परिणाम दिव्य गुणयुक्त होते हैं। वे भी देवता कहे जाते हैं।

यहाँ कहा है कि मुख्य देवता तीन हैं—पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्युलोक में सूर्य।

ऐसा समझना चाहिए कि हम केवल सौर-मण्डल की बात कर रहे हैं। सूर्य, उसके चारों ओर घूमनेवाले नक्षत्र और उनके भीतरी स्थान को अन्तरिक्ष कहा है।

पृथिवी से अभिप्राय वे सब भुवन हैं जो सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं।

सूर्यमण्डल से बाहर की बात नहीं हो रही है। इसमें तीन ही देवता हैं। तीनों महान् ऐश्वर्य (सामर्थ्य) रखनेवाले हैं। इस कारण ये अनेक काम करते हैं और उनसे कई अन्य प्रकार के देवता उत्पन्न हो जाते हैं।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि देवताओं में दिव्यता (विशेषता) उनमें इन्द्र के कारण, अग्नि के कारण और सूर्य के कारण है। तीन स्रोत ही सामर्थ्य का भण्डार हैं।

देवताओं की बातें

इन देवताओं का पुरुषों (मनुष्यों) की भाँति धीरे-धीरे क्षीण होने का वर्णन अनेक स्थानों पर आता है। वे अपनी बाहों और हाथों से अमुक कार्य करते हैं। कई स्थान पर कहा है कि वे स्वेच्छा से खाते हैं, लड़ते हैं, शत्रुओं का नाश करते हैं।

यास्क कहता है—

यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति। अचेतनेष्वप्ये तद्भवति।

(यास्क—७-७)

अर्थ है—ये पुरुषों के सदृश अंगों से स्तुति किए जाते हैं। यह अचेतनों में भी होता है।

मनुष्य जो कर्म अपने अंगों से करते हैं, वही काम जब देवताओं द्वारा होते देखे जाते हैं तो उनको समझाने के लिए मनुष्य से उनकी तुलना की जाती है। परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि उनके वैसे अंग होते हैं जैसे मनुष्यों के होते हैं।

कर्म में समानता को समझाने के लिए मनुष्य के उन अंगों से तुलना की जाती है, जिनमें वैसे कर्म होते हैं।

उदाहरण के रूप में अग्नि पेट के अन्न को खा जाती है। खा जाती है का अभिप्राय है जीर्ण कर देती है।

सूर्य अपनी दो बाहों और दो हाथों से पृथिवी पर प्राणियों का पोषण करता है। सूर्य की बाहें नहीं हैं। इसकी दो प्रकार की किरणें आती हैं—प्रकाश-रश्मि और ऊष्मा-रश्मि। वे कार्य करती हैं, जैसे मनुष्य की बाहें कार्य करती हैं। बस, इतने से ही अभिप्राय है।

जैसे मनुष्य-शरीर चेतन है आत्मा के होने से, और इसमें बैठी परमात्मा की प्राणशक्ति कार्य करती है, वैसे ही देवता भी मनुष्य-शरीर की भाँति जड़ हैं। उनके मनुष्य-शरीर की भाँति अवयव नहीं होते।

अग्नि को समझाने के लिए यास्क एक वेद-मंत्र देता है। वह इस प्रकार है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

(ऋ० १०-१७-३)

पदच्छेद—पूषा, त्वा, इतः, च्यवयतु, प्र विद्वान्, अनष्ट-पशुः, भुवनस्य, गोपाः सः त्वा, एतेभ्यः, परि ददत्, पितृभ्यः, अग्निः, देवेभ्यः, सुविदत्रियेभ्यः॥

मन्त्रार्थ—(पूषा त्वा इतः प्र च्यवयतु विद्वान् अनष्ट-पशुः भुवनस्य गोपाः) पुष्टिकारक [सूर्य] तुमको इसकी प्राप्ति करावे। विद्वान् [परमात्मा] न नाश होनेवाले पशु से युक्त भुवन का मालिक है। (सः अग्निः एतेभ्यः पितृभ्यः सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः परि ददत्) वह अग्नि तुमको इन पितरों (ज्ञानियों) देवताओं के लिए देवे।

मंत्र का अभिप्राय यह है कि सूर्य से अग्नि प्राप्त होती है, जो न नाश होनेवाले पशुओं से नक्षत्र का पालक (पालन करती) है।

पशुओं से अभिप्राय अन्तरिक्ष में शक्ति के अणु हैं जिन्हें क्वान्टम अथवा कॉस्मिक डस्ट कहते हैं, उनसे ही पृथिवी आदि नक्षत्र बने हैं। वे पशु और भवन, दोनों परमात्मा की रक्षा में हैं।

उस अग्नि से ही पृथिवी पर पितर (अमैथुनीय सृष्टि के प्राणी) देवता, नक्षत्र, इन्द्रादि और विद्वान् जिन्होंने वेद पृथिवी पर ग्रहण किए, शक्ति प्राप्त करते हैं, जिससे वे कार्य कर सकते हैं।

इस मंत्र में सूर्य से सूर्यमण्डल में प्रसारित होनेवाली अग्नि का उल्लेख है।

पहले कहा था कि देवता तीन हैं। शेष उनकी सन्तान ही हैं। यह अग्नि के विषय में कहा है कि यह पृथिवी पर सूर्य से आती है और पितरों, देवताओं और ज्ञानी ऋषियों में कर्म-शक्ति उत्पन्न करती है। देवताओं की ये सामान्य बातें यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में वर्णन की हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन शास्त्र

दर्शनशास्त्र वेद के उपांग हैं। ये छः हैं।

(१) पूर्व-मीमांसा

मीमांसा शब्द का अर्थ (पाणिनि के अनुसार) जिज्ञासा है। जिज्ञासा अर्थात् जानने की लालसा।

अतः पूर्व-मीमांसा शब्द का अर्थ है जानने की प्रथम जिज्ञासा। इसके सोलह अध्याय हैं।

मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ तो उसकी प्रथम जिज्ञासा यही रही थी कि वह क्या करे? अतएव इस दर्शनशास्त्र का प्रथम सूत्र मनुष्य की इस इच्छा का प्रतीक है।

ग्रन्थ का आरम्भ ही महर्षि जैमिनि इस प्रकार करते हैं—

अथातो धर्मजिज्ञासा॥ —पू० मी० १-१-१

अब धर्म (करणीय कर्म) के जानने की जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए ही यह पूर्ण (१६ अध्याय वाला) ग्रन्थ रचा गया है।

कर्म एक विस्तृत अर्थवाला शब्द है। अतः इसके विषय में १६ अध्याय और ६४ पादोंवाला ग्रन्थ लिखना उचित ही था।

यहाँ हम इस ग्रन्थ की झलक मात्र भी देने में असमर्थ हैं। केवल इतना बता देना ही पर्याप्त समझते हैं कि धर्म की व्याख्या यजुर्वेद में की गई है। हम बता आये हैं कि इस वेद के आरम्भ में ही यज्ञ की महिमा का वर्णन है। वैदिक परिपाटी में यज्ञ का अर्थ देव-यज्ञ ही नहीं है, वरन् इसमें मनुष्य के प्रत्येक प्रकार के कार्यों का समावेश हो जाता है।

बढ़ई जब वृक्ष की लकड़ी से कुर्सी अथवा मेज बनाता है तो वह यज्ञ ही करता है। वृक्ष का तना जो मूल रूप में ईंधन के अतिरिक्त, किसी भी उपयोगी काम का नहीं होता, उसे बढ़ई ने उपकारी रूप देकर मानव का कल्याण किया है। अतः बढ़ई का कार्य यज्ञरूप ही है।

एक अन्य उदाहरण ले सकते हैं। कच्चे लौह को लेकर योग्य वैज्ञानिक और कुशल शिल्पी एक सुन्दर कपड़ा सीने की मशीन बना देते हैं। इस कार्य से मानव का कल्याण हुआ है। इस कारण यह भी यज्ञरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार के कर्मों की व्याख्या इस दर्शनशास्त्र में है।

(२) ब्रह्मसूत्र (उत्तर-मीमांसा)

जब मनुष्य जीवन-यापन करने लगता है तो उसके मन में दूसरी जिज्ञासा जो उठती है, वह है ब्रह्म-जिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र ही है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥

ब्रह्म के जानने की लालसा।

इस जिज्ञासा का चित्रण श्वेताश्वतर उपनिषद् में बहुत भली-भाँति किया गया है। उपनिषद् का प्रथम मन्त्र है—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति—
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

—श्वे० उ० १-१

अर्थ है—ब्रह्म का वर्णन करनेवाले कहते हैं, इस (जगत्) का कारण क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? कहाँ स्थित हैं? (कैसे स्थित हैं?) यह सुख-दुःख क्यों होता है? ब्रह्म की जिज्ञासा करनेवाले यह जानना चाहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य सृष्टि में आया तो प्रथम प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह क्या करे? इस बात का कुछ ज्ञान होने पर दूसरा प्रश्न उत्पन्न हुआ कि 'यह सब क्या है, क्यों है? क्या होनेवाला है?' इत्यादि।

पहली जिज्ञासा कर्म (धर्म) की जिज्ञासा थी, और दूसरी जिज्ञासा जगत् का मूल कारण जानने (ज्ञान) की थी।

इस दूसरी जिज्ञासा का उत्तर ही ब्रह्मसूत्र अर्थात् उत्तर-मीमांसा है।

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और १६ पाद हैं। इसमें बताया है कि तीन ब्रह्म अर्थात् मूल पदार्थ हैं—प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। तीनों अनादि हैं। इनका आदि-अन्त नहीं। तीनों ब्रह्म कहाते हैं और जिसमें ये तीनों विद्यमान हैं, अर्थात् जगत्, वह परम-ब्रह्म है।

प्रकृति परमाणुरूप है जो त्रित (तीन शक्तियों—सत्त्व, रजस् और तमस् का गुट्ट) है। इन तीनों अनादि पदार्थों का वर्णन ब्रह्मसूत्र (उत्तर-मीमांसा) में है।

जीवात्मा का वर्णन करते हुए इसके जन्म-मरण के बन्धन में आने का वर्णन भी ब्रह्मसूत्र में है। साथ ही मरण-जन्म से छुटकारा पाने का भी वर्णन है।

यह दर्शन भी वेद में कहे मन्त्रों की व्याख्या में ही है।

(३) सांख्य दर्शन

इस दर्शनशास्त्र में प्रकृति के परिणामों के बनने-टूटने का वर्णन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति मूलरूप में सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था को कहते हैं। तीनों आवेश परस्पर एक-दूसरे को निःशेष (neutralize) कर रहे होते हैं, जैसे त्रिकंटी की तीन टाँगें एक-दूसरे को निःशेष कर रही होती हैं।

परमात्मा का तेज परमाणु (त्रित) की साम्यावस्था को भंग करता है और असाम्यावस्था आरम्भ होती है। रचना-कार्य में यह प्रथम परिवर्तन है।

इस अवस्था को महत् कहते हैं। यह प्रकृति का प्रथम परिणाम है। इसमें परमाणु की तीन शक्तियाँ बहिर्मुख होने से आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करने लगती हैं। अब परमाणुओं के समूह बनने लगते हैं। तीन प्रकार के समूह देखे जाते हैं। एक वे जिनसे रजस् गुण शेष रह जाता है। यह तेजस् अहंकार कहाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इलैक्ट्रोन कहते हैं।

दूसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें सत्त्व गुण प्रधान होता है। वह वैकारिक अहंकार कहलाता है। इसे वर्तमान वैज्ञानिक प्रोटोन कहते हैं।

तीसरा परमाणु-समूह वह है जिसमें तमस् गुण प्रधान होता है। इसे वर्तमान विज्ञान की भाषा में न्यूट्रोन कहते हैं। यह भूतादि अहंकार है।

इन अहंकारों को वैदिक भाषा में आपः कहा जाता है। ये (अहंकार) प्रकृति का दूसरा परिणाम हैं।

तदनन्तर इन अहंकारों से पंच महाभूत बनते हैं, अर्थात् तीनों अहंकार जब एक समूह में आते हैं तो वे परिमण्डल कहाते हैं।

और भूतादि अहंकार एक स्थान पर (न्यूनाधिक संख्या में) एकत्रित हो जाते हैं तो भारी परमाणु-समूह बीच में हो जाते हैं और हल्के उनके चारों ओर घूमने लगते हैं। इसे वर्तमान विज्ञान 'ऐटम' कहता है। दार्शनिक भाषा में इन्हें परिमण्डल कहते हैं। परिमण्डलों के समूह पाँच प्रकार के हैं। इनको महाभूत कहते हैं—

(१) पार्थिव
(२) जलीय,
(३) वायवीय,
(४) आग्नेय,
(५) आकाशीय।

(४) वैशेषिक दर्शन

मूल पदार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन तो ब्रह्मसूत्र में है। ये तीन पदार्थ ब्रह्म कहाते हैं। प्रकृति के परिणाम अर्थात् रूपान्तर दो प्रकार के हैं। महत्, अहंकार, तन्मात्रा तो अव्यक्त हैं, इनका वर्णन सांख्य दर्शन में है। परिमण्डल, पंच महाभूत तथा महाभूतों से बने चराचर जगत् के सब पदार्थ व्यक्त पदार्थ कहाते हैं। इनका वर्णन वैशेषिक दर्शन में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) न्यायदर्शन

न्यायदर्शन में अन्वेषण अर्थात् जाँच-पड़ताल के उपायों का वर्णन किया गया है।

कहा है कि सत्य की खोज के लिए सोलह तत्त्व हैं। उन तत्त्वों के द्वारा किसी भी पदार्थ की सत्यता (वास्तविकता) का पता किया जा सकता है। ये सोलह तत्त्व हैं—

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

इन सबका वर्णन न्यायदर्शन में है और इस प्रकार इस दर्शनशास्त्र को तर्क करने का व्याकरण कह सकते हैं।

वेदार्थ जानने में तर्क का विशेष महत्त्व है। अतः यह दर्शनशास्त्र वेदार्थ करने में सहायक है।

दर्शनशास्त्र में कहा है—

तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ —न्याय० १-१-१

अर्थात्—इन सोलह तत्त्वों के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है (सत्य की खोज में सफलता प्राप्त होती है)।

(६) योगदर्शन

योग है जीवात्मा का सत्य के साथ संयोग अर्थात् सत्य-प्राप्ति का उपाय। यह माना जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है और ज्ञान बुद्धि की श्रेष्ठता से प्राप्त होता है।

भगवद्गीता में कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। —भ० गीता ३-४३

अर्थात्—इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को जानकर, आत्मा के द्वारा आत्मा को वश में करके (अपने पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है)।

यही योग है।

इसे प्राप्त करने का उपाय योगदर्शन में बताया है। आत्मा पर नियन्त्रण बुद्धि द्वारा, यह योगदर्शन का विषय है। इसका प्रारम्भिक पग योगदर्शन में ही बताया है।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ —योग० २-१

अर्थात्—तप (निरंतर प्रयत्न), स्वाध्याय (अध्यात्म-विद्या का अध्ययन) और परमात्मा के आश्रय से योग का कार्यक्रम हो सकता है।

मुख्यतः योग-क्रियाओं का लक्ष्य है बुद्धि को विकास देना। यह कहा है कि बुद्धि के विकास का अन्तिम रूप है—

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ —योग० १-४८,४९

अर्थात्—(योग से प्राप्त) बुद्धि को ऋतम्भरा कहते हैं और इन्द्रियों से (प्रत्यक्ष) तथा अनुमान से होनेवाला ज्ञान (सामान्य) बुद्धि से भिन्न विषय (अर्थ) वाला हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान सामान्य बुद्धि से प्राप्त होता है वह भिन्न है और ऋतम्भरा (योग से सिद्ध हुई बुद्धि) से प्राप्त ज्ञान भिन्न अर्थवाला होता है।

इससे ही अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक काल

वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् एवं इतिहासकार पण्डित श्री भगवद्दत्त कहा करते थे कि वैदिक काल मिथ्यात्व (मिथ्या कथन) है। ऐसा काल जिसमें वेदों की सृष्टि हुई, कोई नहीं हुआ। हम समझते हैं कि उनका कथन ठीक है।

यूरोपियन विद्वान् समझते हैं कि वेद ईसा से दो-तीन सहस्र वर्ष पूर्व रचे गये। वे उस काल को ही वैदिक काल कहते हैं। वैदिक परम्परा है कि वेद उस समय कहे गये, जब बृहस्पति, सूर्य इत्यादि देवता बने। यूँ तो वेद अनादि तथा अपौरुषेय हैं। ये इतने ही पुराने हैं जितना परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति है, अर्थात् इनका आदि-अन्त नहीं है।

तदपि, यह वेद में ही बताया है कि इनका आविर्भाव पृथिवी पर मानव-सृष्टि होने से बहुत पहले से ही हो रहा था। जब मनुष्य पैदा हुआ तो ऋषियों ने वेद-ज्ञान को देवताओं द्वारा प्रसारित हुआ अनुभव किया और फिर मानवी (राष्ट्री) भाषा में मनुष्य मात्र को सुनाया।

यह सब वेद में वर्णित है।

अतः पण्डित भगवद्दतजी का कथन ठीक है कि जब वेद कहे गये हों ऐसा कोई काल नहीं था। हाँ, जब ऋषियों ने मानवी भाषा में वेद कहे, वह काल तो है। उसे वैदिक काल कहा जा सकता है। परन्तु उस समय मनुष्य भौतिक दृष्टि से बहुत ही सरल जीवन व्यतीत करता होगा।

हम इसे वैदिक काल कहते हैं। वेद कहे जाने के काल को हम वैदिक काल नहीं कह सकते। इतिहास में उस काल को वैदिक काल कहते हैं जब वैदिक भाषा ही राष्ट्री भाषा थी, अर्थात् वैदिक भाषा और बोलने की भाषा में अन्तर नहीं था। दूसरे शब्दों में यह समझना चाहिए कि जब ऋषि लोग वेद-मन्त्र कहते थे तो सुननेवाले उसका अर्थ समझ जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता

हिन्दुओं के एक बहुत बड़े वर्ग में यह मान्यता है कि गीता का उपदेश, मनुष्य की वृद्धावस्था में अथवा उसके मरणोन्मुख होते समय दिया जाता है। किसी के विवाह के अवसर पर गीता की प्रति भेंट में देना, लोग उचित नहीं मानते।

हिन्दू मानसिकता के पतन की ही यह अवस्था कही जा सकती है। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश अर्जुन को उसकी मृत्यु अथवा वृद्धावस्था के समय नहीं दिया था, अपितु यह उपदेश युद्धभूमि के मध्य दिया गया था जिसे सुनकर अर्जुन धर्मयुद्ध में मरने-मारने के लिए तैयार हो गया था। अतः यह निश्चित है कि गीता का उपदेश प्रेरणा देनेवाला है, न कि जीवन से उपराम करनेवाला। तभी तो भारतीय क्रान्तिकारी, हाथ में गीता की प्रति लेकर प्रसन्नतापूर्वक फाँसी के फन्दे पर झूलने को तैयार हो जाते थे।

युद्ध एक कर्म है। कर्म धर्मयुक्त भी हो सकता है तथा अधर्मयुक्त भी। धर्म की स्थापना के लिए किया गया युद्ध, धर्म-कर्म ही माना जाएगा। इस युग में प्रायः कहा जाता है कि राजनीति में धर्म का समावेश नहीं करना चाहिए। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह निकलता है कि या तो वे लोग अज्ञानी हैं, अथवा महाधूर्त हैं। यही कारण है कि आज जितनी गन्दगी राजनीति में प्रवेश कर चुकी है, उतनी गन्दगी के ढेर में भी नहीं मिलेगी।

पृष्ठभूमि

महाभारत-युद्ध के समय जब कौरवों तथा पाण्डवों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं, ठीक उसी समय अर्जुन के मन में मोह उत्पन्न हो गया। उसके मोह का कारण था—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ —भ० गी० १-४०

इस युद्ध में दोनों ओर सम्बन्धी, गुरुजन, पुत्र-पौत्र लड़ने-मरने के लिए तैयार होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आए हैं तथा निश्चय ही इनमें बहुत-से मारे जाएँगे। दिव्य अस्त्र चलेंगे, महाविनाश होगा। विनाश से कुल-क्षय होगा, स्त्री-वर्ग दूषित हो जाएगा, वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होगी। —भ० गी० १-३४, ३५

अर्जुन का कहना था—पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। —१-४

उसने आगे कहा—हम लोग जो राज्य और सुख के लोभ में अपने ही सम्बन्धियों की हत्या करने को उद्यत हो रहे हैं, यह हम कितना महान् पाप करने जा रहे हैं!

—भ० गी० १-४५

ये तथा ऐसी ही शंकाएँ प्रायः सभी कालों में संघर्ष के लिए उतरने से पूर्व भोले-भाले लोगों के मन में उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ धूर्त लोग जिनमें आज की शिक्षा से प्रभावित तथाकथित बुद्धिजीवी भी सम्मिलित किए जा सकते हैं, भोले-भाले लोगों के सम्मुख इस प्रकार शंकाएँ प्रस्तुत कर उनको भ्रमित करते रहते हैं। परिणामस्वरूप दुष्टजन अपनी शक्ति का विस्तार कर साधुजनों को कष्ट देते रहते हैं।

युद्ध न कभी रुके हैं और न कभी रुकेंगे। युद्ध रोकने का एकमात्र उपाय है साधुजन अपने संगठन में इतनी शक्ति संचित करके रखें कि उसके भय से दुष्टजन थर-थर काँपें। जब-जब भी साधुजनों ने अपने संगठन में ढील दी है, दुष्टों ने उन्हें त्रस्त किया है। साधुजनों को युद्ध तो तब भी करना पड़ा है, परन्तु तब भारी हानि उठाकर ही वे दुष्टों को परास्त कर पाए हैं।

महाभारत-कथा में स्थान-स्थान पर पाण्डवों ने मूर्खता की और अवसर खोते रहे। दुष्ट दुर्योधन अवसर का लाभ उठाता रहा और पाण्डवों का जीवन संकट में डालता रहा। बाल्यकाल में दुर्योधन ने भीम को विष देकर मारना चाहा। फिर लाक्षागृह में पाण्डवों को जलाकर उसने मरवाना चाहा। छल से द्यूतक्रीड़ा में उसने उनको हराकर उनका राजपाट छीना। उनको बारह वर्ष के लिए वनवास में तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में जाने के लिए उसने विवश किया और भोला-भाला युधिष्ठिर अन्त तक कहता रहा—वयं पंचाधिकं शतम्—हम एक सौ पाँच हैं (एक सौ कौरव तथा पाँच पाण्डव)।

युद्ध रोकने के सतत प्रयास के बावजूद महाभयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में १८ दिन में ५० लाख से भी कहीं अधिक योद्धा मारे गए। यह सब युधिष्ठिर की भलमनसाहत के कारण हुआ। इस युद्ध से पूर्व अनेक ऐसे अवसर आए जब पाण्डव कौरवों को समाप्त कर सकते थे, अथवा उनको दबाकर रखा जा सकता था, परन्तु उसने अवसर गँवाये और अन्त में भारी हानि उठाकर ही वह कौरवों को समाप्त कर सका।

युद्ध के पूर्व पाण्डवों ने कौरवों से पुनः सन्धि का प्रयास किया। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का दूत बनकर कौरवों की सभा में प्रस्ताव रखा कि यदि पाण्डवों को पाँच ग्राम भी मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएँ तो वे सन्तुष्ट हो जाएँगे। परन्तु दुर्योधन का कहना था—पाँच ग्राम क्या, मैं सूई की नोक के बराबर भूमि भी पाण्डवों को नहीं दूँगा।

मोह

युद्ध हुआ। परन्तु ठीक युद्ध के पूर्व अर्जुन के मन में मोह उत्पन्न हो गया। उसने कह दिया—ये कौरव हमारे भाई हैं। भाइयों को मारकर मैं तीन लोक का राज्य भी नहीं लेना चाहता।

अर्जुन को भ्रम हो गया था कि वह अपने लिए राज्य की आकांक्षा से युद्ध कर रहा है। वह भूल गया था कि कौरव दुष्ट हैं; उन्होंने पाण्डवों को न केवल अधिकार से वंचित किया है प्रत्युत द्रौपदी का अपमान भी किया है। द्रौपदी का अपमान वास्तव में समस्त स्त्री जाति का अपमान था, क्योंकि कौरव स्त्री को पुरुष की भोग्या मानने लगे थे।

इसके साथ ही अर्जुन यह भी भूल गया था कि गुरु द्रोण, पितामह भीष्म इत्यादि दुर्योधन के साथ मिलकर अधर्म कर रहे थे। तभी तो जब श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य से कहा—आचार्य, आप तो कौरवों तथा पाण्डवों के गुरु हैं, और पाण्डवों का पक्ष धर्म का है, आपको कौरवों का पक्ष लेना शोभा नहीं देता। इसके उत्तर में द्रोणाचार्य ने कहा—मैं दुर्योधन का वेतन-भोगी सेवक हूँ।

कौरवों की सभा में द्यूतक्रीड़ा के बाद जब द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया गया था और द्रौपदी ने भीष्म से धर्म की दुहाई देकर रक्षा की प्रार्थना की थी तो उसने कह दिया—

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मोविलायां भवत्यभिहतः परः॥

—महा भा० सभा० ६९-१५

धर्म की गति अति गहन है। संसार में बलवान् पुरुष जिसको धर्म समझता है, लोग उसी को धर्म मान लेते हैं। बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् से दब जाता है।

भीष्म भी भरी सभा में एक स्त्री को नग्न किए जाने का विरोध नहीं कर सका।

इसी प्रकार के अधर्माचरण का विरोध करने के लिए युद्ध होने जा रहा था, न कि अर्जुन अथवा पाण्डवों को राज्य दिलवाने के लिए।

समाधान

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन!

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

—भ० गी० २-११

तू बुद्धिमानों जैसी बात करता है। उन लोगों के लिए शोच कर रहा है जिनके लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोच नहीं करना चाहिए। ज्ञानी लोग तो न उनका शोच करते हैं जो मर गए हैं और न उनका शोच करते हैं जो अभी जीवित हैं।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

—भ० गी० २-१८, १९

ये शरीर नाश होनेवाले कहे गए हैं। जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, दोनों अज्ञानी हैं। क्योंकि वह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। —भ० गी० २-१८, १९

जो इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय (न खर्च होनेवाला) जानता है, वह भला कैसे और किसको मारता है! —२-२१

मृत्यु तो पुराने वस्त्र उतारकर नए वस्त्र पहनने के समान है। आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नए शरीर को प्राप्त करता है। —२-२२

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता, वायु इसको सुखा नहीं सकता। यह आत्मा अछेद्य है, अदाह्य है, न गलने वाला है और यह सूखता भी नहीं। यह निःसन्देह नित्य है। —२-२३, २४

श्री कृष्ण ने आगे कहा—और यदि तू इसे उत्पन्न होनेवाला और मरनेवाला समझता है, तब भी शोक करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो जन्म लेगा वह एक-न-एक दिन अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा।

इस कारण अर्जुन, उठ और धर्म-कार्य समझकर युद्ध कर। कर्मों पर तेरा अधिकार है, इसके फल में नहीं। —२-४७

मृत्यु तथा हत्या

अर्जुन का विचार था कि वह बन्धु-बान्धवों को मारकर महान् अनर्थ करने जा रहा है। अतः उसने कह दिया, मैं शस्त्र छोड़ रहा हूँ। मुझ शस्त्रविहीन को युद्ध न करते देख धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र यदि मार भी दें तो वह भी मेरे लिए कल्याणकारी होगा।

—भ० गी० १-४६

श्री कृष्ण कहते हैं—अर्जुन! तुम्हें यह अज्ञान किस कारण प्राप्त हुआ? यह श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण नहीं है।

हे अर्जुन! इस नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह तुझमें उचित नहीं। हृदय की इस दुर्बलता को दूर कर और उठकर युद्ध कर! —भ० गी० २-२, ३

श्री कृष्ण आगे कहते हैं—हत्या नाम का कोई कर्म नहीं होता। आत्मा मरता ही नहीं। यदि आत्मा मरता नहीं तो इस बात की चिन्ता ही क्यों?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणी—आत्मा तथा प्रकृति का संयोग

श्री कृष्ण का अभिप्राय है कि प्राणी में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं जिनके संयोग को प्राणी कहते हैं—एक मनुष्य का शरीर, और दूसरा आत्मा। मृत्यु के समय दोनों का संयोग समाप्त हो जाता है। जीवित अवस्था में कर्म करनेवाला तथा कर्मफल भोगने वाला भी जीवात्मा ही है। शरीर तो एक उपकरण मात्र है। इसके विनष्ट हो जाने पर भी अविनाशी जीवात्मा का नाश नहीं होता। हत्या तो उस जीवात्मा से उसका उपकरण छीन लेना मात्र है। यह ऐसे ही है जैसे एक बालक के हाथ में एक छड़ी हो और उस छड़ी से वह दूसरों को मारने-पीटने लगे। तब बालक को समझाया जाता है कि किसी को तंग करना उचित नहीं। बालक के न समझने पर उससे छड़ी छीन ली जाती है। दुष्ट व्यक्ति साधन-सम्पन्न बलवान् होकर साधुजनों को कष्ट देने लगते हैं। उनको समझाया जाता है और उनके न समझने पर उनसे उनका बलवान् शरीर जिसका वे दुरुपयोग करने लगते हैं, छीन लेना ही श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार उनका शरीर उनके जीवात्मा से पृथक् कर देना पुण्य कार्य है। क्योंकि ऐसा न करने से वह पता नहीं कितने साधुजनों की हत्या कर दे ! महाभारत में व्यासजी लिखते हैं—

"यदि भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूपी असुरों का संहार न करते तो न कहीं ब्राह्मणों का पता चलता और न ही जगत् के आदिस्रष्टा ब्रह्मा दिखाई देते। न यहाँ धर्म रहता और न कहीं आदिधर्म का पता चलता।" —शान्ति० ६४-२३, २४

इस विषय पर भगवान् श्री कृष्ण पुनः कहते हैं—शरीर तथा आत्मा दो पृथक् पदार्थ हैं। शरीर नाशवान् है और जीवात्मा अविनाशी है। मनुष्य में आत्मा सब कर्मों का उत्तरदायी होता है, शरीर नहीं। शरीर तो अचेतन है। यह केवल यन्त्र है। इस यन्त्र का संचालक जीवात्मा है। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मृत्यु के समय जीवात्मा नष्ट नहीं होता, प्रत्युत शरीर निश्चेष्ट होता है।

यदि यह समझें कि शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट होता है, तो भी शोक करने को स्थान नहीं है क्योंकि शरीर को तो एक-न-एक दिन नष्ट होना ही है। जो पैदा होता है वह नाश को भी प्राप्त होगा ही। उसके लिए भी शोक करना व्यर्थ है।

तदपि भगवान् कृष्ण का यह कहना था कि युद्ध का व्यवहार तब ठीक होगा जब यह धर्म की स्थापना के लिए किया जाये। कोई डाका डालते हुए किसी की हत्या करता है तो वह हत्या क्षम्य नहीं हो सकती। परन्तु यदि डाके से बचने के लिए डाकू की अथवा दुष्ट व्यक्ति की हत्या हो जाये तो इसमें कोई पाप नहीं होगा।

कुलक्षय और कुलधर्म

अर्जुन युद्ध से कुल के साथ ही सनातन धर्म के नष्ट हो जाने की आशंका से भी भयभीत था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न यह है कि यदि युद्ध न होता और कौरवों-जैसे दुष्ट राजा बने रहते तो समाज की क्या स्थिति होती? इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि यदि पाकिस्तान भारत पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर ले तो भारत की, भारतवासियों की तथा साधुजनों की क्या स्थिति होगी? मुसलमानों के राज्यकाल में भारतवासियों की क्या दुर्दशा हुई थी? अथवा यदि शासनाधिकारी दुष्टजन हों, धर्म-कर्म-विहीन हों, भौतिकवादी हों तथा धर्म को ढोंग मानते हों तो समाज का कितना पतन होगा? आज के युग में जो दुराचार, आतंकवाद और भ्रष्टाचार व्याप रहा है, उसकी जड़ में क्या है?

महाभारत का युद्ध हुआ तो उसके उपरान्त भारत की राजनीति में लगभग दो सहस्र वर्ष तक कोई हलचल नहीं हुई। सर्वत्र प्रायः शान्ति रही।

समाज में कुरीतियाँ पनपीं, परन्तु उसका कारण महाभारत युद्ध नहीं था प्रत्युत उस काल का ब्राह्मण (शिक्षित) वर्ग था जो जन-जन में फैल रही कुरीतियों को दूर नहीं कर सका। उस समय का ब्राह्मण-वर्ग (गुरु द्रोणाचार्य की भाँति) वेतनभोगी होकर मतिभ्रष्ट तथा धन का लोभी हो चुका था।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब शिशुपाल ने कृष्ण को गालियाँ सुनानी आरम्भ कीं तो किसी भी ब्राह्मण ने शिशुपाल की निन्दा नहीं की। परन्तु जब कृष्ण ने शिशुपाल का वध किया तो वही ब्राह्मण कहने लगे कि यज्ञ विफल हो रहा है। यह ब्राह्मणत्वहीनता का उदाहरण है।

जब कौरव-पाण्डव द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तो भील बालक एकलव्य भी द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने जा पहुँचा। द्रोण ने उसे दुत्कार दिया। बाद में जब एकलव्य स्वयं अपने प्रयास से धनुर्धारी बन गया तो द्रोणाचार्य ने उससे गुरुदक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा, यह जानते हुए कि उस अंगूठे के बिना उसकी धनुर्विद्या व्यर्थ जाएगी, माँग लिया। यह एक ब्राह्मण के पतन की पराकाष्ठा थी।

(आदिपर्व—अध्याय १३१)

एक अन्य कथा भी आती है। तक्षक जब राजा परीक्षित की हत्या करने जा रहा था तो एक ब्राह्मण (कश्यप) अपने मंत्रबल से उस राजा की रक्षा करने के निमित्त वहाँ जाने लगा। तक्षक ने उस ब्राह्मण से पूछा कि तुम उस राजा की रक्षा करने क्यों जा रहे हो? उस ब्राह्मण का कहना था कि धन-प्राप्ति के लोभ में—

धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजंगम।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये स्वापनेयं प्रगृह्य वै॥

—आदि० ४३-१६

तक्षक ने उसे कहा कि धन तो तुम्हें हम देते हैं और अब तुम घर लौट जाओ। ब्राह्मण धन लेकर प्रसन्नवदन घर लौट गया। इस प्रकार ब्राह्मण धनलोभी हो गया था।

समाज में जो भी कुरीतियाँ फैलीं वे ब्राह्मणत्व के ह्रास के कारण फैलीं, न कि युद्ध में हुए विनाश के कारण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोग

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि योग में स्थित होकर, सिद्धि-असिद्धि का विचार छोड़कर कर्म करे। द्वन्द्वों में सम-बुद्धि से रहना ही योग है। —भ० गी० २-४८

आगे श्री कृष्ण कहते हैं—'योगः कर्मसु कौशलम्।' (२-५०) कुशलतापूर्वक कर्म करने को योग कहते हैं। अभिप्राय यह है कि फल की इच्छा छोड़कर किया कर्म ही योग है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ —२-५१

मनीषी लोग (ज्ञानी जन) बुद्धि के सहाय से किये कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फलों का त्याग करते हैं और जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर निर्मल पद को प्राप्त करते हैं।

श्री कृष्ण ने आगे कहा—जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर जायेगी तब तू न सुने हुए और न जाने हुए को प्राप्त होगा।

विविध प्रकार की सम्पत्तियों से अस्थिर हुई बुद्धि जब समाधि में स्थिर हो जाएगी तब तू योग को प्राप्त होगा।

कृष्ण कहते हैं कि मुख्य रूप से बुद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—व्यावसायात्मिका तथा अव्यावसायात्मिका। जो व्यवसाय (ज्ञान) से रहित है अर्थात् ज्ञानविहीन है, वह बुद्धि बहु-दिशाओं में विभक्त रहती है। कामी जन बहुत सुन्दर वाणी में कहते हैं कि इस संसार के अतिरिक्त कुछ नहीं, इस जन्म के कर्म का ही फल मिलता है। जो भोग तथा ऐश्वर्य के लिए अनेक क्रियाएँ करते हैं, वे स्थिरबुद्धि नहीं होते। ये इधर-उधर बहुत दिशाओं में भागते दिखाई देते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनिश्चित बुद्धि उनकी होती है जो शरीर तथा शरीर के भोगों को ही सब-कुछ मानते हैं। ऐसे लोगों की बुद्धि स्थिर नहीं होती और ऐसे लोग कर्म-बन्धन से छूट नहीं सकते, न ही वे अपने जन्म में सफल होते हैं।

जब मनुष्य मन में चलनेवाली सभी कामनाओं को त्यागकर आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

मन में कामना की उत्पत्ति कैसे होती है? एक मनुष्य ने किसी समय हलवाई की दुकान से मिष्ठान्न खाया। उसे बहुत स्वाद आया। मिष्ठान्न के स्वाद का संस्कार उसके मन पर बैठ गया। इसके उपरान्त जब भी वह किसी हलवाई की दुकान पर या कहीं भी मिष्ठान्न देखता है, उसके स्वाद के संस्कार जागृत हो उठते हैं और उसके मन में मिष्ठान्न खाने की लालसा उत्पन्न हो जाती है। यह है कामना!

परन्तु एक बुद्धिशील प्राणी जब यह विचार करता है कि मिष्ठान्न खाने से उसे हानि भी हो सकती है, अथवा उसके पास धन न होने से उसे मिष्ठान्न की कामना नहीं करनी चाहिए, जब मनुष्य यह देखता है कि उसकी कामना की पूर्ति संभव नहीं (धन न होने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिष्ठान्न वह नहीं खरीद सकता) तो उसके मन में द्वेष उत्पन्न होता है। परन्तु जब जीवात्मा राग तथा द्वेष से रहित होकर कर्म करे तो उसे हानि नहीं पहुँच सकती। इसे ही गीता में समभाव कहा है। दूसरे शब्दों में, जीवात्मा को स्थितप्रज्ञ कह सकते हैं। सफलता-असफलता, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि सभी प्रकार के द्वन्द्वों से परे होकर जब जीवात्मा कर्म करता है तो उसे पाप नहीं लगता और वह कर्मफल से छूट जाता है।

कर्म-बन्धन

कर्म साधारणतया मनुष्य को संसार से बाँधता है। कर्म करने पर कर्मफल मिलता है। कर्मफल भोगते हुए पुनः कर्म होता है। इस प्रकार एक चक्र बन जाता है। इस शृंखला से मुक्त होने का कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि कर्म तो किया जाए, परन्तु कर्म मनुष्य को बाँधे नहीं। इसे ही कृष्ण निष्काम-भाव से कर्म करना कहते हैं। कर्म बुद्धि से विचारकर परन्तु आकांक्षारहित होकर किया जाए तो कर्मफल बाँधते नहीं।

कर्म को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—कर्म, अकर्म तथा विकर्म। विकर्म अधर्मयुक्त कर्म को कहते हैं और अकर्म भी अनजाने विकर्म अर्थात् अधर्मयुक्त कर्म की श्रेणी में आ जाता है।

उदाहरण के रूप में तटस्थता विकर्म की सहायता ही करती है। चोर चोरी करने जाता है। चोरी करना विकर्म है। जिसके घर में चोरी की जा रही है, एक पड़ोसी या राह-चलता व्यक्ति यह देखकर कि चोर चोरी करके भाग रहा है, फिर भी वह अपनी तटस्थता के कारण चोर को न पकड़ता हुआ अपने मार्ग पर चला जाता है, यह विचार करते हुए कि वह कौन है जो अपना समय नष्ट करे और चोर के पीछे भागे अथवा चोर-चोर का शोर मचाये, वास्तव में उसने चोर को चोरी करके भागने में सहायता की है। यह अकर्म होते हुए भी विकर्म हो गया।

कर्मों का विभाजन

कर्मों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया गया है—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। नित्य कर्म उन क्रियाओं को कहते हैं जो जीवन चलाने के लिए अनिवार्य हैं, जैसे साँस लेना, भोजन करना, मल-मूत्र का त्याग करना इत्यादि। इनके बिना जीवन नहीं चल सकता।

नैमित्तिक कर्म किसी प्रयोजन-विशेष के लिए किये कर्मों को कहते हैं, जैसे अपनी रक्षा करना, समाज तथा देश की रक्षा करना, दैवी प्रकोपों से बचने के उपाय करना, दुष्टों तथा हिंसक जन्तुओं से बचने के उपाय करना इत्यादि। इनमें निजी स्वार्थ नहीं रहता। सामाजिक सुव्यवस्था को बनाये रखना इनका उद्देश्य होता है।

काम्य कर्म कामनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। कामनाएँ सांसारिक और अपने निजी लाभ के लिए भी हो सकती हैं तथा समाज एवं लोक-कल्याण की भी हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म फलदायक हैं। परन्तु नित्य कर्म करता हुआ भी मनुष्य कुछ न करता हुआ माना जाएगा। आँखें झपकना, साँस लेना, मल-मूत्र का त्याग करना, भोजन करना, इन कर्मों में सब इन्द्रियाँ संलग्न रहती हैं। ये कर्म मनुष्य को बाँधनेवाले नहीं होते।

नैमित्तिक कर्म जब लोक-कल्याण के निमित्त होते हैं तो ये भी मनुष्य को बाँधते नहीं। युद्ध एक नैमित्तिक कर्म था। यह युद्ध पाण्डवों के आह्वान पर नहीं हो रहा था। महाभारत-युद्ध धर्म की स्थापना के लिए किया जा रहा था, अतः युद्ध-जैसा निमित्तफल वाला कर्म भी पाप में नहीं बाँधेगा।

श्री कृष्ण ने अपने विषय में कहा है कि जब-जब भी धर्म का ह्रास होने लगता है, मैं धर्म की स्थापना के लिए जन्म लेता हूँ। साधुओं को भय से मुक्त करने के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए मैं युग-युग में उत्पन्न होता हूँ। इस पर भी ये कर्म मुझे बाँधते नहीं। जो भी मनुष्य इस तत्त्व को जानता है वह कर्मों में बँधता नहीं। इसी प्रकार हे अर्जुन! तू भी उठ और युद्ध कर।

काम्य कर्म कामना को लेकर किये जाते हैं। इन कामनाओं को संकुचित अर्थों में न लेकर व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। कामना भोगों की प्राप्ति की भी हो सकती है तथा ब्रह्म-जिज्ञासा की भी। कामना निजी लाभ की भी हो सकती है तथा लोक-कल्याण की भी। यदि मनुष्य अपने लाभ-हानि की इच्छा का त्याग करके कर्म करता है तो वह कर्मयोगी है और तब कर्म उसे बाँधते नहीं। कृष्ण ने कहा—योग से युक्त कर्म कर! योग है समत्व-बुद्धि। अतः समत्व-बुद्धि से कर्म करनेवाले को योगयुक्त कहा है। समत्व-बुद्धि है—सुख-दुःख, विजय-पराजय, हर्ष-शोक इत्यादि द्वन्द्वों में एक-समान रहने वाला। उसे कर्मयोगी भी कहते हैं। काम्य कर्म का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण है—

एक विद्वान् केवल ज्ञानदान के निमित्त विद्यालय आरम्भ करता है। कामना है ज्ञान-दान की। यदि शासन-अधिकारी उस विद्यालय पर इस दृष्टि से रोक लगा देता है जिसे वह विद्वान् उचित मानता है, तब विद्वान् अपने प्रकार से विद्या-दान में दृढ़ रहे, और यदि वह विद्या नहीं दे सकता तो अपना विद्यालय बन्द कर दे।

प्रांयः यह देखा जाता है कि बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ, विद्यालय तथा अपने नाम के लोभ में विद्यालय चालू रखते हैं तथा शिक्षा वह देने लगते हैं जिसे सरकार चाहती है, चाहे वह शिक्षा उनके अपने सिद्धान्तों के विपरीत ही क्यों न हो। इस प्रकार के कर्मों का भी फल मिलता है। यह एक प्रकार का विकर्म है और किसी भी विकर्म का जो फल है वही इनका भी होगा। फिर यह कर्म बन्धन में बाँधनेवाला भी होगा।

कर्मों का स्रोत

कर्म करनेवाला आत्मा है। कहा है (भ० गी० ३-४२) कि इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। आत्मा से बुद्धि पर नियंत्रण रखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए।

आत्मा के लक्षण बताए हैं—सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और प्रयत्न। आत्मा सुख की प्राप्ति तथा दुःख के निवारण के लिए प्रयत्न करता है। यही कर्म है।

प्रश्न उठता है कि अच्छे अथवा बुरे कर्म कैसे होते हैं? भगवद्गीता में बताया है कि समाज का विभाजन गुण तथा स्वभाव के अनुसार किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—यह बँटवारा मनुष्य के स्वभाव तथा गुणों के अनुसार है। गुण स्वभाव से बनते हैं और स्वभाव इस जन्म के तथा पूर्व-जन्म के संस्कारों से बनता है।

ब्राह्मण-सन्तान का स्वभाव तथा गुण पठन-पाठन, क्षत्रिय का स्वभाव युद्ध करना, वैश्य का स्वभाव अर्जन करना तथा शूद्र का स्वभाव सेवा करना है। जब मनुष्य स्वाभाविक गुण के कर्म न करके दूसरे वर्ण के कर्म स्वीकार करता है तब कर्म के विकर्म होने का भय उत्पन्न होता हैं। ब्राह्मण की सन्तान यदि शूद्र का कर्म करने लगे तो स्वभाव के विपरीत उसे स्वामी की आज्ञा मानने पर विवश होना पड़ेगा और यही विकर्म बन जाएगा। इसी कारण, श्री कृष्ण कहते हैं कि अपना धर्म (वर्ण) कैसा भी हो, दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ होता है। दूसरे के वर्ण में सदा विकर्म का भय बना रहता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् कृष्ण वर्णों का विभाजन गुण, स्वभाव तथा कर्म से करते हैं, जन्म से नहीं। यदि स्वभाव जन्म से है तो स्वभाव के अनुसार ही वर्ण होगा।

कर्म-बन्धन

कर्म का फल मिलता है और फल भोगते समय पुनः कर्म होता है और फिर उसका भी फल मिलता है। इस प्रकार कर्म-कर्मफल, पुनः कर्म तथा कर्मफल की एक शृंखला बन जाती है जो टूटनी सुगम नहीं है। जब तक जीवात्मा इस शृंखला में फँसा रहता है, तब तक जन्म-मरण के बंधन में बँधा रहता है।

जीवात्मा इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि जन्म-मरण की प्रक्रिया अतिदुःखदायी है।

दुःख तीन प्रकार के कहे हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

आध्यात्मिक दुःखों का प्रभाव सीधा आत्मा पर पड़ता है। बुद्धि तथा मन के दुःख इस श्रेणी में आते हैं। इनका प्रभाव आत्मा पर पड़ने से मनुष्य का आत्मा तड़फड़ा उठता हैं और कभी-कभी तो आत्मा शरीर छोड़ने का विचार करने लगता है।

आधिभौतिक दुःख शरीर के रोगों से होते हैं, जैसे—खान-पान तथा दुर्व्यसनों से उत्पन्न रोगों के कारण दुःख होना।

आधिदैविक दुःख प्राकृतिक शक्तियों से उत्पन्न होते हैं, जैसे—दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, भूकम्प इत्यादि।

जीवात्मा इन दुःखों से बचने का प्रयास करता है। इन दुःखों से बचने का उपाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म-बन्धन से छूटना है। गीता में कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय बताया है, 'निष्काम कर्म' तथा यज्ञार्थ (लोक-कल्याण के निमित्त) कर्म—सब कर्मों को परमात्मा के अर्पण करके सम्पन्न करना, फल में आसक्ति को छोड़कर कर्म करना। इस प्रकार कर्म करने-वाला जल में कमल-पत्र के समान पापों से लिप्त नहीं होता। भ० गी० ५-१०

कर्म-फल की इच्छा छोड़कर दृढ़ संकल्पवाला कर्मयोगी शान्ति को प्राप्त करता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामनाओं द्वारा बँधता है। —भ० गी० ५-१२

कर्म-फल से कैसे अलिप्त हुआ जा सकता है? इसके लिए तीन उपाय बताए हैं—यज्ञ, योग तथा भक्ति।

यज्ञ मनुष्य का परम पावन कर्त्तव्य है। इससे मनुष्य देवताओं अर्थात् प्राकृतिक विभूतियों को प्रसन्न करता है और देवता यज्ञ करनेवाले को सुखी रखते हैं। मनुष्य मुख्य साधनों को यज्ञ में व्यय करे और यज्ञशेष से अपने भरण-पोषण का प्रबन्ध करे। यही यज्ञमय जीवन है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि जो लोग यज्ञार्थ व्यय नहीं करते, वे पाप का भोग करते हैं। समस्या यह उत्पन्न होती है कि यज्ञार्थ अर्थात् लोक-कल्याण के निमित्त कितना व्यय करे तथा निजी प्रयोग में कितना लाए? एक मनुष्य जिसकी आय एक सहस्र रुपए मासिक है, इस महँगाई के युग में कितना अपने ऊपर व्यय करे तथा कितना लोक-कल्याण के निमित्त व्यय करे?

इसका निश्चित माप-दण्ड नहीं है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि अपनी मति के अनुसार आवश्यक तथा अनावश्यक में भेद करके जितना आवश्यक हो उतना ही अपने ऊपर व्यय करना चाहिए। मनुष्य यह समझे कि उसके पास जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा का दिया हुआ है। यज्ञकर्म परमात्मा का कार्य है। परमात्मा का दिया हुआ परमात्मा के निमित्त व्यय करना ही यज्ञ है।

अपने जीवनयापन में जितना आवश्यक है उतना ही व्यय करे। यह भी यज्ञ ही है, क्योंकि जीवन-यापन के लिए व्यय जीवन चलाने के लिए आवश्यक है, तभी तो व्यक्ति यज्ञ-कार्य कर सकेगा।

वास्तव में श्री कृष्ण अर्जुन को समझा रहे थे कि युद्ध-कार्य ईश्वरीय कार्य है। इस कारण यह भी यज्ञ-कार्य है। इस प्रकार युद्ध करने पर वह कार्य उसे पाप में लिप्त न कर उसे मोक्ष प्राप्त करायेगा। स्वयं को वह परमात्मा का करण-मात्र माने।

योग

यज्ञ के विषय में बताते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान-यज्ञ द्रव्य-यज्ञ से श्रेष्ठ है। अभिप्राय यही है कि इससे मोक्ष सुगमता से प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान-यज्ञ से पूर्व ज्ञान-प्राप्ति आवश्यक है। ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन है बुद्धि। बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। बुद्धि के तीव्र और निर्मल हो जाने से बुद्धि सात्त्विकी हो जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और तब स्थिर बुद्धि से धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य में भेद करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है।

गीता (२-४८) में बताया है कि समत्व-बुद्धि ही योग है। समत्व-बुद्धि योग-क्रियाओं से प्राप्त होती है।

योग द्वारा मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण करे। इसके लिए मुनि अर्थात् मननशील होना आवश्यक है। मनन करने पर मनुष्य कामनाओं को नियन्त्रण में रखकर उन्हें शान्त रख सकता है। सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, सुख-दुःख में जिसका चित्त शान्त रहता है और जिसका आत्मा इन्द्रियों पर विजयी है, वह परमात्मा में लीन व्यक्ति योगारूढ़ कहा जा सकता है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि मन अतिचंचल होता है। वह बलवान् भी बहुत है। अतः बार-बार अभ्यास करने से ही मन वश में किया जा सकता है। यह योग से ही सम्भव है।

भक्ति

भक्ति का अर्थ है परमात्मा के चिन्तन द्वारा उससे योगयुक्त होने की विधि। भक्त चार प्रकार के बताये हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा ज्ञानी।

'अर्थार्थी' का अभिप्राय है जो अर्थ की अभिलाषा से भक्ति करता है। 'आर्त' वे भक्त हैं जो दुःख-कष्ट इत्यादि में परमात्मा का चिन्तन करते हैं। 'जिज्ञासु' परमात्मा की भक्ति ज्ञान की वृद्धि के लिए करते हैं और 'ज्ञानी' जन वह है जो सब-कुछ जानता है, जिसकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, इस कारण परमात्मा का चिन्तन तथा भजन करता है। उसका चिन्तन उपर्युक्त किसी भी कामना से नहीं होता।

श्री कृष्ण कहते हैं कि सभी प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं और परमात्मा उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण करता है, परन्तु वह सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी जन है क्योंकि उसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। ऐसे भक्तजन मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अन्य सब भक्तों की कामनाएँ पूर्ण होती हैं, पर वे अल्पकालिक होती हैं। अर्थार्थी को अर्थ प्राप्त होता है, परन्तु अर्थ व्यय होनेवाली वस्तु है। इसी प्रकार आर्त्त जन के कष्ट दूर हो जाने पर वे पुनः कष्ट प्राप्त करते ही हैं। वे जन्म-मरण के बन्धन से छूटते नहीं तथा कर्म करते हुए पुनः सुख-दुःख को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार जिज्ञासु भक्तों की बात है। जिज्ञासा शान्त होने पर भी वे भक्ति करते रहें तो ज्ञानी भक्त बनकर मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा जिज्ञासा शान्त होने के उपरान्त भक्ति छोड़ने पर वे भी कर्म-बन्धन से छूटते नहीं।

उपर्युक्त प्रकार की भक्ति परमात्मा की भक्ति है। श्री कृष्ण कहते हैं कि इनसे हटकर देवी-देवताओं का भजन करना उन देवताओं की भक्ति करना है और वे देवी-देवता भक्त की कामना पूर्ण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि में घी तथा सामग्री डालकर जलाना इत्यादि को पूजा समझा जाता है। गीता में इस प्रकार पूजा करने का उल्लेख नहीं है।

पूजा का अभिप्राय समझ लेना चाहिए। ये देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना ही इनकी पूजा है। इनका ज्ञान प्राप्त कर इनके उपयोग द्वारा लाभ उठाना ही फल-प्राप्ति है।

उपसंहार

१. शरीर नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है।

२. धर्म-युद्ध करना भी धर्म-कार्य है।

३. धर्म-युद्ध में हत्याएँ हो जाएँ तो उनसे पाप नहीं लगता।

४. कर्म-विकर्म में भेद करने के लिए स्थिर बुद्धि आवश्यक है।

५. सांसारिक भोग बुद्धि को अस्थिर करते हैं। स्थिर बुद्धि होती है इन्द्रियों को संयम में रखने से तथा परमात्मा-परायण रहकर कर्म करने से।

६. इन्द्रियों के विषय स्मरण करते रहने से आसक्ति उत्पन्न होती है। कामना से क्रोध, क्रोध से भ्रम और फिर भ्रम से बुद्धि का विनाश होता है, और इससे आत्मा का घोर पतन हो जाता है।

७. एक क्षण के लिए भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता। अतः निष्काम-भाव से कर्म करना चाहिए।

८. ज्ञान-प्राप्ति के लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। बुद्धि योगाभ्यास से निर्मल होती है। तब निष्काम-भाव उत्पन्न होता है और कर्म जब निष्काम-भाव से किये जाएँ तो कर्म-फल का चक्र टूट जाता है और प्राणी मुक्त हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास

स्कूल में इतिहास पढ़ते समय हमें अपनी पाठ्य-पुस्तकों में यही पढ़ने को मिलता था कि भारतवर्ष का इतिहास नहीं मिलता। हमारे पूर्वजों को इतिहास लिखना नहीं आता था। अतः पुराने शिलालेख, मुद्राएँ और विदेशी यात्रियों के लेखों से ही यहाँ के इतिहास का अनुमान लगाना पड़ता है। उस समय भी इस प्रकार के कथन हमें कानों में खटकते थे।

आज तो उस शैली पर इतिहास लिखनेवालों का एक बहुत बड़ा परिवार हो गया है और अधिकांश इतिहास की खोज करनेवाले, इस देश की भाषा और यहाँ के प्राचीन शास्त्रों से सर्वथा अनभिज्ञ होने पर भी, यहाँ का इतिहास लिखने लग जाते हैं।

सर्वप्रथम महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत की जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि यूरोपियन विद्वान् भारतीय शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ होने के कारण, हमारे विषय में अनर्गल बातें लिख रहे हैं। हमारे इतिहास, धर्म, हमारी मान्यताओं एवं परम्पराओं के विषय में वे भ्रान्ति फैला रहे हैं। स्वामी जी के संकेत-मात्र से कई विद्वानों ने इतिहास पर भारतीय ढंग से प्रकाश डालने का यत्न आरम्भ किया। उनमें से एक श्री पं० भगवद्दत, दयानन्द महाविद्यालय के भूतपूर्व अनुसन्धानाध्यक्ष थे। दूसरे हैं पण्डित रघुनन्दन शर्मा साहित्यभूषण। इनकी पुस्तक 'वैदिक सम्पत्ति' प्रेरक और सहायक है। कई अन्य लेखक भी हैं जो इस ओर ध्यान कर रहे हैं। वे भी भारतीय इतिहास का संकलन भारतीय आधारों पर कर रहे हैं।

मेरा यह लेख न तो इतिहास की पुस्तक है, न ही यह इतिहास की खोज का परिणाम है। यह अन्य खोज करनेवालों के प्रयासों से मेरी समझ में आए परिणामों का संकलन-मात्र है। उनमें से दो विद्वानों के नाम मैंने ऊपर दिए हैं। उनके अतिरिक्त रामायण और महाभारत ग्रन्थों से भी भरपूर सहायता ली गई है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थ प्रकाश' से भी सहायता मिली है।

उक्त ग्रन्थों से मैंने अपने निकाले हुए परिणाम इस लेख में लिखे हैं तथा इतिहास के विषय में भारतीय परम्पराओं का एक चित्र खींचने का यत्न किया है। यह चित्र कितना स्पष्ट है, वह इसको देखनेवालों के ही चिन्तन का विषय है।

इतिहास में भारतीय परम्पराएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(१) इतिहास का आरम्भ जगत्-रचना के आरम्भ से मानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) जगत्-रचना को आज १, ९७, १९, ६१, ६५४ (एक अरब, सत्तानवे करोड़, उन्नीस लाख, इकसठ हजार छह सौ चौवन) सौर वर्ष हो चुके हैं।

(३) प्राणि-रचना को ११, ६६, ४०, ००० (ग्यारह करोड़, छियासठ लाख, चालीस हजार) सौर वर्ष हुए हैं।

(४) मानव-रचना को लगभग ३९,००,००० वर्ष हुए हैं।

(५) वेदों में मानव-इतिहास नहीं है।

(६) विकासवाद मान्य नहीं है।

(७) पुराणादि ग्रन्थ मूलतः इतिहास के ग्रन्थ हैं। उनकी शैली और उनका प्रयोजन भिन्न है।

(८) भारत के इतिहास में वाल्मीकि-रामायण और महाभारत अमूल्य सहायक ग्रन्थ हैं।

(९) इतिहास लिखने का प्रयोजन है पूर्व-घटनाओं का स्मरण करके मनुष्य को मानसिक विकारों से बचाना।

(१०) मन के विकारों में आदि-सृष्टि से आज तक किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। अतः इतिहास अपने को दोहराता रहता है।

(११) बारह करोड़ वर्ष का पूर्ण इतिहास तिथिक्रम से लिखने में कोई प्रयोजन नहीं माना गया। केवल युग-प्रवर्तक घटनाओं का ही इतिहास लिखा और स्मरण किया जाता है।

(१२) इसी कारण ग्रन्थों में राज्य अथवा ऋषियों की वंशावलियाँ न देकर प्रख्यात मानवों की नामावलियाँ दी गई हैं।

(१३) इतिहास को केवल विद्वानों का विषय न रखकर जन-साधारण के उपयोग की वस्तु बनाने के लिए इसे पुराणों का रूप दिया गया है।

इन्हीं और इस प्रकार की परम्पराओं को स्पष्ट करने के लिए इस लेख को लिखा गया है।

वर्तमान युग के इतिहासज्ञों की धाँधली

आज के तथाकथित इतिहासज्ञों ने भारत का इतिहास लिखने में इतनी धाँधली मचा रखी है कि सत्य-असत्य में निर्णय करना भी कठिन हो रहा है। इसका कारण योरुप का नास्तिकवाद और भ्रामक विज्ञानवाद है। इन दोनों का मूल यहूदी, ईसाई और इस्लाम की अयुक्तिसंगत जीवन-मीमांसा ही है।

यूनान और मिश्र की प्राचीन जीवन-मीमांसा का वेद-विहित मीमांसा के साथ घना सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि काल्डियन और बैबिलोनियन सभ्यताएँ भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित थीं। परन्तु यहूदियों ने इन सब—मध्य एशिया और पूर्वी योरुप की—जातियों को पद-दलित कर उनके ज्ञान-विज्ञान, उनकी जीवन-मीमांसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनकी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

यहूदी जाति जिस समय अपनी विजयपताका फहरा रही थी, उस समय वह अनपढ़ एवं असभ्य थी। वह अपने पाशविक बल से, अपनी अपेक्षा अधिक सभ्य तथा ज्ञान-विज्ञान में अधिक उन्नत जातियों को पराजित करते-करते उनकी सभ्यता एवं उनकी संस्कृति को भी नष्ट कर बैठी।

यूनान, मिश्र, काल्डियन, बैबिलोनियन सभ्यताओं का स्रोत भारतवर्ष का विज्ञान था, परन्तु अभिमान और प्रमाद के कारण इन जातियों ने अपनी सभ्यताओं तथा ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोतों के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और समय पाकर इनकी संस्कृति और इनका ज्ञान रूढ़ि-मात्र रह गया। इन लोगों ने सत्य ज्ञान के मूल स्रोत अर्थात् वेदादि शास्त्रों को भुला दिया। इसका परिणाम एक ओर तो यह हुआ कि इनकी उन्नति रुक गयी और दूसरी ओर, इनमें अपने ज्ञान-विज्ञान को दूसरों को प्रदान करने की क्षमता समाप्त हो गयी। आचार-विचार में रूढ़िवादिता आने से, दूसरों के साथ इनका व्यवहार अन्याययुक्त हो गया।

उपरिलिखित तथ्य को समझने के लिए भारतवर्ष का अपना उदाहरण लिया जा सकता है। वेद आदि शास्त्रों में तथा प्राचीन स्मृतियों में भी, यह कहीं नहीं लिखा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सन्तान ही ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य होती है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि जब तक यज्ञोपवीत न मिले, तब तक बालक अथवा बालिका द्विज नहीं होते, और बच्चे को उसकी द्विज बनने की योग्यता देखकर गुरु यज्ञोपवीत देता है। वेदादि शास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लक्षण भी लिखे हैं। स्मृतिकार ने यहाँ तक लिख दिया है कि ब्राह्मणोचित कार्यों के न करने से ब्राह्मण काठ के हरिण के समान हो जाता है अथवा कर्मानुसार ब्राह्मण की सन्तान शूद्र और शूद्र की सन्तान ब्राह्मण बन जाती है।

परन्तु कालान्तर में कुछ ब्राह्मणों ने वेदों तथा स्मृतियों का सार महाभारत आदि ग्रन्थों में लिखने का यत्न किया और यह प्रचार करने का यत्न किया कि महाभारत इत्यादि ग्रन्थों को पढ़ने के उपरान्त वेदों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है; अनेक धर्म-ग्रन्थों के पढ़ने की अपेक्षा केवल एक गीता पढ़ लेना पर्याप्त है। परिणामस्वरूप जनता और विद्वानों का वेदों से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में सत्य के प्रतिपादन के लिए लौकिक गाथायें लिखी हैं। प्रत्येक गाथा में एक खल-पात्र रहता है। कभी खल-पात्र में भी कुछ अच्छे गुण होते हैं, परन्तु वह अपने अच्छे गुणों को भी खल-व्यवहार में सहायक बना लेता है और पाठकों के लिए यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि वे उस पात्र के सद्‌गुणों और दुर्गुणों में भेद-भाव कर सकें।

जब विद्वान् ही धर्म और सचाई के मूल स्रोत (वेद) से विरक्त हुए तो उन गाथाओं को समझनेवाले नहीं रहे। ब्राह्मण-सन्तान लंठ, गँवार होने पर भी ब्राह्मण मानी जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी, किन्तु इतर वर्ण की सन्तान गुण-कर्म में ब्राह्मण के समान होने पर भी ब्राह्मणत्व का आदर प्राप्त नहीं कर सकी। यह रूढ़िवाद था।

ऐसा ही रूढ़िवाद उन सभ्यताओं में भी उत्पन्न हो गया, जिनका सम्बन्ध अपने मूल स्रोत से टूट गया।

इस रूढ़िवाद के कारण इन राज्यों में अन्यायाचरण हुआ और इनके अन्यायाचरण से पीड़ित हो लोगों ने विद्रोह किया। विद्रोह में रूढ़िवादी पराजित हुए। परन्तु उनकी पराजय के साथ-साथ उनका ज्ञान-विज्ञान, जो कुछ भी था, नष्ट-भ्रष्ट हो गया और उसके स्थान पर विद्रोहियों की सभ्यता तथा उनका ज्ञान-विज्ञान, जो बहुत निम्न कोटि का था, प्रचलित हो गया।

यूनान, मिश्र इत्यादि देशों की सभ्यतायें उच्च कोटि की थीं, परन्तु उन्होंने भी रूढ़िवाद के कारण, अपने अधीनस्थों के साथ न्याय नहीं किया और अधीनस्थ अन्यायाचरण के दबाव पर, अपनी रक्षार्थ संगठित हो गये। जनसाधारण के ये संगठन, राजनैतिक दासता से मुक्त हुए, परन्तु सभ्य-सुसंस्कृत जातियों के ज्ञान-विज्ञान को भी निकृष्ट समझ बैठे और उनका विनाश करनेवाले सिद्ध हुए।

इस प्रकार के उदाहरण भारत के इतिहास में भी मिलते हैं। मुसलमान ज्ञान तथा जीवन-मीमांसा में भारतवासियों से बहुत पिछड़े हुए थे। परन्तु उनकी राजनैतिक विजय हुई तो उन्होंने भारत के मूल निवासियों की सभ्यता-संस्कृति और उनके ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने का भरसक यत्न किया। किन्तु इसमें उनको सफलता न मिलने का मुख्य कारण यही था कि यहाँ के रहनेवालों ने, रूढ़िवादी होते हुए भी, अपना सम्बन्ध, सत्य के आदि-स्रोत अर्थात् वेद से तोड़ा नहीं था। यही कारण था कि हिन्दू (भारतवासी) इस्लाम की आँधी के आगे धूल की भाँति उड़ नहीं गये। इनकी सभ्यता और संस्कृति अभी भी जीवित है।

यूनान, मिश्र, काल्डियन और बैबिलोनियन जाति के लोग सर्वथा भूल चुके थे कि उनको ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ था। इस कारण वे अपने विद्वानों के मत की व्याख्या का, मूल सत्य ग्रन्थों से मिलान कर, परीक्षण नहीं कर सके। भारत में तो, मुस्लिम काल में भी, प्रचलित रीति-रिवाज का मिलान मूल वेद-मत से होता रहा था और प्रति बारह वर्ष में एक बार देश के चार विभिन्न स्थानों पर होनेवाले कुम्भ मेलों में साधु-सन्त, महात्मा, विद्वान्, वेदपाठी और वेद-ज्ञान के जाननेवाले एकत्रित होकर प्रचलित संस्कृति का सुधार करते रहते थे। परिणाम यह हुआ कि भारत में जहाँ आज भी वेद के प्रमाण से हिन्दू अपने कर्तव्य का निर्णय करते हैं, वहाँ उस काल में जब यूनान, मिश्र इत्यादि देश यहूदियों से पराजित हुए, रूढ़िवाद में फँसे हुए वे अपने आचार, व्यवहार और जीवन-मीमांसा को किसी सत्य की कसौटी पर कस नहीं सके। वे पराजित होते ही अपनी सभ्यता इत्यादि को भी खो बैठे।

यूनान, मिश्र, काल्डियन, बैबिलोनियन जातियों का वेदों को विस्मृत कर देने में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण यह भी था कि इन्होंने सुगमता के विचार से अपनी भाषा को वेद की भाषा (संस्कृत) से सर्वथा पृथक् कर लिया था। वे संस्कृत भाषा को भूले तो वेद भी भूल गये।

यहूदियों ने, अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर, जब विजय-समर आरम्भ किया, उस समय वे कैसे थे, इस विषय में 'हैनड्रिक विलेम वान लून' (Hendrik Willem Van Loon) अपनी The Story of the Bible (बाइबल की कहानी) नामक पुस्तक में लिखते हैं—

> In the beginning, however, the particular Semitic tribe, which later was to develop into the Jewish nation, worshipped several divinities, just as all their neighbours had done before them for countless ages.
>
> The stories of the creation, however, which we find in the Old Testament, were written more than a thousand years after the death of Moses, when the idea of One God had been accepted by the Jews as an absolutely established fact, and when doubt of His Existence meant exile or death.

—आरम्भ में उस विशेष कुटुम्ब में, जो कालान्तर में यहूदी कौम बन गया, अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। वैसे ही, जैसे अन्य अनेक पड़ोसी कुटुम्बों में अगणित शताब्दियों से हो रही थी। सृष्टि-निर्माण की कहानी, जैसी हम पुरानी पुस्तक 'Old Testament' में पढ़ते हैं, मूसा से एक सहस्र वर्ष बाद में लिखी गयी थी। इस समय यहूदियों में एकेश्वरवाद एक मान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार हो चुका था। तब ईश्वर के होने में सन्देह करने का अभिप्राय था देश-निष्कासन अथवा मृत्यु।

इसके विपरीत सुकरात की एक उक्ति की ओर ध्यान देना लाभप्रद होगा। सुकरात का शिष्य, प्लैटो लिखता है—

'सदाचार के अनुवर्तन (यम, नियम के पालन) से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान साधारण मनुष्य में उत्पन्न होनेवाले सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है। सम्यक् ज्ञान उत्कृष्ट गुणयुक्त है। व्यापक विचारों से उसकी उत्पत्ति होती है।[1]

पूर्णरूपेण यही बात भारतीय दर्शनशास्त्र भी लिखते हैं—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ —योगदर्शन १-४८, ४९

अर्थात् यम-नियम के पालन से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह ऋतम्भरा कहलाती है। यह प्रज्ञा श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न परिणामों पर पहुँचानेवाली है।

सुकरात ने अपनी मृत्यु से कुछ ही पहले अपने मित्रों से कहा था—

१. स्वामी करपात्री जी कृत 'मार्क्सवाद और रामराज्य' से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'Be of good cheer, and see that you are burying my body only.'

—प्रसन्न रहो और ध्यान रखना कि तुम केवल मेरे शरीर को ही दफ़ना रहे हो।

इसकी तुलना भगवद्गीता के निम्न श्लोक से की जा सकती है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २-२१

और भी—सुकरात के एक शिष्य ने पूछा—क्या तत्त्ववेत्ता को खान-पान से प्राप्त होनेवाले सुखों की, यदि उनको सुख की संज्ञा दी जाये, कामना करनी चाहिए?

सुकरात का उत्तर था—नहीं, निश्चय नहीं।

शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—मैथुन से प्राप्त होनेवाले सुख की?

उत्तर था—नहीं, कामना नहीं करनी चाहिए।

अब इसकी तुलना करिये गीता के श्लोक २-७१ से—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥[1]

इन उद्धरणों से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि यूनानी दर्शनशास्त्र भारतीय शास्त्र की प्रतिध्वनि-मात्र है और दूसरे यह कि यहूदियों की ज्ञान-मीमांसा, जब परिपुष्ट भी हुई, तब भी कोरी निष्ठा के ऊपर आधारित थी—'इसे मानो, अन्यथा देश से निर्वासित कर दिए जाओगे या मृत्यु के घाट उतार दिये जाओगे।'

ईसाई मत तो यहूदी मत का परिष्कृत संस्करण-मात्र ही है। जब यहूदी, यूनानियों को तथा अन्य प्राचीन सभ्यताओं को पराजित कर चुके तो इनका विरोध रोमवालों से हुआ। रोम एक सैनिक संगठन था। उनकी जीवन-मीमांसा, यदि कुछ थी, तो केवल खाना-पीना, और देश तथा शासक जाति के लिए लड़ना। रोमवालों ने यहूदियों को पराजित किया, परन्तु इनकी सभ्यता और विचारधारा को निःशेष नहीं किया। उनका इसके साथ सम्बन्ध भी नहीं था। जब तक यहूदी तथा रोमन साम्राज्य के अन्य देश रोमवालों को कर देते रहे, तब तक कोई पूजा करे अथवा न करे, उनके लिए चिन्ता का विषय नहीं था।

दास-बने यहूदी पतन के गर्त में गिर गये। इस पर भी 'रस्सी जली, परन्तु बल नहीं गए' वाली कहावत सिद्ध करते हुए यहूदियों ने हजरत ईसा को फाँसी दिलवा दी।

ईसा की मृत्यु पर यहूदियों में एक पृथक् मत बन गया। परन्तु देखा जाये तो दोनों में सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। दोनों में अन्ध-विश्वास की समानता है।

बाइबल की नई पुस्तक (New Testament) के निम्न वाक्य पढ़िये—

Let not your heart be troubled. Ye believe in God, believe also in me.[2]

---

१. सीताराम गोयल : 'सत्यकाम सोक्रातेज़', पृष्ठ ९५।

2. John XIV-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर लिखा है—

> Jesus saith unto him, I am the way and the truth and the life. No man cometh unto the Father but by me.[1]
>
> All that ever came before me are thieves and robbers.[2]

अर्थात्—'तुमको चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तुम ईश्वर पर विश्वास रखो और मुझ पर भी विश्वास करो।'

जीसज़ (ईसा) ने उसको कहा—'मैं ही ठीक मार्ग हूँ। मैं ही सचाई हूँ और मैं ही जीवन हूँ। कोई व्यक्ति मेरे आश्रय बिना परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता।'

'वे सब जो मुझसे पहले आये, चोर और डाकू हैं।'

जो मत-मतान्तर किसी सत्य मीमांसा पर टिके हुए नहीं, वे ही अपने अनुयायियों के अन्ध-विश्वास के आश्रय चलते हैं। अन्ध-विश्वासी युक्ति से घबराते हैं और अपनी बात बलपूर्वक मनवाने का यत्न करते हैं।

ईसाई धर्म की निष्ठा रोम के सैनिक संगठन से टकरा गयी। निष्ठा के सम्मुख सैनिक संगठन चूर-चूर हो गया। परन्तु एक निष्ठा दूसरी निष्ठा से टकराई, जब इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ केवल निष्ठाओं का विरोध नहीं था, प्रत्युत दोनों निष्ठाओं की पीठ पर तलवार का सामना भी था और निष्ठाओं के साथ शारीरिक प्रलोभनों में भी मुकाबला था। इस कारण दोनों निष्ठाओं में अन्तिम निर्णय न हो पाया।

फ़ाउद यूनिवर्सिटी (मिश्र) के प्रोफ़ेसर मुहम्मद अब्दुल्ला लिखते हैं—

> But religious enthusiasm and the spirit of Jehad (religious war) did not attain in Christianity the same fervour as in the Muslim world.[3]

'परन्तु जेहाद (मज़हबी युद्ध) के लिए मज़हबी जोश जितना मुसलमानों में था, उतना ईसाइयों में नहीं था।'

और भी—

> When Abu Hafiz landed in the Island (Crete) he ordered the ships to be burnt and when his troops protested, he addressed them in the following words, "What do you complain of ? I have brought you to a land flowing with milk and honey. Here is your true country, repose and forget the barren places of your native land."
>
> "And our wives and children ?" said they. His reply was, "Your beautiful captives will supply the place of your wives

---

1. John XIV-6 p. 79
2. John X-8
3. Decisive Moments in the History of Islam, page 98.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and then you will become fathers of a new generation."[1]

'जब अब्बू हाफिज क्रीट के द्वीप पर सेना लेकर उतरा तो उसने अपने जहाजों को आग लगा फूँक देने की आज्ञा दे दी। इस पर सेना ने आपत्ति की। उसने यह कहा, 'क्या आपत्ति है तुमको ? मैं तुमको एक ऐसे देश में ले आया हूँ, जहाँ दूध और मधु की नदियाँ बहती हैं। यह है तुम्हारा असली देश। सुख भोगो और भूल जाओ अपनी वीरान मरु भूमि को।'

सैनिकों ने पूछा, 'और हमारी बीवियाँ तथा बच्चे ?'

उसका उत्तर था, 'तुम्हारी सुन्दर दासियाँ, तुम्हारी पत्नियाँ होंगी और तुम एक नयी पीढ़ी के पिता होगे।'

इस सबका अर्थ यह है कि एक ओर अन्धनिष्ठा, दूसरी ओर लूट में औरतें, धन, भूमि आदि का प्रलोभन तथा तीसरी ओर तलवार का प्रयोग—ये सब मिलकर ईसाई संस्कृति का विरोध करने लगे थे। ईसाई भी सत्ताधारी होने के कारण धन और राज्य में सुविधाओं का प्रलोभन देते थे। जहाँ-जहाँ बिना तलवार के इन प्रलोभनों और निष्ठा का मुकाबला हुआ, इस्लाम द्वारा दिये गये प्रलोभन और निष्ठा प्रबल सिद्ध हुए, और जहाँ साथ में राज्य-बल लग गया, वहाँ मुसलमानी राज्य हार गये।

निष्कर्ष यह है कि यहूदी, ईसाई और मुसलमान कोरी निष्ठा को लेकर तलवार के आश्रय अपनी-अपनी दुंदुभि बजाते रहे हैं। इस अन्धेरगर्दी का विरोध करने के लिए युक्ति और विचार ने सिर उठाया। इसे पुनरुद्धार (Renaissance) कहते हैं। यह ईसा की सोलहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। इसलिए उस काल को पुनरुत्थान का काल कहा जाता है। इसका प्रथम संघर्ष ईसाई मत से हुआ। इससे पूर्व यहूदी मत एक राजनैतिक शक्ति के रूप में मिट चुका था, अतः उसके साथ संघर्ष का अवसर नहीं मिला।

यह पुनरुत्थान, जिसके कारण ईसाई मत की जड़ें हिल गयी प्रतीत होती थीं, मुसलमानों द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय के उपरान्त वहाँ के अध्ययन करते हुए विचारकों के, भागकर योरुप में फैल जाने से आरम्भ हुआ था। इन विचारकों का आधार निरीश्वरवाद रहा है। वास्तव में उनका यह निरीश्वरवाद, मुसलमान, ईसाई और यहूदियों के अयुक्ति-संगत ईश्वरवाद की तथा उनकी अन्धनिष्ठा की प्रतिक्रिया ही था।

यह पुनरुत्थान का काल अभी भी योरुप में चल रहा है। यह न तो ईसाई धर्म को और न ही इस्लाम-धर्म को पूर्ण रूप से पराजित कर सका है। निरीश्वरवाद मानव-प्रकृति के प्रतिकूल होने से स्वतः ईसाई धर्म का अथवा इस्लाम का विरोध कर नहीं सका। इसको भी अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तलवार का आश्रय लेना पड़ा है।

1. Decisive Moments in the History of Islam., p. 79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्धविश्वास मानव के लिए अस्वाभाविक बात है। इसी प्रकार निरीश्वरवाद भी मनुष्य के स्वभाव के विपरीत है। विचार-विचार के संघर्ष में निरीश्वरवाद तो अन्ध निष्ठा के सम्मुख भी टिक नहीं सका। अब इसने, मनुष्य की प्रकृति को ही बदलने के लिए, राज्यों में बच्चों की शिक्षा को पूर्ण रूप से अपने हाथ में लेकर, बच्चों के संस्कार ही बदलने का प्रयास आरम्भ कर दिया है। ऐसे राज्य स्वयं को Secular State कहते हैं। पुनरुत्थान की पराकाष्ठा कम्युनिस्ट देशों में हो रही है। जो सैक्युलर हैं उन सब राज्यों में, शिक्षा पूर्णरूपेण राज्य ने, अपने हाथ में ले ली है। वे राज्य चाहते हैं कि कुछ ही काल में मानव-मन से ईश्वर शब्द का लोप हो जाये।

शिक्षा केवल स्कूल-कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में ही नहीं मिलती। इन संस्थाओं के अतिरिक्त स्थानों पर भी शिक्षा दी जाती है। वर्तमान युग में सामान्य-साहित्य, समाचारपत्र, साहित्यिक पत्रिकाएँ और घटनेवाले समाचार भी शिक्षा देते हैं। प्राचीन इतिहास भी इसमें भाग लेता है। इन नास्तिक राज्यों ने इन सब पर भी पूर्ण अधिकार जमा लिया है। केवल वही पत्रिकाएँ और साहित्य इन देशों में चलने दिया जाता है, जो उनके माप-दण्ड से ठीक है। अन्य बहुत-सी बातों के साथ ईश्वरवाद की पुस्तकें, साहित्य और इतिहास तथा समाचार भी इन देशों में घुसने नहीं दिये जाते। इस प्रकार मानव-मन पर नास्तिक्य का आधिपत्य जमाने का यत्न किया जा रहा है। अभी तक ईसाई धर्म इस प्रकार के बलात्कार का विरोध करने में अशक्त सिद्ध हुआ है।

विचार-प्रोत्साहन में इतिहास एक महान् साधन है। इन नास्तिक राज्यों ने विचार पर नियन्त्रण करने के लिए इतिहास की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करनी आरम्भ कर दी है।

जहाँ मुसलमान इस्लाम तथा मुहम्मद साहब के विषय में, इतिहास में किसी प्रकार की भी आलोचना का विरोध करते हैं, वहाँ ईसाई अपने धन और राज्य-बल से इतिहास में अपनी धर्म-पुस्तक अंजील की बात का खण्डन नहीं होने देते। मुसलमान तो अपनी बात छुरे घोंपकर मनवाते हैं और ईसाई राज्य अपनी बात धन तथा राजनैतिक प्रभुत्व से स्वीकार कराना चाहते हैं। इनके विरोधी नास्तिक राज्यों (सैक्युलर स्टेट) वाले तो राज्य-बल से, अपने राज्यों में, अपने मत की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य कोई पुस्तक, दर्शन, विज्ञान, धर्म तथा इतिहास इत्यादि को चलने नहीं देते।

यह है हमारा अभिप्राय, जब हम वर्तमान युग के इतिहास-लेखकों की धाँधली का उल्लेख करते हैं। योरुप और अमरीका में ईसाई धर्म का प्रचार है और उन देशों में सत्य इतिहास के मार्ग में बाइबल एक महान् बाधा बनी है। इस पर भी राज्य-बल और राज्य-प्रलोभनों की अवहेलना कर कुछ लेखक निर्भीकतापूर्वक अपना मत लिखते रहे हैं। परन्तु मुसलमानी राज्यों और कम्युनिस्ट राज्यों में तो ऐसा सम्भव ही नहीं। वहाँ जब भी कोई लेखक कुछ ऐसा लिखता है, जो वहाँ के राजनैतिक प्रभुओं को पसन्द नहीं, न वह लेख छप सकता है और न उसका लेखक जीवित रह सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में इतिहास-लेखन

इतिहास को राजनीति से प्रभावित करने की धाँधली केवल योरुप, इस्लामी देशों तथा कम्युनिस्ट देशों में ही नहीं चली, प्रत्युत भारत में भी चल रही है। मुसलमानों के काल में और अंग्रेज़ों के राज्य में तो यह धाँधली चली ही थी, किन्तु अब इस स्वतंत्र काल में भी चल रही है।

मुसलमानी राज्य-काल में भारत के प्राचीन ग्रन्थ जलाने का भरसक प्रयत्न किया गया। ग्रन्थ लिखनेवालों को राज्य का प्रोत्साहन और शान्त वातावरण नहीं, प्रताड़ना मिली। मुसलमानों द्वारा अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमाने के लिए एक ओर, तथा इस्लाम के प्रचार के लिए दूसरी ओर सात सौ वर्ष तक निरन्तर प्रयास जारी रहा। भारत के निवासी हिन्दू इस प्रयास का विरोध अपनी जान की बाजी लगाकर करते रहे। संघर्ष में शान्ति से बैठकर न तो ज्ञान-विज्ञान की ओर किसी का ध्यान जा सका और न ही इतिहास लिखने में। बहुत कठिनाई से प्राचीन साहित्य की केवल वे ही पुस्तकें सुरक्षित रखी जा सकीं, जिनको हिन्दू विद्वान् हिन्दू समाज के अस्तित्व के लिए परमावश्यक मानते थे। यह सात सौ वर्ष का काल जाति की संस्कृति और धर्म के लिए अति कठिनाई का काल था। हिन्दू समाज ने यह दुस्तर सागर भी पार किया।

इसके उपरान्त अंग्रेज़ी राज्य आया। १७५७ के प्लासी युद्ध के उपरान्त अंग्रेज़ सत्ताधारी के रूप में सम्मुख आये। मुट्ठी-भर अंग्रेज़ हिन्दुस्तान की कोटि-कोटि जनता पर अनायास अपना राज्य स्थापित होता देख चकित रह गये।

फ्रांसीसी राज्य ने हिन्दुस्तान में अपने देश का व्यापार चलाना चाहा था। फ्रांसीसी व्यापार कम्पनी राज्य का एक अंग था। इसके विपरीत ईस्ट इंडिया कम्पनी एक निजी संस्था थी और सन् १७०० से पूर्व इसका आशय यहाँ राज्य स्थापित करने का नहीं था। फिर भी एक प्राइवेट कम्पनी के रूप में यह कम्पनी फ्रांसीसियों से अधिक धनी और शक्तिशाली थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अनियमित कामों पर किसी राज्य का नियंत्रण नहीं था और कम्पनी नियमित व्यापार के साथ अनियमित आय के साधन भी बना रही थी।

हिन्दुस्तान का यह काल अराजकता का काल था। दिल्ली के मुगल परिवार का ह्रास आरम्भ हो गया था। औरंगजेब की नीति के कारण राज्य में मुल्ला-मौलानाओं का बोलबाला हो रहा था। परिणाम यह हो रहा था कि हिन्दुस्तान में छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गए थे और वे अपनी सीमाओं को बढ़ाने के लिए परस्पर लड़ रहे थे।

इस अराजकता में जहाँ फ्रांसीसी एक राज्य की एजेन्सी होने के कारण कुछ अधिक लूट-खसूट नहीं कर सके, वहाँ ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बहुत लम्बे-लम्बे हाथ मारे।

दूसरी ओर योरुप में अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस और इंग्लैंड में शत्रुता चल रही थी। अतः हिन्दुस्तान में भी यह शत्रुता भड़क उठी। फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध की स्थिति हुई तो ईस्ट इंडिया कम्पनी को भी राजनैतिक शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व स्थापित करना पड़ा। फ्रांसीसी, स्थानीय राज्यों की सहायता से अंग्रेज़ों को निःशेष करने का यत्न करने लगे तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी कुछ विरोधी देशी राज्यों से सहायता लेनी आरम्भ कर दी। कम्पनी ने हिन्दुस्तानी सिपाही भी भरती किए। इन्हीं झगड़ों में क्लाइव ने १७५७ में प्लासी का युद्ध जीत लिया।

इस युद्ध के उपरान्त बंगाल में अंग्रेजी शासन स्थापित हो गया। कुछ काल तक द्वैध-शासन चला। धीरे-धीरे यहाँ पूर्णरूपेण अंग्रेजी शासन स्थापित हो गया और वह इंग्लैंड के राज्याधीन हो गया।

बंगाल का प्रबन्ध ठीक होने में पचास वर्ष लग गए और तब अंग्रेजों में पूर्ण हिन्दुस्तान पर शासन जमाने की महत्त्वाकांक्षा बन गई।

अंग्रेज़ विचार करने लगे कि कैसे हिन्दुस्तान का शासन लिया जा सकता है और इतने विशाल क्षेत्र पर थोड़े-से अंग्रेज़ों द्वारा कैसे शासन स्थिर रखा जा सकता है? एतदर्थ दो दिशाओं में कार्य होने लगा। एक दिशा थी कूटनीतिक व्यवहार। इसके द्वारा भिन्न-भिन्न देशी राज्यों को परस्पर लड़ाकर स्वयं बन्दरबाँट का लाभ प्राप्त करना; और दूसरी दिशा थी विशाल जनता के मन में यह अंकित करना कि पूर्व के देशीय राज्यों से अंग्रेज़ का राज्य अति सुखप्रद है।

उस काल में अंग्रेजी शासन ने, कम-से-कम नगरों में, यह प्रभाव जमा लिया था कि अंग्रेजी शासन न्याय और शान्ति प्रदान करता है।

इस नीति की एक झलक श्री रमेश दत्त अपनी पुस्तक 'दि इकॉनॉमिक हिस्टरी ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल' के पृष्ठ ४३० पर प्रस्तुत करते हैं—

> I was brought up among those who had been in the School and College in 1837 when the queen ascended throne; and I do not exaggerate facts when I state that nothing could exceed the appreciation of English literature, thought and character, nothing could exceed the loyalty to the British rule which these men felt and expressed in their everyday conversation. They had recollections of the times of Bentinck, Elphinston and Munro. They had seen Macaulay, Trevelyan and Mtcalf, and a faith in English truth was a part of their beliefs.

'मैं उन लोगों में पला हूँ जो १८३७ में स्कूल और कॉलेजों में पढ़े थे, जब मलिका राजगद्दी पर बैठी थी। मैं जब यह कहता हूँ कि वे लोग अंग्रेजी साहित्य, विचार और चरित्र की प्रशंसा करते थे तथा उन लोगों की अंग्रेजी राज्य के लिए भक्ति जो वे नित्यप्रति अपनी बातों में प्रकट करते थे, अत्यधिक थी, तो यह अतिशयोक्ति नहीं। उन्हें बैंटिंक, एलफ़िन्स्टन और मुनरो के समय की बातें स्मरण थीं। उन्होंने मैकॉले, ट्रैविलियन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मैटकाफ़ को देखा था। उनको अंग्रेजी सचाई में विश्वास था।"

इस प्रकार का प्रभाव बंगाल के नगरों में जमाने का भरसक यत्न किया गया था। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं समझा गया। तत्कालीन अंग्रेज़ी शासन ने एक और बात की। उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमानों के ज़ोर-जुल्म को सात सौ वर्ष तक सहन करके भी जीवित रहा है। अरब से मोराको तक, जहाँ-जहाँ मुसलमान की तलवार गयी थी, वहाँ के निवासी राज्य के बल से कुछ ही वर्षों में इस्लाम को स्वीकार कर बैठे थे। यहाँ हिन्दुस्तान में सात सौ वर्ष का इस्लामी राज्य भी यह काम कर नहीं सका।

अंग्रेज़ इसका कारण यह समझे थे कि हिन्दुओं में ब्राह्मणों, साधु-सन्त-महात्माओं की प्रतिष्ठा बहुत है। इस कारण इस धर्म की जड़ों को खोखला करने के लिए अंग्रेज़ी ढंग के स्कूल-कॉलेज खोले गये और वहाँ उस प्रकार के पढ़े-लिखे बंगाली उत्पन्न किये गए।

इन स्कूलों तथा कॉलिजों की योजना मैकॉले की थी। मैकॉले एक पत्र में अपने पिता को इस प्रकार लिखता है—

Calcutta,
October 12, 1839

My Dear Father,

Our English Schools are flourishing wonderfully....The effect of this education on the Hindoos is prodigious. No Hindoo who has received our English education, ever remains sincerely attatched to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy and some embrace Christianity. It is my belief that, if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable castes in Bengal, thirty years hence, and this will be affected without any efforts to proselytise, without the smallest interference with religious liberty by natural operation of knowledge and reflection. I heartily rejoice in the prospect....

Ever yours,
most affectionately,
T.B. Macaulay[1]

इसका अनुवाद इस प्रकार है—

1. Qtd. by Brahma Datt Bharti in 'Maxmuller Exposed', p.3 from 'The Life and Letters of Lord Macaulay', pp. 329-330 by Rt. Hon'ble Sir George Otto Trevelyan Bart.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय पिता जी,

हमारे अंग्रेज़ी स्कूल अद्भुत ढंग से सफल हो रहे हैं....इस शिक्षा का प्रभाव हिन्दुओं पर बहुत अधिक हुआ है। कोई हिन्दू, जिसने अंग्रेज़ी शिक्षा को ग्रहण कर लिया है, सत्य हृदय से अपने मत से सम्बन्ध नहीं रख सकता। कुछ ऐसे भी हैं जो इसको नीति के रूप में स्वीकार करते हैं और कुछ तो ईसाइयत को ही स्वीकार कर लेते हैं। यह मेरा विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा की नीति पर आचरण किया गया तो आगामी तीस वर्षों में बंगाल के सम्भ्रान्त परिवारों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। बिना मत-परिवर्तन कराए अथवा उनकी मज़हबी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये बिना, यह सब-कुछ हो जायेगा। स्वाभाविक रूप में ज्ञान-प्रसार और विचार-प्रोत्साहन से यह होगा। भावी आशा से मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है।

सदैव आपका
अत्यन्त स्नेह के साथ
टी० बी० मैकॉले

यही वह मैकॉले था जिसने मैक्समूलर को ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में स्थान दिलवाया था, जिससे वह हिन्दू-शास्त्रों के विकृत अर्थ कर सके। मैक्समूर ने वेद-शास्त्रों के अर्थ उन हिन्दुस्तानी भाष्यकारों की सहायता से किये थे जो वाम-मार्ग और बौद्धमत के प्रभाव में थे।

अंग्रेज़ी सरकार ने हिन्दुस्तान पर जहाँ एक ओर कूटनीति से पूर्ण अंग्रेज़ी शासन स्थापित किया, वहाँ जनता के मन में अपने शासन की धाक जमाने का यत्न भी किया। इन दोनों उपायों से अधिक प्रभावी उपाय था जनता की शिक्षा को अपने अधीन कर उन्हें अपने मज़हब से पथच्युत करने का प्रयास। अतः प्राचीन भारतीयों को निन्दनीय घोषित किया गया।

इसके साथ-साथ यह भी प्रयत्न किया गया कि हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों के विकृत अर्थ कर उनको बदनाम किया जाये और तदनन्तर अपने चलाये स्कूल-कॉलेजों में उन धर्म-ग्रन्थों की हँसी उड़ाई जाये।

किस उद्देश्य से मैक्समूलर इत्यादि लोग भारतीय शास्त्रों का अनुवाद करते थे, यह मैक्समूलर के अपने एक वाक्य से ही पता चलता है। अपने एक पत्र में वह लिखता है—

> ....This edition of mine and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India....It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, it is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years....[1]

1. मैक्समूलर का अपनी पत्नी को पत्र सन् १८६६ में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वेद का अनुवाद और मेरा यह ग्रन्थ उत्तरकाल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल है और मैं निश्चय से अनुभव करता हूँ कि उन्हें यह दिखाना है यह मूल कैसा है; यही एक उपाय है जिससे पिछले तीन सहस्र वर्षों में उत्पन्न हुए का विनाश किया जा सकता है।'

वास्तविकता यह है कि ये लोग ईसाई मज़हब के दीवाने थे और ये स्वीकार नहीं कर सकते थे कि बाइबल से प्राचीन और श्रेष्ठ, कुछ अन्य भी हो सकता है।

एक अन्य पत्र में वह लिखता है—

> Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?....I say the New Testament. After that, I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow....the Old Testament, the Southern Buddhist Tripitaka....The Veda and the Avesta.[1]

'बाइबल, नई पुस्तक' संसार की सब धर्म-पुस्तकों में उत्कृष्ट है।····इसके पश्चात् कुरान जो आचार की शिक्षा में 'बाइबल, नई पुस्तक' का रूपान्तर-मात्र है। इसके पश्चात्····'बाइबल, पुरानी पुस्तक' और दाक्षिणात्य-बौद्ध त्रिपिटक····वेद और अवस्ता इत्यादि।

यही महाशय आगे लिखते हैं—

> The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?[2]

'भारत का प्राचीन धर्म मरणासन्न है और यदि उसका स्थान ईसाई धर्म नहीं लेता तो यह किसका दोष हो सकता है?'

ये और ऐसे ही अन्य अनेक पक्षपातपूर्ण लेख लिखे गये और इसका परिणाम यह हुआ कि प्रायः सब शिक्षा-केन्द्रों में यह पढ़ाया जाने लगा—

(१) यह देश एक महाद्वीप है। इसमें अनेक जातियाँ बसी हुई हैं। उनकी भिन्न-भिन्न संस्कृति है।

(२) आर्य जाति हिन्दुस्तान के बाहर से यहाँ आयी थी। इस देश के मूल निवासी नाग, भील, गोंड इत्यादि जातियाँ हैं।

(३) वेद, भूमण्डल के साहित्य में सबसे प्राचीन पुस्तक है, परन्तु इसमें गडरियों के गीत हैं। इसमें आदि-मनुष्य के अपरिपक्व मस्तिष्क की कथाएँ, कल्पनाएँ और गीत हैं।

---

1. मैक्समूलर का अपने पुत्र को पत्र।
2. भारत सचिव, ड्यूक ऑफ़ आर्गाइल को १६ दिसम्बर सन् १८६८ को लिखा मैक्समूलन का पत्र। (उक्त तीनों उद्धरण पण्डित भगवद्दत जी के 'भारत का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४१ से लिये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) वैदिक काल से पहले भी कई सभ्यताएँ और भाषाएँ थीं।

(५) आदि-मनुष्य एक जंगली जन्तु की भाँति अविकसित मस्तिष्क रखनेवाला प्राणी था और विकास की प्रक्रिया से यह उन्नति करता-करता वर्तमान अवस्था तक पहुँचा है।

(६) परमात्मा का अस्तित्व नहीं है; न ही जीवात्मा का अस्तित्व है। सब-कुछ जड़ प्रकृति ही है और चेतना प्रकृति की एक विशेषावस्था का नाम है।

(७) रामायण, महाभारत और पुराणों में ऐतिहासिक अंश भी लेखकों की कल्पना की ही उपज है। राम, कृष्ण और अन्य ऋषि-महर्षि सब काल्पनिक व्यक्ति हैं। इनका कोई अस्तित्व नहीं था।

(८) भारत के रहनेवालों को इतिहास लिखना आता ही नहीं था। भारतवर्ष का कोई इतिहास नहीं है। पुराने भारत के विषय में जो कुछ पता चलता है, वह विदेशों से आये पर्यटकों के लेखों से ही है। इतिहास का कुछ ज्ञान यहाँ के शिलालेखों तथा यहाँ की टूटी-फूटी इमारतों से भी होता है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति पढ़े-लिखे भारतीयों के मन में डाल दी गयी है और परिणाम यह हो रहा है कि हम स्वराज्य प्राप्त कर लेने पर भी अंग्रेज़ों द्वारा पढ़ायी गयी उक्त भ्रान्त मान्यताओं को गले से बाँधे फिरते हैं।

अनुमान से पहले ही अंग्रेज़ों को यहाँ राजनैतिक स्वतन्त्रता देनी पड़ी। यहाँ की जनता में अपने राष्ट्र, संस्कृति और धर्म में श्रद्धा लोप होने से पूर्व ही उनको यहाँ से जाना पड़ गया। योरुप में दो महान् युद्धों के होने से इंग्लैण्ड अत्यन्त दुर्बल पड़ चुका था और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों का दबाव इतना बढ़ गया था कि इंग्लैण्ड को हिन्दुस्तान से ही नहीं, प्रत्युत अनेक अन्य देशों से भी अपने साम्राज्य का बिस्तरा लपेटना पड़ गया।

इस समय यहाँ अंग्रेज़ों ने दोहरी चाल चली। एक तो यह कि भारत के एक विशिष्ट भू-भाग को उन लोगों के हाथों में देना स्वीकार कर लिया, जिनका न तो देश के साथ प्रेम था, न ही देश की मुख्य जाति हिन्दू से किंचिन्मात्र भी लगाव था। दूसरे, उन्होंने हिन्दुओं में उन नेताओं को बढ़ावा दिया जिनका झुकाव अंग्रेज़ी सभ्यता, साहित्य और परम्पराओं की ओर प्रबल था। भारत की प्राचीन संस्कृति तथा रीति-रिवाजों को निकृष्ट समझनेवाले लोग यहाँ शासक बने तो वे इतिहास के विषय में भी वही नीति अपनाने लगे, जो अंग्रेज़ शासक बना रहे थे।

यहूदी, ईसाई और यूरोपियन नास्तिकों ने अपने-अपने विचार से संसार का इतिहास लिखना आरम्भ किया हुआ है। इस इतिहास को विकृत करने में सबका अपना-अपना उद्देश्य है और उसके अनुरूप ही भारत के वर्तमान स्वराज्य-प्राप्ति-काल के लेखक कार्य कर रहे हैं। इनमें एक कारण तो यह है कि परतन्त्रता के युग में स्वाभाविक रूप में उन लेखकों को मान प्राप्त था, जो अंग्रेज़ों और योरुपियन लेखकों के स्वर में स्वर मिलाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त का शासक-वर्ग भी योरुपियन अथवा नास्तिक मनोवृत्ति रखता है और अंग्रेज़ी काल के विद्वान् को ही विद्वान् मानता है।

अतः इस समय भी वे लोग ही भारत का इतिहास लिख रहे हैं जो ईसाई, यहूदी और अनीश्वरवादी लेखकों के शिष्य हैं। इनके विपरीत कितनी भी युक्तियाँ तथा प्रमाण क्यों न दिये जायें, न तो योरुपीय विद्वान् इनको मानने को तैयार हैं, न ही आज के भारत के शासक।

इतिहास को विकृत करने का उद्देश्य

ईसाई और यहूदी यह बात समझ नहीं सकते कि उनकी धर्म-पुस्तक बाइबल में लिखे इतिहास के अतिरिक्त अथवा विपरीत भी कोई बात सत्य हो सकती है। अतः वे बाइबल की ऐनक से सारे संसार को देखने का यत्न करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं।

बाइबल में लिखा है कि इस पृथिवी पर मानव-सृष्टि का उदय आदम से हुआ और आदम तथा हव्वा को जब स्वर्ग से निकाला गया तो उन्होंने सृष्टि आरम्भ की। बाइबल में आदम की वंशावली और उसका जन्म तथा जीवनकाल लिखा है। इसके विषय में व्याख्या से न लिखकर यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि उस वंशावली के हिसाब से आदम के स्वर्ग से उतरने से आज तक ५४७२ + १९६९ = ७४४१ वर्ष ही व्यतीत हुए हैं।[1] अतः बाइबल को प्रामाणिक पुस्तक माननेवाले; किसी भी सभ्यता को इससे पुरानी सभ्यता मानने के लिए तैयार नहीं होते। यदि वे मानें तो बाइबल को उन्हें गलत मानना पड़ेगा।

मानव-सृष्टि इतने ही काल से है, यह तो वैज्ञानिक भी नहीं मानते। फिर भी वे अपना अनुमान लगाते समय डरते हैं।

इस विषय में निम्न वक्तव्य पठनीय हैं। ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड के रॉयल एन्थ्रोपोलोजिकल संस्थान के जर्नल के ६० वें अंक (जुलाई-दिसम्बर १९३०) में एक लेख 'सभ्य मनुष्य की प्राचीनता' पर छपा है। उसमें लिखा है—

> But as far as man was concerned, his history was still limited by the dates in the margins of our Bible. Even today the old idea of his recent apearance still prevails in quarters where we should least expect to find it and so called critical historians still occupy themselves in endeavouring to reduce the dates of his earlier history....

आगे चलकर फिर लिखा है—

१. यह वर्ष-गणना इस लेख के लेखन-काल तक की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

To a generation which had been brought up to believe that 4004 B.C. or there-abouts, the world was being created the idea that man himself went back to 100,000 years, ago was both incredible and inconceivable.

इन उद्धरणों का अनुवाद इस प्रकार है—

"जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, इसका इतिहास अभी भी बाइबल में उल्लिखित तिथियों तक ही सीमित है। आज भी, मनुष्य का अभी-अभी भूतल पर उत्पन्न होना, उन क्षेत्रों में भी प्रचलित है, जहाँ हमको इसकी आशा नहीं करनी चाहिए। तथाकथित इतिहासज्ञ भी यत्न करते हैं कि प्राचीन इतिहास की तिथियाँ, कम-से-कम पुरानी लिखी जाएँ।

"उस मानव के लिए, जिसको शिक्षा में विश्वास दिलाया गया है कि ४००४ वर्ष ईसा पूर्व में अथवा इसके आस-पास में सृष्टि उत्पन्न हो रही थी, यह मानना कि मानव-प्राणी एक लाख वर्ष पूर्व यहाँ था, असम्भव प्रतीत होता है।"

और भी—

Custodians of the Pentateuch were alarmed by the prospect that Sanskrit would bring down the tower of Babel.[1]

"यहूदियों की बाइबलगत पाँच पुस्तक के रक्षक संस्कृत-साहित्य के कारण बैबल के स्तूप के गिर पड़ने की सम्भावना देखकर भयभीत हो गए थे।"

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारत के इतिहास को विकृत करनेवालों में बाइबल के भक्तों का कितना बड़ा हाथ है। इनको भय है कि भारत का इतिहास तथा संस्कृत-साहित्य का ज्ञान फैल गया तो बाइबल झूठी सिद्ध हो जाएगी।

ईसाई पादरियों ने संस्कृत का अध्ययन ही इस कारण किया था कि भारत में ईसाई मत का प्रचार कर सकें। इसके लिए इंग्लैण्ड में संस्कृत-अंग्रेजी का शब्दकोष लिखने का बृहत् प्रयास किया गया। इस प्रयास के विषय में सर मोनियर विलियम्स अपने शब्दकोष के प्राक्कथन में लिखते हैं—

....I must draw attention to the fact that I am only the second occupant of the Boden Chair, and that its founder, Colonel Boden, stated most explicitly in his will (dated Aug. 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit; so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion.[2]

---

1. Frederic Bodmer : The Loom of Language, New York 1944, p.174.
2. A Sanskrit-English Dictionary, by Sir Monier Williams, Preface, p.IX. 1899.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं यह बताना चाहता हूँ कि मैं, बोडन आसंदी (Chair) पर बैठनेवाला दूसरा व्यक्ति हूँ। इसके संस्थापक कर्नल बोडन ने अपनी वसीयत में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इस आसंदी के स्थापित करने का विशेष उद्देश्य यह है कि बाइबल का संस्कृत में अनुवाद किया जाए, जिससे कि हिन्दुस्तान के रहनेवालों को इस धर्म में लाया जा सके।"

जब पादरी लोग इस उद्देश्य से संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे, तब कुछ ऐसे लोग भी थे जो संस्कृत-साहित्य का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से और ज्ञानवर्धन के लिए कर रहे थे। उन लोगों को भारत का धर्म और शास्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ प्रतीत हुआ था। ऐसे लोगों ने भारत के साहित्य की प्रशंसा आरम्भ कर दी। उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक आर्थर शॉपनहाअर ने फ्रैंच लेखक अक्वील डूपेरिन का उपनिषद् का 'लेटिन' में भाष्य पढ़ा था। उसने दारा शिकोह द्वारा किया गया उपनिषद् का फारसी में अनुवाद भी पढ़ा था। शॉपनहाअर ने इन ग्रन्थों के विषय में लिखा है—

'उपनिषद् मानव-बुद्धि की सर्वोच्च उपज हैं। इनमें लगभग अतिमानवीय (super-human) विचार हैं। संसार में सम्भवतः यह सबसे अधिक सन्तोषप्रद और उन्नत करनेवाला पाठ है। यह मेरे जीवन के लिए आश्वासन रहा है और मृत्यु के समय मेरा आश्रय रहेगा।'

इसी प्रकार के विद्वान् का एक और उदाहरण लीजिये। चन्द्रनगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रैंच विद्वान् लुई जैकालियट ने सन् १९२६ में एक पुस्तक लिखी। इसका नाम था La Bible Daus India (भारत में बाइबल)। सन् १९२७ में इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद छप गया। इसमें श्री लुई जैकालियट ने सिद्ध किया है कि संसार की सब प्रधान विचारधाराएँ आर्य-विचारधारा से निकली हैं। उसने भारत को मानव-सभ्यता का 'पालना' लिखा है।

वह अपनी पुस्तक में लिखते हैं—'प्राचीन भूमि! मनुष्यमात्र का जन्म स्थान! तेरी जय हो! पूजनीय और समर्थ धात्री! जिसको शताब्दियों के नृशंस आक्रमणों ने अभी तक विस्मृति की धूल के नीचे दबाया हुआ है, तेरी जय हो! श्रद्धा, प्रेम, कविता और विज्ञान की पितृभूमि! तेरी जय हो! क्या कभी ऐसा दिन भी आएगा जब हम अपने पाश्चात्य देशों में तेरे अतीत-काल की-सी उन्नति देखेंगे?'

ये और ऐसे अन्य अनेक विद्वान् जब भारत के ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा करने लगे तो ईसाई पादरी जल-भुन गए और उनको गालियाँ देने लगे। इन गालियों का भी एक उदाहरण देखिये—

शॉपनहाअर के विषय में ईसाई पादरी विन्टरनिट्ज लिखता है—

Yet I believe it is a wild exaggeration when Schopen-Hauer says that the teaching of the Upnishads represents, "The fruit of the highest human knowledge and wisdom."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैं विश्वास से कहता हूँ कि शॉपनहाअर का उपनिषद् के विषय में कथन अतिशयोक्ति है।'

एक अन्य जर्मन विद्वान् मैक्समूलर साहब डॉ० स्पीगल के विषय में लिखते हैं—

> A writer like Dr. Spiegel should know that he can expect no mercy; nay, he should himself wish for no mercy, but invite the heaviest artillery against the floating battery which he has launched into the troubled waters of Biblical criticism.[1]

'डॉक्टर स्पीगल सदृश लेखक को जानना चाहिए कि वह किसी दया की आशा नहीं कर सकता। उसे स्वयं किसी की दया की इच्छा करनी भी नहीं चाहिए। बाइबल के विरोधरूपी सागर में जो जल-पोत उसने उतारा है, उस पर भारी गोला-बारी होगी।'

डॉक्टर स्पीगल का अपराध यह था कि उसने लिखा था कि यहूदी धर्म में उन्नति का विचार पारसी धर्म से आया है।

इसी प्रकार लुई जैकालियट के विषय में मैक्समूलर ने लिखा है कि जैकालियट किसी ब्राह्मण के धोखे में आ गया है।

इतिहास की विकृति में राजनैतिक उद्देश्य

इन यहूदियों और पादरियों का भारतीय धर्म और संस्कृति पर आघात तो था ही, साथ ही भारत में अंग्रेजी सरकार ने, न केवल इन ईसाई पादरियों को भारत की संस्कृति तथा धर्म को तुच्छ प्रकट करने में प्रोत्साहन दिया, अपितु ऐसे विद्वान् चुन-चुनकर इतिहास लिखने में लगाये, जो भारत के इतिहास को विकृत करके लिखने लगे। इन्होंने लिखा कि भारत जंगलियों का देश है, यहाँ अनेक आक्रमणकारी आए और यहाँ के लोग उनसे परास्त होते रहे; उन आक्रमणकारियों में आर्य भी एक हैं। ये यहाँ के मूल निवासी नहीं हैं। यहाँ के मूल निवासी भील, गोंड, नागा इत्यादि जातियाँ हैं। द्रविड़ दक्षिण में रहते थे और आर्य उन पर भी आक्रान्त हैं।

इस प्रकार इतिहास लिखनेवालों में लैथब्रिज तथा मैक्डॉनल्ड के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने लिखा है कि भारतीयों को इतिहास लिखना नहीं आता था। इस कारण देश का इतिहास जानने के लिए शिलालेख और पुराने खण्डहरों पर लिखे लेखों से अनुमान लगाने पड़ते हैं। ये 'इतिहासज्ञ' अंग्रेजी सरकार के वेतनधारी थे और कॉलेजों में प्रोफेसर थे।

इनके अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र विचार के लोग भी थे, जो इनकी कुटिलता को प्रकट करते थे। परन्तु वे स्वतन्त्र विचार के लोग सदा सरकार की ओर से विरोध और अवहेलना के पात्र रहे।

---

1. Chips – Genesis and the Zend Avesta, p. 147.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश यह है कि ईसाई तथा यहूदी मत से प्रभावित लोग भारत के साहित्य की निन्दा और भारत के इतिहास को विकृत तो करते ही थे, साथ ही अंग्रेजी सरकार के वेतनधारी भी ऐसे थे, जो भारत की मुख्य जाति हिन्दू और इस जाति के इतिहास को निन्दनीय बताते रहते थे।

इस विषय में मद्रास विश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक महामहोपाध्याय नीलकण्ठ शास्त्री के विचार पठनीय हैं। प्रोफेसर नीलकण्ठ पाश्चात्य पद्धति के ही विद्वान् थे, फिर भी वे भारत के निन्दकों की धाँधली देख क्रोध से भर गये। वे लिखते हैं—

> What if this, but a critique of Indian society and Indian history in the light of the nineteenth century pre-possessions of Europe? This criticism was started by the English administrators and European missionaries and has been neatly focussed by the vast erudition of Lassen; the unfulfilled aspirations of Germany in the early nineteenth century, doubtless had their share in shaping the line of Lassen's thought.

यह महामहोपाध्याय नीलकण्ठ शास्त्रीजी के लेख का वह अंश है जो उन्होंने अखिल भारतीय ओरियण्टल कॉन्फरेन्स (दिसम्बर १९४१) में पढ़ा और उसकी रिपोर्ट के दूसरे भाग पृष्ठ ६५ पर छपा। छपने की तिथि १९४६ की है।

इसका अर्थ है—'भारतीय समाज और भारतीय इतिहास के विषय में जो आलोचना की गई है, वह उन्नीसवीं शती के योरुप के पूर्व-स्वीकृत विचार से प्रभावित है। यह आलोचना अंग्रेज शासकों और योरुपीय ईसाई पादरियों द्वारा आरम्भ की गयी है और लैसन की युक्ति से तीव्र कर दी गयी है। १९वीं शती के आरम्भ में जर्मनी की पराजित अभिलाषाओं का प्रभाव लैसन की विचारधारा पर पहुँचा था।'

इसी प्रकार रायबहादुर सी० आर० कृष्णमाचारुलु को भी उक्त षड्यन्त्र का आभास हुआ था।

Cradle of Indian History, जो अडियार लायब्रेरी मद्रास द्वारा सन् १९४७ में प्रकाशित की गयी है, उसमें वे लिखते हैं—

'ये लेखक जो नवीन बनी जातियों के व्यक्ति हैं और जो सांस्कृतिक उद्देश्यों के अतिरिक्त भिन्न उद्देश्यों से लिखते हैं, कई बार तो स्पष्ट रूप में जातिवाद और पक्षपात से प्रभावित होकर भारतवर्ष का इतिहास लिखते हैं। वे न तो ऐतिहासिक तथ्य देख पाते हैं, न ही उनमें सांस्कृतिक सहानुभूति है।'

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य लेखकों को चुनौती दी थी कि वे आयें और अपने भाष्यों पर वाद-विवाद कर लें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने भी लिखा था कि यह दुर्भाग्य का दिन था कि जब वैबर इत्यादि योरुपीय लेखकों ने संस्कृत पढ़ी। ये जर्मन लेखक यह नहीं मान सकते थे कि ईसा के जन्म से शताब्दियों पूर्व महाभारत लिखा गया था।

आज भारत में स्वराज्य स्थापित हो जाने पर भी उन्हीं पाश्चात्य लेखकों के निष्कर्षों से प्रभावित तथा अंग्रेज राजनीतिज्ञों से विचारित योजना से लिखा गया इतिहास पढ़ाया जा रहा है और भारत सरकार विपुल धन व्यय करके उसका प्रचार कर रही है।

यह राष्ट्र की अवहेलना ही कही जा सकती है। यह हम आगे चलकर बताने का यत्न करेंगे कि योरुपीय विद्वानों द्वारा लिखे गए इस इतिहास में सैद्धान्तिक भूल कहाँ है? यहाँ हम इतना ही लिखना चाहते हैं कि हमारी स्वतन्त्र सरकार ने मैकॉले की योजनानुसार शिक्षित विद्वानों को ही विद्वान् मान रखा है। यद्यपि युक्ति तथा प्रमाण उन निष्कर्षों को रद्द करते हैं, तदपि माननीय वे ही होते हैं।

आज नयी दिल्ली में मैक्समूलर के नाम से एक संस्थान है, जिसे जर्मन सरकार धन देती है और इससे हिन्दू धर्म की निन्दा के ग्रन्थों का प्रचार होता है।

स्वतन्त्र भारत की सरकार की इस भूल में भी कारण वही है। आज के नेतागण उसी मैकॉले द्वारा नियोजित शिक्षा-पद्धति से शिक्षित हैं। मैकॉले की शिक्षा ने तीन प्रकार के काले अंग्रेज पैदा किए हैं—

एक वे हैं जो ईसाई मिशनरियों द्वारा खोले गए स्कूलों में जूनियर कैम्ब्रिज अथवा सीनियर कैम्ब्रिज की पद्धति से शिक्षित हुए हैं। इन महानुभावों ने भारतीय दर्शन शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ, इतिहास, पुराण इत्यादि को देखा तक नहीं। यदि किसी ने कुछ देखा है तो केवल अंग्रेजी लेखकों द्वारा उसके अंग्रेजी में अनुवाद ही देखे हैं। इन लोगों को Benign शब्द से 'भला' शब्द लिखना तथा पढ़ना कठिन प्रतीत होता है। इनको राम और कृष्ण की अपेक्षा क्रॉमवैल और नैलसन अधिक समीप प्रतीत होते हैं। शैक्सपियर और मिल्टन अधिक प्रिय हैं और तुलसी तथा सूर से उनका परिचय नहीं है।

दूसरी श्रेणी के काले अंग्रेज वे हैं, जो सामान्य सरकारी स्कूल-कॉलेजों में पढ़े हुए हैं। उनके ज्ञान में राम, कृष्ण, वाल्मीकि और व्यास तो हैं, परन्तु उनके विषय में वास्तविक ज्ञान नहीं। उनको कुछ-कुछ हिन्दी भी आती है, परन्तु अभ्यास के अभाव में उनको India's Policy of non-alignment is rational यह वाक्य अधिक मधुर प्रतीत होता है और 'भारत की नीति निष्पक्ष है' कहना कठोर लगता है।

एक तीसरे प्रकार के काले अंग्रेज भी हैं। वे प्रायः यूनिवर्सिटियों और सरकारी शिक्षा-विभाग से सम्बद्ध, परन्तु प्राइवेट स्कूलों व कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त हैं। वे भारतीय परम्पराओं से परिचित हैं। प्रायः उनको इनसे लगाव भी होता है, परन्तु शिक्षा के अभाव से परेशान रहते हैं और नहीं जानते कि भारतीय बातों को और भारतीय चलन को ठीक कैसे सिद्ध करें? क्योंकि नेतृत्व प्रथम और द्वितीय श्रेणी के काले अंग्रेजों के हाथ में है, इस कारण तृतीय श्रेणी के काले अंग्रेज उनके पीछे लग जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम श्रेणी के लोग नेता बन गए हैं। यह केवल इस कारण कि वे अंग्रेजी भाषा के जानकार हैं। अंग्रेजों के काल में उनकी महिमा थी। तब के बने नेता अभी तक नेता बने हुए हैं।

भौतिकवाद—इतिहास की विकृति में दूसरा कारण

मानव-इतिहास को विकृत करने में दूसरा कारण भौतिकवाद है। भौतिकवादी जगत् के हिलने-डुलने का कारण नहीं बता सकते। वैसे तो प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने कहा है—

No particle of matter can change its place nor can it change the speed of its motion without the help of an outside force.

अर्थात्—प्रकृति का एक कण भी अपना स्थान नहीं बदल सकता, न ही अपनी गति में परिवर्तन ला सकता है, बिना बाहरी शक्ति की सहायता के।

फिर भी वर्तमान युग के नास्तिक वैज्ञानिक यह मानने को तैयार नहीं कि प्रकृति के अतिरिक्त कोई आत्मतत्त्व है जो इस जगत् में गति उत्पन्न कर रहा है। ये जीवित प्राणी में और उसके शव में अन्तर का कारण नहीं बता सकते। यह इन वैज्ञानिकों में बुद्धि-तत्त्व के अभाव के ही कारण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वे संसार में हो रही घटनाओं का होना तो अनुभव करते हैं, परन्तु उन घटनाओं में कारण नहीं समझ सके। इसे समझना बुद्धि का काम है। इन्द्रियों से अनुभव करना तो मन का काम है। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान मन में संचित होता है। उस ज्ञान के आधार पर वे मन के भरोसे ही कार्य कर सकते हैं, परन्तु किसी घटना में 'क्यों' का उत्तर तो बुद्धि ही दे सकती है और वर्तमान वैज्ञानिकों में इसी की न्यूनता प्रतीत होती है।

इन्द्रियाँ बाहरी संसार का ज्ञान प्राप्त कर मन को दे देती हैं। उस ज्ञान का अर्थ, उसका स्रोत और उसके काल तथा दिशा इत्यादि का ज्ञान तो बुद्धि ही पता कर सकती है। किसी घटना में कारण बुद्धि ही बता सकती है। बुद्धि का विशेष कार्य है अनुमान लगाना। न्यूटन के इस सिद्धान्त के प्रतिपादन करने के उपरान्त भी इसे मानने में संकोच नहीं होना चाहिए था कि अवश्य कोई ऐसा तत्त्व है जो चेतन है और गति की दिशा, इसके काल और स्थान का निश्चय करता है।

यही बात, जो न्यूटन ने आज से तीन सौ वर्ष पूर्व कही थी, ब्रह्मसूत्रों में आज से पाँच सहस्र पूर्व कही गई थी। प्रकृति में गति उत्पन्न करने के लिए किसी आत्मतत्त्व की आवश्यकता होती है। ब्रह्मसूत्र में कहा है कि प्रकृति अपना स्थान और दिशा बिना आत्मतत्त्व की सहायता के बदल नहीं सकती।

हमारा मत है कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक बुद्धि के अभाव के कारण ही नास्तिक हैं। अन्यथा यह तो मानना ही पड़ता कि पृथिवी-जैसा बड़ा पिण्ड, जो लगभग सोलह सौ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मील प्रति सैकण्ड की गति से चल रहा है, वह अवश्य किसी महान् शक्तिवान् से चलाया गया है।

बुद्धि का अभाव ही वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के द्वारा सृष्टि-रचना के विषय में कुछ जानने में बाधक है।

एक बार यह जान लिया जाए कि सृष्टि का रचनेवाला कोई ज्ञानवान् तत्त्व है तो फिर विकासवाद-जैसे अयुक्त सिद्धान्त को मानने में कोई कारण नहीं रह जाता। साथ ही यह मानने में कोई बाधा नहीं रहती कि प्रारम्भिक काल में भी बुद्धिमान् प्राणी उत्पन्न हो सकते थे।

एक अन्य बात भी है। यदि हम प्राणी में आत्मा का होना मान लें तो प्राणी द्वारा निर्माण किया इतिहास न तो उद्देश्यहीन रह जाता है, न ही उन्नति अथवा ह्रास की ओर जाता हुआ होने में किसी प्रकार की असम्भवता होगी।

अतः इतिहास की खोज में नास्तिक बाधक हुआ है। यह हमारा निश्चित मत है कि भौतिकवाद इतिहास की खोज में बाधक हो रहा है और श्रेष्ठता, बुद्धिशीलता तथा व्यवहार में नियमों (ऋतों) के पालन करने में बाधक दिखाई देता है।

ऐतिहासिक अन्वेषणों में भूल

भारतवर्ष के इतिहासज्ञों की इतिहास-लेखन की एक विधि थी। विदेशी इतिहासकार एक दूसरी विधि से इतिहास लिखते रहे हैं। इन दोनों विधियों में अन्तर है। इस विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि विदेशी लेखक जब भारत का इतिहास ढूँढने लगे, तो उनको अपनी विधि के अनुसार लिखा हुआ इतिहास नहीं मिला। अतः उन्होंने समझा कि भारतीयों को इतिहास लिखना नहीं आता था।

इन लेखकों ने बाइबल में से तो इतिहास ढूँढ लिया, परन्तु ये भारत में पहुँचकर किसी ऐसी पुस्तक की खोज में लग गए जैसी इंग्लैण्ड में 'Life of King Henery the VIII' (राजा हैनरी अष्टम का जीवन-चरित) अथवा 'Reign of Queen Elizabeth' (महारानी ऐलिज़बेथ का राज्य-काल) है।

ऐसी पुस्तक यहाँ मिली नहीं। इससे उन्होंने यह मान लिया कि भारतीयों को इतिहास लिखने का ढंग आता ही नहीं था। अतः वे अपने ढंग से खोज करने लगे।

इंग्लैण्ड के प्राचीन निवासी तो असभ्य थे, वे लिखना-पढ़ना जानते नहीं थे। विन्सैन्ट चर्चिल अपनी पुस्तक A History of the English Speaking People, Vol. I (Bantam edition, July 1963) के पृष्ठ ३ पर लिखते हैं :

....Brittania was the prime centre of the Druidical religion, which, in various forms and degrees, influenced profoundly the life of Gaul and Germany. "Those who want to make a study

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of the subject," wrote Caesar, "generally go to Britain for the purpose." The unnatural principle of human sacrifice was carried by the British Druids to a ruthless pitch.

(ब्रिटेन ड्राइडिकल मत का मुख्य केन्द्र था। इस मत ने जर्मनी और गाल पर कई प्रकार से और कई सीमाओं तक प्रभाव डाला था। 'जो इसका अध्ययन करना चाहते हैं', सीज़र ने कहा था, 'वे इसके लिए ब्रिटेन जाते हैं।' ब्रिटिश ड्राइड बहुत बड़े स्तर पर मनुष्य-बलि देते थे।)

अतः भारत के इतिहास की खोज का ढंग वह नहीं हो सकता था जो ब्रिटेन का था। भारत के लोग बहुत ही प्राचीन काल से लिखना-पढ़ना जानते थे। इनके प्राचीन ग्रन्थ भी मिलते हैं। यह ठीक है कि मुसलमानी काल में बहुत-से ग्रन्थ नष्ट कर दिए गए। फिर भी, अभी भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। उनसे भारत के इतिहास का बहुत अच्छा अनुमान लग सकता था। परन्तु योरुपीय लेखकों ने भारतीय ग्रन्थों में खोज करने के स्थान पर पत्थर पर खुदे लेखों, मुद्राओं और विदेशी लेखकों के लेखों में भारत का इतिहास खोजना आरम्भ कर दिया।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि इतिहास के ये स्रोत अवांछनीय हैं और उनसे सहायता नहीं लेनी चाहिए। फिर भी हमारा दृढ़ मत है कि भारत के इतिहास का मुख्य स्रोत रामायण, महाभारत, ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। इसके पश्चात् प्रचलित लोकगाथाएँ हैं। तब जाकर कहीं यहाँ के शिला-लेख और राज्य-मुद्राएँ आती हैं और सबसे अन्तिम स्तर पर विदेशी पर्यटकों के लेख हो सकते हैं।

विदेशियों का ज्ञान, वे कितने ही वर्ष इस देश में क्यों न रहे हों, उतना पूर्ण नहीं हो सकता, जितना कि देशी लेखकों का होता है। उदाहरण के रूप में अलबरूनी ने जो कुछ तत्कालीन भारत के विषय में लिखा है, वह बहुत अच्छा होते हुए भी, कभी भी पूर्ण और सर्वथा सत्य नहीं हो सकता। अलबरूनी पंजाब के कुछ उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में ही रहा और वहाँ के कुछ लोगों से ही मिला। इस कारण उसके अधूरे ज्ञान की तुलना में हम तत्कालीन भारतीय लेखकों के लेखों को प्राथमिकता ही देंगे।

इन विदेशी लेखकों की अनर्गल बातों के एक-दो उदाहरण देना चाहते हैं। मैगस्थनीज़ यूनान का रहनेवाला था। यह आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व भारत में आया था। ऐसा कहा जाता है कि उसकी एक पुस्तक के कुछ टूटे-फूटे उद्धरण मिले हैं और उन उद्धरणों को संकलित कर उनका अनुवाद 'श्वेन बैक' ने प्रकाशित किया है। इन उद्धरणों में एक स्थान पर लिखा है कि 'मैगस्थनीज़ सैल्यूकस का राजदूत बनकर सैण्ड्राकोट्स के दरबार में और उसकी राजधानी पालिब्रोथ्रा में रहा है।' वह विलुप्त पुस्तक, जिसके कुछ उद्धरण ही मिले हैं, उस नगर में बैठकर लिखी गई थी।

इस वक्तव्य का अर्थ एक अंग्रेज़ ने यह लगाया है कि मैगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में आकर रहा था। इस अंग्रेज़ी लेखक का नाम है 'सर विलियम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोन्स'। यह जोन्स 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' का मन्त्री रहा है। उसने सैण्ड्राकोट्स को चन्द्रगुप्त और पालिब्रोथ्रा को पाटलिपुत्र का अपभ्रंश माना है।

कुछ अन्य प्रमाणों से पता चलता है कि सैल्यूकस का राज्य ईसा पूर्व सन् ३२२ में था। केवल इसी प्रमाण के आधार पर यह लिख दिया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य भी ईसा पूर्व ३२२ के लगभग हुआ था।

भारतीय प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहणकाल विक्रम पूर्व १४४५ अथवा ईसा पूर्व १५०२ है। दोनों गणनाओं में बहुत बड़ा अन्तर है। इसका कारण है सर जोन्स की यह मिथ्या कल्पना कि सैण्ड्राकोट्स शब्द चन्द्रगुप्त मौर्य का अपभ्रंश है।

मैगस्थनीज़ भारत में आया होगा। वह भारत के किसी नगर और किसी राजा के दरबार में रहा होगा, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह नगर पाटलिपुत्र और वह राजा चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं था। यह सम्भव है कि सैण्ड्राकोट्स चन्द्रगुप्त शब्द का अपभ्रंश हो, परन्तु सैण्ड्राकोट्स मौर्य नहीं था और न ही वह पालिब्रोथ्रा पाटलिपुत्र है जो आज पटना के नाम से विख्यात है। हमारे इस कथन का प्रमाण मैगस्थनीज़ की पुस्तक के उद्धरणों में ही मिलता है।

इस पुस्तक में लिखा है कि एक डायनुशस नाम का व्यक्ति पश्चिम से भारत में आया था। उसी के वंश में एक हेराक्लीज़ नाम का राजा हुआ है। वह साधारण मनुष्यों से बल-बुद्धि में बड़ा था और उसने बहुत-सी स्त्रियों से विवाह किया था तथा बहुत-से पुत्र उत्पन्न किए थे। इस हेराक्लीज़ ने बहुत-से नगर बसाए, जिनमें सबसे बड़ा पालिब्रोथ्रा था।

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर लिखा है कि हैराक्लीज़ से सैण्ड्राकोट्स तक १३८ पीढ़ियाँ हुई हैं। एक अन्य स्थान पर लिखा है कि पालिब्रोथ्रा नगर गंगा और इराना-बोअस नदी के संगम से २०० मील ऊपर की ओर स्थित है।

श्री एम० डी० अन्नविल्ले का मत है कि इराना-बोअस यमुना नदी का नाम है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि सैण्ड्राकोट्स चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं था। चन्द्रगुप्त मौर्य तो अपना वंश चलानेवाला स्वयं था। वह किसी वंश की १३८ अथवा १३९वीं पीढ़ी में उत्पन्न नहीं हुआ था। साथ ही पाटलिपुत्र पालिब्रोथ्रा भी नहीं था। पाटलिपुत्र किन्हीं दो बड़ी नदियों के संगम से २०० मील ऊपर बसा हुआ नहीं है।

सर विलियम जोन्स की उक्त कल्पना के उपरान्त अशोक के नाम के कुछ शिलालेखों से यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि उन शिलालेखों को लिखवाने-वाला अशोक मौर्य था और उन पर लिखे कुछ राज्यों के नाम यूनानी राज्यों के हैं। इस प्रकार यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि अशोक उन राज्यों के समकालीन था।

यह बात भी युक्तिविहीन है। सर्वप्रथम, यह सिद्ध नहीं हो सका कि वे शिलालेख अशोक मौर्य के हैं। न ही यह सिद्ध हो सका है कि वे नाम यूनानी राज्यों के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात लिखी हुई मिलती है कि उदयन ने, जो दर्शक का पुत्र था, तैंतीस वर्ष राज्य कर अपने अभिषेक से चार वर्ष उपरान्त गंगा के दक्षिण-तट पर कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नामक नगर बसाया।

वायुपुराण में इस प्रकार लिखा है—

उदायी भविता तस्मात् त्रयस्त्रिंशत् समा नृपः ॥
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ॥[1]

(कुसुमपुर, पुष्पपुर, पाटलि-ग्राम, पाटलिपुत्र पर्यायवाचक हैं।)

इस बात के प्रमाण अन्यत्र भी मिलते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण, पाद ३, अध्याय ७४, श्लोक १३२ में भी उक्त उल्लेख है।

विदेशी पर्यटकों के लेखों से, यहाँ के इतिहास में उलझन ही पड़ी है। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण दिया जाता है। चीनी पर्यटक ह्वेन स्यांग ने हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन और उसके भाई राज्यवर्धन को भी कन्नौज का राजा बताया है। इसके स्पष्ट प्रमाण इतिहास में मिलते हैं कि वे दोनों स्थानेश्वर के राजा थे।

इसी प्रकार के कई अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे विदेशी पर्यटकों के लेखों पर लिखा हुआ इतिहास अविश्वसनीय कहा जा सकता है। हमारा कहना है कि भारतवर्ष का इतिहास भारतवर्ष में विद्यमान एवं उपलब्ध प्रमाणों पर लिखा जाना चाहिए।

मेगस्थनीज़ के उक्त भ्रम-मूलक लेख में भारत का पूर्ण इतिहास ही विकृत हो गया है। बहुत-सी बातें ईसा सम्वत् से आगे-पीछे हो गई हैं।

यह ठीक है कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उस शैली पर नहीं लिखा गया, जिस पर आज के इतिहास लिखनेवाले लिख रहे हैं। हम आगे चलकर इस पर विस्तार से लिखेंगे। साथ ही यह भी ठीक है कि असंख्य प्राचीन पुस्तकें बौद्ध और मुसलमान राजाओं की मूर्खता के कारण विनष्ट हो गई हैं। इस कारण प्राचीन ग्रन्थों से इतिहास खोज निकालने के लिए अतिपरिश्रम की आवश्यकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि विदेशी ढंग पर इतिहास-निर्माण सुगम कार्य है अथवा अधिक तथ्यपूर्ण है। विदेशी ढंग और भारतीय प्रमाण दोनों भ्रम-मूलक हो सकते हैं। फिर भी जब दोनों में भिन्नता आए तो भारतीय प्रमाण सत्य के अधिक समीप माने जाने चाहिएँ।

विदेशी शैली से इतिहास संकलन करनेवालों के दुर्बल आधारों का एक और उदाहरण दिया जा सकता है—

A New History of Indian People, Vol. VI में गुप्त साम्राज्य का वर्णन है। इस पुस्तक के लेखक-द्वय श्री रमेशचन्द्र मजुमदार तथा श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर

---

१. इस विषय में विस्तार से पढ़िए गोरखपुर से छपे महाभारत के परिशिष्ट में पं० इन्द्र नारायण द्विवेदी का लेख (वर्ष ३, अंक ११, पृष्ठ १०९-१३५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं—

"With the accession of Samudra Gupta, our knowledge of the political history becomes fuller and more precise. This is due to a large number of records, engraved on stones and copper-plates during the reign of this monarch."

इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ पर, कुछ ही पंक्तियाँ आगे चलकर लिखा है—

"Of Samudra Gupta himself we possess two records on stone and two on copper. The first two bear no date, but the others are dated respectively 5 and 9. The genuineness of these two dated copper plates has been doubted by many."

इस उद्धरणों के अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय से भारत के राजनैतिक इतिहास का हमारा ज्ञान अधिक विस्तृत और ठीक हो जाता है, क्योंकि इसके राज्यकाल में पत्थर और ताम्र-पत्रों पर बहुसंख्या में लेख अंकित किए गए हैं।

इस 'बहुसंख्या' की व्याख्या अगले उद्धरण में लिखी है।

(२) समुद्रगुप्त के अपने दो लेख पत्थर पर खुदे मिलते हैं, और दो ताम्र-पत्रों पर। इनमें दो पर तिथि नहीं लिखी और दो (ताम्र-पत्रों) पर सम्वत् ५ और ९ लिखा है। इन दो ताम्र-पत्रों की, जिन पर सम्वत् लिखे हैं, सचाई पर बहुत लोग सन्देह करते हैं।

देखिए, कितने दुर्बल आधार पर इतिहास लिखा जा रहा है! इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान काल के इतिहास-लेखक अपने लिखे इतिहास को किन स्रोतों पर लिख रहे हैं। एक राजा के दो पत्थर पर लेख और दो ताम्र-पत्र पर लेखों के आधार पर इतिहास लिखा जा रहा है। उन चार प्रमाणों में भी दो संदिग्ध हैं और दो पर तिथि ही नहीं। लेखक इन्हें more fuller and precise (अधिक मात्रा में और ठीक-ठीक) मानते हैं। इन प्रमाणों के अतिरिक्त पुराणादि ग्रन्थों से उपलब्ध सामग्री को तो ये देखना भी नहीं चाहते।

वर्तमान सरकार अंग्रेजों के मार्ग पर

हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि भारत के इतिहास को विकृत करने में ईसाई और यहूदी मतावलम्बी मुख्य कारण हैं। वे यह सहन नहीं कर सकते कि ईसा और मूसा से ऊपर कोई अन्य व्यक्ति दिखाई दे। न ही वे कभी यह मान सकते हैं कि उनकी बाइबल में जो सृष्टि की उत्पत्ति की तिथि लिखी है वह ग़लत है। भारत के इतिहास के सत्यान्वेषण से यही होनेवाला था। यह उनको रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ।

हमने यह भी उल्लेख किया है कि भारत के इतिहास को विकृत करने में ब्रिटिश शासकों का भी निश्चित उद्देश्य था। वे यह प्रकट करना चाहते थे कि भारत में सभ्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और श्रेष्ठता अंग्रेज़ी राज्य के कारण ही आई है। वे भारतीय जनता के मन पर यह अंकित करना चाहते थे कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य ईश्वर की देन के रूप में आया है।

दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान स्वराज्य सरकार भी अंग्रेज़ी शासकों अथवा ईसाई पादरियों के दु:साहस को चालू रख रही है। इसमें कारण यह प्रतीत होता है कि वर्तमान शासक उन गुरुओं द्वारा शिक्षित हैं, जो भारत की निन्दा करने में अपना लाभ मानते थे। अतः शासक-वर्ग भी अपने गुरुओं की भाँति ही वास्तविक ज्ञान से रहित और प्राचीन भारत के ज्ञान तथा वैभव को अरुचिकर माननेवाला है। अंग्रेज़ और योरुपीय कूटनीतिज्ञों के ढाई सौ वर्ष के पिलाये विष से संचित मस्तिष्कवाले भारतीय आज शासक बन गए हैं, और वे इसी मार्ग को ठीक समझ रहे हैं, जो मार्ग विदेशी शासकों ने जाति को दासता के बन्धनों में जकड़ने के लिए निर्माण किया था।

वर्तमान शासकों के इतिहास को विकृत करने में योगदान के निम्नलिखित उदाहरणों से हमारे उक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाएगी। यह निश्चित है कि वर्तमान शासन भी भारत के इतिहास को विकृत करने में सिर-तोड़ यत्न कर रहा है और सत्य इतिहास के प्रकट होने में बाधाएँ खड़ी कर रहा है।

स्वराज्य के आरम्भ से लेकर सन् १९५९ तक मौलाना आज़ाद भारत के शिक्षा-मन्त्री रहे। वे ही सांस्कृतिक विषयों के भी मन्त्री थे। वे अपने मन्त्रित्व-काल में सदा उन विद्वानों के मार्ग में बाधा बने रहे, जो प्राचीन ढंग पर खोज करने में संलग्न थे। ये महानुभाव सदा उन विद्वानों को ही बढ़ावा देते रहे, जो अंग्रेज़ो काल में इतिहास और सांस्कृतिक विषयों के विशेषज्ञ माने जाते थे और जो भारत की निन्दा करने में विदेशियों के सहायक रहे थे।

मौलाना आज़ाद की हिन्दी तथा संस्कृत-विरोधी नीति तो सर्वविदित है ही। जब तक वे भारत के शिक्षा-मन्त्री रहे, हिन्दी टाइप-राइटर का 'की-बोर्ड' निश्चित नहीं हो पाया। उनके विभाग का पूर्ण प्रभाव हिन्दी भाषा को अपना स्थान लेने में बाधक बना रहा। सबसे बड़ी हास्यास्पद बात यह रही कि हिन्दी भाषा में ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ लिखाने का कार्य मुसलमानी संस्थाओं को ही दिया जाता रहा है।

इतिहास की खोज में भी उन विद्वानों को ही लगाया गया, जो भारत के प्राचीन वाङ्मय से सर्वथा अनभिज्ञ और उस पर अविश्वास रखते थे।

सन् १९४८ के लगभग मौलाना आज़ाद ने एक शिक्षा-आयोग नियुक्त किया। इस आयोग के सदस्यों में दो अंग्रेज़ थे तथा अन्य सदस्य अंग्रेज़ी-छाप के भारतीय थे।

इन लोगों को अणु-मात्र भी ज्ञान नहीं था कि शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं तथा विद्यार्थियों में सदाचार तथा ब्रह्मचर्य की महिमा का कुछ महत्त्व भी है। ये लोग भारत को योरुपीय ढर्रे पर अग्रसर करने में ही सम्मति दे सकते थे और यही कुछ उन्होंने किया भी।

इसी काल में मौलाना आज़ाद ने यह योजना प्रस्तुत की कि वेदकाल से आरम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होनेवाले भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास, भारतीय शासन की ओर से प्रकाशित किया जाए। यह कार्य भी वेद-दर्शनशास्त्रादि ग्रन्थों के अंग्रेज़ी में अनुवादों को पढ़नेवालों के हाथ में दिया गया। ये लोग वेदों से जैमिनि पर्यन्त ग्रन्थों को मिथिकल (कल्पना) माननेवाले थे।

सन् १९५० के नवम्बर मास की ८ तारीख के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में एक समाचार छपा—

'देहली में 'नेशनल इंस्टिच्यूट ऑफ साइंस इन इण्डिया' (भारतस्थ विज्ञान के राष्ट्रीय संस्थान) द्वारा एक सभा बुलाई गई है। इसमें यूनेस्को (UNESCO) के साउथ-एशिया को-ऑपरेशन कार्यालय की सहायता है। इस सभा को भारत के शिक्षा-मन्त्री मौलाना आज़ाद का आश्रय प्राप्त है।

इस सभा में भारत के प्रतिनिधि डॉक्टर मजुमदार ने कहा था—

> Dr. R.C. Majumdar emphasized the necessity of distinguishing between empirical knowledge and scientific knowledge based on observations followed by systematized and classified conclusions.

डॉ० मजुमदार ने अनुभवजन्य और वैज्ञानिक ज्ञान, जो निरीक्षण और व्यवस्थित एवं श्रेणीबद्ध परिणामों पर आधारित हो, में अन्तर करने की आवश्यकता पर बल दिया था।

श्री अल्तेकर जी भी इस सभा में उपस्थित थे। इन दोनों महानुभावों के Scientific knowledge based on observations etc. का एक उदाहरण हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं।

श्री अल्तेकर ने इस सभा में निम्न काल-क्रम रखा था—

> The table placed among others, the origin of Rigveda as between 2000 and 1500 B.C., of old Upanishads from 800 to 500 B.C., of Charaka 100 A.D., of Vedanga Jyotisha, as 500 B.C., Dharmasutras from 600 to 200 B.C. and of Mahabharata, Manusmriti and Ramayana between 200 B.C. and 200 A.D.

'उस तालिका में ऋग्वेद के आविर्भाव को दो सहस्र तथा पन्द्रह सौ वर्ष ई० पू० के बीच, उपनिषदों को ८०० और ५०० वर्ष ई० पू० के बीच, चरक को १०० वर्ष ई० पश्चात्, वेदांग ज्योतिष को ५०० वर्ष ई०पू०, धर्मसूत्रों को ६०० से २०० वर्ष ई० पू० तथा महाभारत, मनुस्मृति व रामायण को २०० वर्ष ई० पश्चात् का बताया है।'

ये तिथियाँ भारतीय परम्पराओं के अनुसार सर्वथा ग़लत हैं, परन्तु मौलाना आज़ाद और अन्य भारतीय शासकों को ये दो विद्वान् ही उपलब्ध हो सके। ये लोग अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों को परमात्मा का अवतार मानते थे।

'विद्या भवन' द्वारा लिखित The History and Culture of the Indian

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

People के सम्पादन के लिए भी उक्त विद्वान् ही मिले। 'विद्या भवन' के संस्थापक श्री के० एम० मुन्शी हैं और उनके इस भवन द्वारा लिखित इतिहास के प्रथम भाग के सम्पादक हैं श्री आर० सी० मजुमदार, जिन्होंने इस पुस्तक में रामायण इत्यादि को Traditional History और Events of pre-historic age लिखकर अपनी अज्ञानता का ही प्रदर्शन किया है। वे भारतीय इतिहास लेखन-शैली के अनभिज्ञ ही सिद्ध हुए हैं।

इसी पुस्तक की भूमिका में मुंशीजी लिखते हैं—

In the past, Indians laid little store by history.

(प्राचीन काल में भारतवासी इतिहास पर बल नहीं देते थे।)

यह कथन भी इतिहास लिखने के भारतीय ढंग से अनभिज्ञता ही प्रकट करता है।

हमारा मत है कि आधुनिक पद्धति बहुधा गप्पों और कल्पनाओं से भरी पड़ी है। उसे वैज्ञानिक कहना विज्ञान का शत्रु बनना है।

'विद्या भवन' की उक्त पुस्तक में विदेशी इतिहास-लेखकों का ही अनुकरण किया गया है। वास्तव में श्री मजुमदार से किसी अन्य बात की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

शासन का सत्यान्वेषण में प्रमाद, अंग्रेजी-काल की परम्पराओं को अभी तक चालू रखने में सहायक हो रहा है। यह ठीक है कि ढोंग और फ़रेब चिरकाल तक नहीं रह सकते और ईसाई एवं यहूदियों का खड़ा किया असत्य का अम्बार जर्जर होकर गिरेगा, परन्तु योरुपीय विद्वानों का तथा उनकी परम्परा में चलनेवाले भारतीय विद्वानों का प्रभाव हिन्दुस्तानी विश्वविद्यालयों के विद्वानों पर इतना गहरा है कि उसे मिटाने के लिए बहुत ही प्रबल झकझोर देने की आवश्यकता होगी।

एक उदाहरण यहाँ देकर हम पुस्तक के मुख्य विषय पर आएँगे। डॉ० बुद्ध प्रकाश (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के विद्वान् प्राध्यापक, भारतीय विद्या संकाय और सामाजिक विज्ञान संकाय के 'डीन') श्री आर० सी० मजुमदार और श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर से अधिक बुद्धिशील और योरुपियन लेखकों से सतर्क प्रतीत होते हैं। इस पर भी योरुपियन लेखकों की छाप इतनी प्रबल है कि वे अपनी शिक्षा से उत्पन्न पूर्वाग्रहों से बाहर नहीं निकले सके।

आपने एक पुस्तक 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' लिखी है। इस पुस्तक में आपने बहुत परिश्रम किया प्रतीत होता है और कई योरुपीय लेखकों की बातें रद्द की हैं। इस पर भी जो भूलें इस पुस्तक में आपने की हैं, उनका एक नमूना हम पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। आप अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८ पर, वेदों के लिखे जाने के स्थान के विषय में लिखते हैं—

'यदि वेद के अपने साक्ष्य को लिखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य ऋषि आरम्भ से ही सप्तसिन्धु-प्रदेश में रहते थे और इसे देव-निर्मित देश समझते थे। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्र में सरस्वती को सम्बोधन करते हुए ऋषि कहते हैं, 'सरस्वती ! हमें धन-धान्य से सम्पन्न करो। हमें अपने से दूर न करो, न अपने दुग्ध से वंचित करो। हमारा सख्य और सत्कार स्वीकार करो। हम आपसे हटकर किसी अन्य देश में न जाएँ।'

(ऋ० ६-६१-१४)

यह जो कुछ डॉ० बुद्ध प्रकाश ने वेद-मन्त्र के नाम पर लिखा है, वह वेद-मन्त्र में नहीं है। कदाचित् प्रोफेसर साहब को विदित नहीं कि वेदार्थ करने में यास्काचार्य-कृत निरुक्त की साक्षी अकाट्य है। यदि आपने उस ग्रन्थ में सरस्वती का अर्थ पढ़ा होता तो आप यह न लिखते कि ऋषि सरस्वती से धन-धान्य माँगते थे और सरस्वती से अभिप्राय है सरस्वती नदी।

सरस्वती शब्द का अर्थ करते हुए यास्काचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक्कस्मात्। वचेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्॥

(निरुक्त २-२३)

वाक् शब्द के सत्तावन रूप कहे गए हैं। वाक् के उन सत्तावन रूपों में एक रूप सरस्वती है। वेदों में सरस्वती शब्द का प्रयोग देवतावत् और नदीवत् आया है।

इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक, सरस्वती वाक् (वाणी) का पर्याय है। इस वाणी के अर्थवाली सरस्वती का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। एक देवतावत् और दूसरे नदीवत् अर्थात् नदी की भाँति (नदी नहीं) बहनेवाली।

जिस मन्त्र का प्रोफेसर साहब ने उल्लेख किया है, उसके अर्थ यास्क की प्रक्रिया के अनुसार करें, तो इस प्रकार बनेगा। मन्त्र है—

सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक्।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म॥

(६-६१-१४)

अर्थ है—

हे सरस्वती (वेदवाणी), हमें अति समृद्ध ऐश्वर्य को प्राप्त करा। हमें विनष्ट मत कर। पुष्टिकारक ज्ञान से हमें थोड़ा भी दग्ध न होने दे। प्रवेश होने योग्य मित्रभाव से हमें प्रेमपूर्वक स्वीकार कर। उससे रहित होकर हम नाशवान् क्षेत्रों (देहों) में न जाएँ।

सरस्वती शब्द का प्रयोग वेदवाणी के लिए हुआ है।

वेद में नदी शब्द का प्रयोग भी वाणी के लिए हुआ है। निरुक्त कहता है—

नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्। नदना (इमा) भवन्ति। शब्दवत्यः।....

(निरुक्त २-२४)

आगे नदी के लिए सैंतीस शब्द हैं। नद्यः क्यों ? नदना—नाद वाली अर्थात् शब्द करनेवाली होती है।

अर्थात् नदी सैंतीस वस्तुओं के नाम हैं। वे सैंतीस पदार्थ इस कारण नदी कहे जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं क्योंकि वे शब्द करते हैं।

अब देखिए कि सरस्वती भी नदीवत् है, अर्थात् वाणी शब्द करती है। इस कारण सरस्वती (वाक्) नदी है।

आज भी विश्वविद्यालयों में ऐसे लोग हैं जो वेद-शास्त्रों और भारतीय इतिहास के विषय में योरुपीय शैली का अनुकरण करते हैं।

यहाँ दो शब्द पुरातत्त्व के विषय में लिख देना उचित है। पुरातत्त्व विद्या का अर्थ है कि पुरानी खुदाइयों में निकली वस्तुओं को देख, उनका अध्ययन कर इतिहास की खोज करना।

यह एक संदिग्ध विद्या है। जब यह किसी लिखित प्रमाण का समर्थन करती है तब तो ठीक है, परन्तु यह विद्या स्वतन्त्र रूप में प्रमाण नहीं हो सकती।

उदाहरण के रूप में शाहजहाँ के काल में प्राचीन कुल के किसी व्यक्ति के पास पृथ्वीराज के काल की मुद्राएँ रखी हों और उसी के साथ शाहजहाँ के काल की स्वर्ण-मुद्राएँ भी हों; दोनों एक ही पात्र अथवा स्थान पर किसी भूकम्प में दब गई हों। कालान्तर में खुदाई के समय दोनों मुद्राएँ इकट्ठी निकलें तो यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पृथ्वीराज और शाहजहाँ समकालीन थे।

ये दोनों समकालीन नहीं थे, क्योंकि हम अन्य लिखित प्रमाणों से ऐसा जानते हैं। यदि वे लिखित प्रमाण न होते अथवा उन प्रमाणों को हम अमान्य कर दें तो क्या इन दो प्रकार की मुद्राओं के एक ही स्थान से निकल आने से दोनों को समकालीन माना जाएगा?

पुराने पदार्थ निर्जीव होते हैं। वे मुख से नहीं बोलते। इसी कारण उनसे अनुमान लगानेवाला अपने सीमित ज्ञान से और प्रायः पूर्वाग्रहों के आधार पर अनुमान लगाता है।

अब मोहञ्जोदड़ो की खुदाइयों की बात देख लीजिए। उनकी ओर संकेत करते हुए डॉक्टर बुद्ध प्रकाश अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही लिखते हैं—

'पुरातत्त्व की दृष्टि से भारतीय धर्म और संस्कृति का विकसित रूप सबसे पहले सिन्धु-सरस्वती के क्षेत्र में मिलता है। हाल की खुदाई से स्पष्ट है कि ईसा से करीब तीन हजार वर्ष पहले बलूचिस्तान से पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक और अफगानिस्तान से गुजरात और सौराष्ट्र तक एक महान् संस्कृति मौजूद थी जिसका विकास वैयक्तिक रूप से हुआ और जिसकी निजी विशेषताएँ हैं।....'

यह दृष्टि पुरातत्त्व नहीं देती, वरंच यह दृष्टि इन पुरानी खुदाइयों को देखनेवाले के पूर्वाग्रह से बनी है। हमारा यह स्पष्ट मत है कि पुरातत्त्व कोई स्वतन्त्र-ज्ञान का स्रोत नहीं है। यह केवल समर्थक है।

एक बात यहाँ यह भी समझ लेनी चाहिए कि पुरातत्त्वज्ञ सभ्यता के विषय में तो बता सकते हैं, परन्तु संस्कृति के विषय में नहीं बता सकते। दोनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वाचक हैं। खण्डहरों से सभ्यता का ही ज्ञान होता है, संस्कृति का नहीं। सभ्यता रहन-सहन के साथ सम्बन्ध रखती है। संस्कृति मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास से सम्बन्ध रखती है। बड़े-बड़े नगरों, उनमें स्नानागारों, सड़कों और नालियों से सभ्यता का अनुमान तो लग सकता है, परन्तु वे लोग राक्षस थे अथवा देवता, इसका अनुमान इनसे नहीं लगता।

विकासवाद

हमने यह लिखा है कि योरुपीय पद्धति पर इतिहास लिखनेवाले भ्रामक इतिहास लिख रहे हैं। हमने यह भी लिखा है कि वर्तमान स्वराज्य सरकार भी, उन लेखकों द्वारा प्रसारित भ्रान्ति में सहायक हो रही है। इस भ्रान्ति में दो सैद्धान्तिक कारण हैं। इस समय योरुपीय विद्वान्-मण्डली उन दो सैद्धान्तिक भूलों में पड़ी हुई, अपने भ्रान्त मार्ग को छोड़ने के लिए न तो उद्यत है, न ही वह छोड़ सकती है। ये दो सैद्धान्तिक भूलें हैं—विकासवाद और भौतिकवाद।

इस अध्याय में हम विकासवाद के विषय में लिखेंगे। यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर आश्रित हैं, फिर भी ये स्वतः स्वतन्त्र रूप में अपना-अपना पक्ष उपस्थित करते हैं। इस कारण हम दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन करना चाहते हैं।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार विकासवाद कोई सिद्धान्त नहीं है। यह वाद (मत) मात्र ही है। अंग्रेज़ी में इसको 'थ्योरी' कहते हैं। 'थ्योरी' उस मत को कहते हैं, जिसके विषय में कोई निश्चयात्मक निर्णय न हो सका हो। सिद्धान्त उस मत को कहते हैं जिसके विषय में पूर्ण रूप से निश्चयात्मक निर्णय हो चुका है। विकासवाद अभी एक वाद-मात्र है। परन्तु योरुप के सब विद्याओं के विद्वान् इस वाद को सिद्धान्त मान, इसका प्रयोग मानव के सब कार्यों पर करने लगे हैं और जो कुछ भी तथा जहाँ भी वाद के प्रतिकूल कुछ मिलता है, उसको बिना विचार के त्याज्य मान लिया जाता है। इतिहास के क्षेत्र में यही कुछ हो रहा है। विकासवाद के अनुसार वर्तमान युग प्राचीन युग से उन्नत होना चाहिए। प्राचीन उन्नत नहीं हो सकता।

अतः यह उचित समझा गया है कि पहले इस विकासवाद पर विचार किया जाए। विकासवाद का संक्षेप में रूप है सरलता से जटिलता की ओर, अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था की ओर, अनुपयोगी से उपयोगी दिशा की ओर तथा अज्ञानता से ज्ञान की ओर संसार का चलना।

विकासवाद को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक है, एक-कोषाणु (युनि-सैलुलर) प्राणी से मनुष्य, जो एक अतिजटिल प्राणी है, का निर्माण; और दूसरा भाग है एक असभ्य अविकसित मस्तिष्कवाले मनुष्य से रूस और अमरीका के वैज्ञानिक का प्रादुर्भाव।

प्रथम भाग को दो शब्दों में कहा जाए तो वह है सरल रूप के जीवन से विषम रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जीवन की ओर प्रगति।

एक प्राणी का सरलतम शरीर 'अमीबा' है। यह एक-कोषाणु जन्तु है। इस जन्तु का शरीर, लगभग एक गोलाकार कोषक (रखने) के समान है। इसमें तीन भाग होते हैं। एक है कोष्ठक की दीवार। यह प्रायः दूसरे भाग से कड़ी होती है। यही इस प्राणी के शरीर का बाहरी रूप बनाती है। इस दीवार के भीतर एक प्रकार का अर्ध-तरल पदार्थ होता है। यह प्रोटोप्लाज़्म कहलाता है। इस अर्ध-तरल पदार्थ में कहीं-कहीं छोटे-छोटे वायु के बुदबुदे भी पाए जाते हैं। परन्तु यह प्राणी के शरीर का आवश्यक अंग नहीं होते। ये वायु के बुदबुदे संख्या तथा परिमाण में न्यूनाधिक होते रहते हैं। कभी ये नहीं भी होते। इस प्राणी के शरीर का तीसरा भाग एक पीत रंग का अधिक ठोस बिन्दु मात्र पदार्थ होता है जिसको न्यूक्लियस कहते हैं।

यह प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने शरीर की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की क्षमता रखता है। ऐसा माना गया है कि इसमें विकास होकर, अन्य सब जन्तु बने हैं। इस आरम्भिक कोषाणु की बनावट में तो अन्तर नहीं पड़ा। हाँ, ये कोषाणु स्वतन्त्र जीवन छोड़कर इकट्ठे रहने का स्वभाव बना बैठे हैं। और अब इकट्ठे रहते हुए इन्होंने जीवन-कार्य का परस्पर बँटवारा कर लिया है। इस बँटवारे से ही उन्नत तथा जटिल प्राणी का अस्तित्व बना है। एक उन्नत प्राणी में शरीर की गतियों के लिए, पाचनक्रिया के लिए तथा शरीर की रक्षा के लिए पृथक्-पृथक् कोषाणु-समूह कार्य करने लगते हैं। प्राणी का एक आवश्यक कार्य है जनन-क्रिया। इस क्रिया से एक प्राणी दूसरे प्राणी का निर्माण करता है। उन्नत प्राणियों में इस कार्य के लिए पृथक् कोषाणु-समूह नियत है।

यह कहा जाता है कि पहले एक-एक स्वतन्त्र कोषाणुओं से कोषाणु-समूह बने। इन समूहों में रहते हुए भी ये कोषाणु स्वतन्त्र जीवन रखते थे। बाद में इन कोषाणुओं ने संयुक्त-जीवन अपनाया, अर्थात् भिन्न-भिन्न कोषाणु-समूह जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों में अपने को विशेष कार्यकर्ता बनाने लगे। इससे प्राणी, जो आरम्भिक कोषाणुओं का समूह-मात्र होता है और जिसमें कोषाणु-समूह ने भिन्न-भिन्न जीवनोपयोगी कार्य करने का स्वभाव बना लिया है, उन्नत हो गया माना जाता है। यह है विकास-प्रक्रिया का प्रथम अंग।

विकास-प्रक्रिया का दूसरा अंग है मनुष्य, जो एक सर्वाधिक जटिल प्राणी है, का एक जंगली (वन-मानुषी) अवस्था से उठकर न्यूयॉर्क अथवा लन्दन व मास्को में रहनेवाला सभ्य नागरिक बन जाना। प्रारम्भिक मनुष्य का मस्तिष्क तथा शरीर भी सरल बनावट का था। उसकी टाँगें छोटी, बाहें लम्बी, सिर छोटा, छाती और कमर झुकी हुई मानी गई है और वर्तमान युग के उन्नत शरीरवाले मनुष्य की बनावट उससे भिन्न देखी जाती है। यह है विकासवाद का दूसरा अंग। लोग इस विकासवाद को विज्ञान-मूलक बताते हैं। पहले हम विज्ञान का ही अर्थ लिखते हैं।

संस्कृत-परिभाषा में तो विज्ञान आत्मा-परमात्मा-विषयक ज्ञान को कहते हैं। वास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में किसी भी वस्तु के विशेष ज्ञान को विज्ञान का नाम दिया गया है। वर्तमान प्रचलन में विज्ञान का पर्यायवाचक शब्द 'साइंस' है और वर्तमान साइंस एक विशेष प्रकार से प्राप्त ज्ञान का नाम है। जब परीक्षण से इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के उपयोग में आ सकनेवाले उपकरणों द्वारा प्रत्यक्ष किये प्रमाणों से कुछ सिद्ध परिणाम निकाले जाएँ तो इस प्रक्रिया को साइंस कहते हैं। इसमें प्रथम अंग हैं इन्द्रियाँ, द्वितीय अंग है उपकरण, तृतीय है उपकरणों के प्रयोग का ढंग तथा उनसे निरीक्षण करने की क्षमता, और अन्तिम अंग है उन उपकरणों से इन्द्रियों द्वारा जानी बातों पर विचार कर परिणाम निकालना। इस सब-कुछ करने पर भी, कोई सिद्ध बात विज्ञान-मूलक नहीं समझी जा सकती, जब तक कि उस बात के आधारभूत परीक्षण को पुनः दोहराकर वैसे ही परिणाम निकलते न देख लिए जाएँ।

जिस घटना को दोहराया नहीं जा सकता, उसको सिद्ध अर्थात् वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। बार-बार किसी घटना को देखकर एक धारणा बनती है। उस धारणा को अंग्रेजी में हाईपोथेसिज़ कहते हैं। इस धारणा को सिद्ध करने के लिए परीक्षण किए जाते हैं। बहुत-से परीक्षणों के कल्पित कारण को वाद कहते हैं। जब तक कोई भी बात धारणा और वाद के स्तर पर रहती है, यह वैज्ञानिक नहीं मानी जाती। वही धारणा अथवा वाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त माना जाता है, जब उस वाद की सत्यता बार-बार परीक्षणों से सिद्ध की जा सके।

इस कसौटी पर विकासवाद अभी वाद के स्तर से ऊपर नहीं आया। इसको अभी तक सिद्धान्त और वह भी वैज्ञानिक सिद्धान्त का पद प्राप्त नहीं हुआ। इस पर भी विकासवाद अनीश्वरवादियों को परमात्मा तथा आत्मा के अस्तित्व को न मानने में एक बहाना प्रस्तुत करता है। इस कारण इस असिद्धवाद को सिद्धान्त (सिद्ध हो चुकी बात) मानकर ये लोग पूर्ण जीवन-मीमांसा को उलट-पुलट करने में लग गए हैं। इसी आधार पर इतिहास को भी ग़लत करने का यत्न किया गया है।

विकासवाद के पूर्व-भाग को संक्षेप में और सरल भाषा में लिखें तो यह इस प्रकार होगा—

प्राकृतिक पदार्थों का आदि और मूल पदार्थ ईथर (ether) है। उसमें तरंग उठना विद्युत्, प्रकाश, शब्द और गर्मी है। इसी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को इलेक्ट्रोन (electron) कहते हैं। इन इलेक्ट्रोन के संघात से ही विद्युत् अथवा शक्ति के रूप बने। शक्ति का स्थूल रूप ही मैटर (matter) है। मैटर तीन अवस्थाओं में दिखाई देता है—वायु, तरल तथा ठोस।

ईथर से उत्पन्न पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षानुकर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते हैं। कुछ समय में वही चक्र सूर्य हो जाता है। सूर्य में गर्मी और गति के कारण चक्राकार (rings) बन जाते हैं। तदनन्तर वे चक्राकार पृथक् होकर ग्रह बन जाते हैं। ग्रहों से इसी प्रकार उपग्रह उत्पन्न होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के ग्रहों में एक हमारी पृथिवी है। यह पृथिवी पहले गर्म थी। धीरे-धीरे ठण्डी हुई। समुद्र बने, उनसे भूमि निकली और जीवन आरम्भ हुआ।

उक्त प्रक्रिया का घटन तो पृथिवी के बाहर हुआ। इसको हम परीक्षण (experiment) में ला नहीं सकते। परन्तु भूतल पर जो कुछ हुआ, वह विकासवादियों के मतानुसार नीचे दिया जा रहा है। इसी में सन्देह है। उसी को हम अवैज्ञानिक, असिद्ध और वाद-मात्र कहते हैं।

पृथिवी पर चेतन वस्तु उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे बढ़ी। उसके पूर्व न वनस्पति थी और न ही जन्तु। इन दोनों को उत्पन्न करनेवाली थी चेतना (life)। उससे एक शाखा अमीबा (एक-कोषाणु जीव) बन गया। अमीबा इतने बढ़े कि उनको खाने-पीने की कठिनाई होने लगी। इस कठिनाई को पार करने के लिए वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। इन प्रयत्नों में जो शारीरिक बल और मानसिक अभ्यास से बलवान् थे, बच गए। वे फिर बढ़े। भोजन की तंगी के कारण संग्राम चलता रहा। समर्थ बचे और असमर्थ मारे गए। बचे हुए सदा कुछ भिन्न प्रकार से होते थे। इनमें भी वही क्रम चलता गया और बहुत काल के पश्चात् मरते-बचते तथा परिस्थितियों के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते ये मछली, मेंढक, सर्प, पक्षी, गाय, बैल, बन्दर, वनमानुष और मानुष में विकास को प्राप्त हुए।

विकास के इस क्रम पर हमें सन्देह है और इसी को हम अवैज्ञानिक कहते हैं।

इसके आगे वनमानुष से मनुष्य, हबशी, रैड-इण्डियन, योरुपियन, भारतीय और चीनी बने। यह सब विकास परिस्थितियों में संघर्ष के परिणामस्वरूप है। विकास-क्रम के इस भाग पर भी हमें सन्देह है और इसका भी कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

विकासवाद की अप्रामाणिकता

विकासवाद की सबसे प्रबल युक्ति है सब प्राणियों में वैसे ही जीवित कोषाणुओं का होना, जैसा अमीबा नाम का एक-कोषाणु-जन्तु है। उन्नत प्राणियों के (मनुष्य के भी) शरीर में वैसी ही दीवार, प्रोटो-प्लाज़्मस और न्यूक्लियस होते हैं, जैसे अमीबा में देखे जाते हैं। इससे विकासवादियों का अनुमान है कि सरलतम प्राणी, एक अमीबा और एक जटिल प्राणी (higher animal) में अन्तर यही है कि एक कोषाणुवाले प्राणी मिलकर बैठ गए हैं और फिर परस्पर कार्य-विभाजन कर एक जटिल प्राणी बन बैठे।

इस अनुमान में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। इस वक्तव्य में छिद्र हैं और वे वैज्ञानिक ढंग से पूर्ण नहीं किए गए।

(१) उदाहरण के रूप में विकासवादी यह समझा नहीं सकते कि प्रथम जीव का निर्माण कैसे हुआ? यह देखा जाता है कि जीव से ही जीव की उत्पत्ति होती है। अतः जब निर्जीव प्रकृति से ही सब-कुछ बना है, तो प्रथम जीव कहाँ से आया? इसका उत्तर वैज्ञानिकों के पास नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरलतम प्राणी अमीबा लगभग सोलह रासायनिक तत्त्वों (chemical elements) का बना है। इसमें हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और कार्बन मुख्य हैं। सब-के-सब रासायनिक तत्त्व जड़ हैं।

इन जड़ तत्त्वों का आज तक कोई ऐसा संयोग नहीं बनाया जा सका जो जीवन-युक्त अर्थात् चेतनामय हो। हम नित्य जीव का निर्माण प्राणी के द्वारा देखते हैं, परन्तु बिना प्राणी की सहायता के इसका निर्माण होता न देखा गया है, न ही कोई वैज्ञानिक ऐसा करके दिखा सका है।

(२) हम देखते हैं कि कुत्ते से कुत्ता, बिल्ली से बिल्ली और घोड़े से घोड़ा उत्पन्न होता है। यदि यह जटिल (उन्नत) प्राणी मात्र कोषाणुओं का ही संग्रह होते, तो बहुधा यह हो जाता कि किसी जटिलतम जन्तु की सन्तान अर्ध-जटिल जन्तु हो जाती। ऐसा कभी होता नहीं। कभी अर्धनिर्मित सन्तान होती है तो वह जीवित नहीं रह सकती, मर जाती है।

(३) योनि से जाति होती है। एक योनि से उसी योनि का प्राणी उत्पन्न होता है। वर्तमान वैज्ञानिक भी प्राचीन वैज्ञानिकों की भाँति, दो विभिन्न योनियों के संयोग से सन्तानोत्पत्ति का यत्न करते रहे हैं। यह कोई नवीन बात नहीं है। भारत में तो घोड़े और गधे से खच्चर उत्पन्न करने में सफलता भी मिली थी। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि अन्य वस्तुओं में भी ऐसे परीक्षण किए जाते थे। कलमी आम पैदा करने की बहुत पुरानी विद्या है। परन्तु यह प्रक्रिया विकासवाद का प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती, प्रत्युत ये प्रमाण विकासवाद का खण्डन ही करते हैं।

एक बात तो यह है कि जहाँ भी मिश्रित योनियों से जन्तु उत्पन्न होते हैं, वहाँ योनियों में समानता अत्यावश्यक है। गधा और घोड़ा प्रायः समान योनि हैं। गीदड़ और कुत्ता भी समान योनि हैं। बीज का आम और कलमी आम भी समान योनि हैं। गुलाब के फूलों में रंग और गंध में विभिन्नता योनि में भिन्नता प्रकट नहीं करती। यह तो सम्भव है कि नींबू और सन्तरे में पैबन्द लग जाए, परन्तु यह किसी ने करके नहीं दिखाया कि लोकाट और अमरूद में पैबन्द लग जाए, अथवा आम और सन्तरे में पैबन्द लग जाए।

इसके साथ यह भी देखा गया है कि मिश्रित योनि से उत्पन्न जन्तु आगे सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। गधे और घोड़े के संयोग से उत्पन्न खच्चर सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे जीव, जो गीदड़ और कुत्ते के योनि-मिश्रण से बनते हैं, वे आगे चलकर सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। फल अथवा फूल जो मिश्रित योनि के होते हैं, उनके बीज पुनः जमकर पेड़ नहीं बनते। कलम से उनकी श्रेणी चलती है, बीज से नहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति में योनि-परिवर्तन नहीं होता। किसी भी अवस्था में जहाँ कुछ भिन्नता रखनेवाली योनियों के समागम से सन्तान होती है, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी पृथक् एक योनि चलाने में समर्थ नहीं होती। मिश्रित योनि की सन्तान, आगे सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाती है। वनस्पतियों में भी यह देखा गया है। वनस्पतियों में यह विलक्षणता देखी गई है कि एक पेड़ की डाल दूसरे पेड़ से जुड़ जाती है। यह इस प्रकार जैसे किसी की नाक कट जाए तो दूसरे मनुष्य का एक मांस का लोथड़ा काटकर पहले की नाक पर जोड़ दिया जाए। एक प्रकार के गुलाब के पेड़ की शाखा दूसरे प्रकार के गुलाब के पेड़ की डाल के साथ लगा देने से एक ही पेड़ पर दो रंग के अथवा दो गंधों के फूल उग पड़ते हैं. परन्तु उनके गुलाब के बीज गुलाब का वैसा पेड़ उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रखते।

ये परीक्षण विकासवाद का खण्डन करते हैं।

विकासवादी मानते हैं कि सब प्राणियों के जीवन के लक्षण समान हैं, अतः वे सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। वे मानते हैं कि (क) सबके शरीर चेतन कोषाणुओं (living cells) से बने हैं। पेड़, पौधे, कृमि, पतंगे, मछली, साँप, छिपकली, बन्दर, रीछ, मनुष्य इत्यादि सब प्राणियों के शरीर, इन चेतन कोषाणुओं का संग्रह हैं। (ख) सब प्राणी भोजन लेकर, पचाकर उनको अपने शरीर का अंग बनाते हैं अर्थात् जीवित कोषाणुओं में परिवर्तित कर लेते हैं। (ग) स्वास्थ्य के लिए सब प्राणियों के प्रयत्न समान हैं। (घ) सबमें सन्तानोत्पत्ति का प्रकार और प्रक्रिया समान है।

इन समानताओं से यह मान लिया गया है कि सब एक ही पिता अमीबा (amoeba) की सन्तान हैं। यह मान्यता भी किसी दृढ़ प्रमाण अथवा परीक्षण पर आधारित नहीं है। उपर्युक्त सब गुण जीवन के हैं, शरीर के नहीं। जीवन-शक्ति समान है, परन्तु शरीर में समानता नहीं। अतः शरीरों की उत्पत्ति का एक ही स्रोत मानने में कोई कारण नहीं। जीवन-शक्ति तो आत्मा के कारण है। आत्मा सबमें समान है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये आत्मा के लक्षण हैं। चेतनता का स्रोत आत्मा है, अतः यह सबमें समान है। आत्मा की समानता को प्रकट करने के लिए शरीर की बनावट में कहीं-कहीं समानता आ जाना स्वाभाविक ही है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति का एक ही स्रोत मानने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय विज्ञान यह मानता है कि शरीर पंच-भौतिक है, परन्तु शरीर प्राणी नहीं है। सब शारीरियों के शरीर पंच-भौतिक होते हुए भी उनको एक ही योनि से उत्पन्न मानने में कोई कारण नहीं। पंच-भौतिक शरीर का निर्माण होने पर भी जब तक उसमें मन और आत्मा का संयोग न हो, तब तक प्राणी नहीं बनता। सब प्राणी समान नहीं, क्योंकि सब आत्माएँ समानकर्मा नहीं हैं।

इसी बात को हम वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—रासायनिक तत्त्वों के संयोग से शरीर बनता है, परन्तु रासायनिक तत्त्व मिलकर प्राणी नहीं बना सकते। इन तत्त्वों के संयोग में जीवन-तत्त्व (आत्मा) के समावेश होने पर ही प्राणी बनता है। ये सब प्राणी समान नहीं, अतः ये एक ही योनि से उत्पन्न नहीं हुए। जहाँ शरीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, वहाँ आत्मा भी भिन्न-भिन्न होने से भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म करनेवाली हैं।

जीवन-प्रवाह में समानता है, परन्तु प्राणी केवल आत्मा (जीवन-तत्त्व) भी नहीं। दोनों के संयोग को ही प्राणी मानते हैं। यह संयोग योनि के भीतर होता है और आत्मा उसी शरीर में प्रवेश करता है जो उसके कर्मफल के अनुकूल होता है।

आत्मतत्त्व वर्तमान वैज्ञानिकों के उपकरणों द्वारा परीक्षण का विषय नहीं बन सका। जीवन-तत्त्व को ये लोग अपनी टैस्ट ट्यूब में निर्माण नहीं कर सके। यही कारण है कि ये प्राणी निर्माण नहीं कर सके। ये योनि के भीतर भी किसी भिन्न योनि से प्राणी नहीं बना सके और योनि के बाहर भी इसका निर्माण नहीं कर सके।

अतएव विज्ञान-वेत्ता भलीभाँति जानते हैं कि विकासवाद, मात्र वाद ही है और रहेगा। यह सिद्धान्त का पद ग्रहण नहीं कर सकता।

इस स्थान पर विकासवाद के विषय में एक वैज्ञानिक का मत लिखकर यह अध्याय हम समाप्त कर रहे हैं। डॉक्टर अगासिज़ (Agassiz) अपनी पुस्तक 'Principles of Zoology' में पृष्ठ २०५-२०६ पर लिखते हैं—

> There is manifest progress in the succession of being on the surface of the earth. This progress consists in an increasing similarity of the living fauna, and among the vertebrates, especially in their incrasing resemblance to man....But this connection is not the consequence of a direct lineage between the fauna of different ages. There is nothing like parental descent connecting them. The fishes of the palaeozoic age are in no respect the ancestores of the reptiles of the secondary age nor does man descend from the mammals which preceded in the Tertiary age. The link by which they are connected is of a higher and immaterial nature and himself, whose aim in forming the earth, in allowing to undergo successively all the different types of animals which have passed away, was to introduce man upon the surface of our globe. Man is the end towards which all the animal-creation has tended from the first appearance of the Palaeozoic fishes.

अर्थात्—पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाले, बिना हड्डियों के जन्तुओं और मनुष्य आदि हड्डीदार जन्तुओं में एक-समान ही उन्नति होती देखी जाती है। परन्तु इस समानता का यह अर्थ नहीं कि एक प्रकार के प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणियों से विकसित हुए हैं। आदिमकालीन मत्स्य ही सर्पणशील प्राणियों के पूर्वज नहीं हैं और न ही मनुष्य ही अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तनधारियों से, जो टरशरी युग में थे, पैदा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्राणियों में सम्बन्ध एक उच्च अभौतिक तत्त्व (परमात्मा) के कारण है। परमात्मा का उद्देश्य इस सब-कुछ परिवर्तन करने का, मनुष्य को यहाँ उत्पन्न करना था। मनुष्य वह अन्त है जिसकी ओर पूर्ण प्राणी-जगत् चल रहा है।

यदि इस वक्तव्य के साथ हम अपनी ओर से इतना और जोड़ दें कि यह जो कुछ हो रहा है, प्राणी के दृष्टिगोचर एक जीवन में ही नहीं होता, प्रत्युत जन्म-जन्मान्तर में होता है तो उक्त कथन शत-प्रतिशत भारतीय जीवन-मीमांसा के अनुसार ही माना जाएगा। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि यह प्राणीशास्त्र का विद्वान् विकासवाद को उस रूप में नहीं मानता, जिस रूप में अन्य वैज्ञानिक मानते हैं। अतः यह सिद्ध है कि विकासवाद कोई सिद्धान्त अर्थात् 'सिद्ध बात' नहीं है। अनेक यूरोपियन वैज्ञानिक भी इस विचार को ग़लत मानते हैं।

विकासवाद के कुचक्र का खण्डन

इस पर भी कुशिक्षित वैज्ञानिक इसको परमसिद्ध सिद्धान्त मान, अपनी-अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाने लगे हैं। सबसे दोषपूर्ण बात यह हो रही है कि इस अयुक्ति-संगत, असिद्ध सिद्धान्त को लेकर मानव-इतिहास को भी विकृत किया जा रहा है। वे इतिहासज्ञ, जो प्राणी-शास्त्र का अ-आ भी नहीं समझते, विकासवाद के आधार पर मानव-इतिहास की कल्पना कर यह मानने लगे हैं कि आदिकाल में मनुष्य जंगली जानवरों की भाँति पेड़ों पर रहता था। इस जंगली-अवस्था में वह मन, बुद्धि और शरीर से भी अविकसित दशा में था। वह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ वर्तमान अवस्था में ज्ञान-विज्ञानयुक्त, उन्नत मन और बुद्धिवाला प्राणी बन गया है।

मानव-इतिहास पर इस विकासवाद की छाया पड़ जाने से यह माना जाने लगा है कि प्राचीन धर्म तथा ज्ञान-विज्ञान आज से निम्न कोटि का था। उसमें किसी प्रकार की भी श्रेष्ठता दिखाने का यत्न, मूर्खता और पक्षपात का द्योतक हो गया है।

इस विकासवाद के विचार से आज का मानव और उसका ज्ञान, प्राचीन मानव और उसके ज्ञान से अतिश्रेष्ठ माना जाने लगा है। यह सब असत्य है। प्रमाण इसके विरुद्ध जाते हैं। भाषा के विषय में तो निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि यह विकसित होकर उन्नत नहीं हुई, प्रत्युत अवनति और अधोगति की अवस्था को पहुँची है।

भाषा के दो अंग हैं—बोलनेवाली तथा लिखनेवाली, अर्थात् बोली तथा लिपि। पहले बोली की बात पर विचार करें तो उससे ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्राचीन भाषाएँ योगात्मक और विभक्तियुक्त स्थिति से अवनत होकर अब एकाक्षरात्मक हो गई हैं।

संस्कृत भाषा अतिप्राचीन भाषा है और यह योगात्मक भी है और विभक्तियुक्त भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में 'गच्छामि', 'गच्छसि' इत्यादि शब्दों को देखा जा सकता है। ये शब्द विभक्तियुक्त हैं। हिन्दी में इन भावों को प्रकट करने के लिए 'जाता हूँ' तथा 'जाता है' शब्द हैं। हिन्दी एकाक्षरात्मक है। इसी प्रकार ग्रीक और लेटिन विभक्तियुक्त भाषाएँ हैं और उनसे बननेवाली अंग्रेज़ी भाषा एकाक्षरात्मक है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी की तुलना करें तो प्राचीन से नवीनतम की ओर 'प्रगति' का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

संस्कृत	हिन्दी	अंग्रेजी
करोति	वह करता है	He is doing
गृहाणाम्	घरों का	of (the) houses
गमिष्यति	वह जाएगा	He desires to go

यही बात सब स्थानों पर पाई जाएगी। प्राचीन से नवीन भाषा कम और कम संश्लेषणात्मक होती जाती है। यह विचार का विषय है कि ऐसा क्यों होता है? संश्लेषणात्मकता उन्नति का लक्षण है अथवा अवनति का? यह विकास का लक्षण है अथवा ह्रास का? हमारा यह मत है कि आदि-काल में मनुष्य अधिक बुद्धिशील, अधिक उन्नत मस्तिष्कवाला और अधिक स्मृतिशील था। तत्कालीन भाषा का योगात्मक और विभक्तियुक्त होना इसका प्रमाण है। आज का मानव बुद्धि में तथा स्मरणशक्ति में अपेक्षाकृत हीन हो गया है। इस कारण इसकी भाषा भी विश्लेषणात्मक (विखण्डित) होती जाती है। भाषा का ह्रास मनुष्य की मस्तिष्क-सम्बन्धी शक्तियों का ह्रास प्रकट करता है।

यही बात लिपि की है। लिपि के भी दो अंग हैं—एक वर्णमाला और दूसरी लिपि। लिपि तो लिखने के साधनों पर निर्भर करती है। यह मनुष्य के शरीर और शक्तियों के विकसित तथा अविकसित होने से सम्बन्ध नहीं रखती। साधनों का सम्बन्ध आवश्यकताओं से है। आवश्यकताओं में वृद्धि शरीर, मन और बुद्धि में विकास के लक्षण नहीं, प्रत्युत उनके अविकसित होने के लक्षण हैं।

इस बात को तनिक विस्तार से बताने की आवश्यकता है। आवश्यकताओं में वृद्धि मन और बुद्धि के उन्नत होने के लक्षण नहीं। उदाहरणस्वरूप एक डैण्डी-शैण्डी (टीपटाप रखनेवाला व्यक्ति) नेकटाई कॉलर के बिना बाज़ार में निकलना अनुचित अथवा अशिष्टता मानता है। इसके विपरीत एक फ़िलॉसफ़र (मीमांसक) इनको अनावश्यक वस्तुएँ समझता है। वह पहनने के लिए कुर्ता-पायजामा पर्याप्त मानता है। अब विचार करें कि नेकटाई-कॉलरों की आवश्यकता और फिर उनके बनाने के लिए कारखानों का आविष्कार उन्नत मन के लक्षण हैं अथवा अवनत मन के? इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं के विषय में कहा जा सकता है। तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो आवश्यकताओं में न्यूनता ही विकसित मन के लक्षण प्रतीत होंगे।

यही बात लिपि की है। लिपि अक्षरों के आकार को कहते हैं। इसका सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के साधनों के आविष्कार के साथ है। यदि आविष्कृत उपकरणों का विचार छोड़ दें तो प्राचीन लिपि अधिक उपयुक्त प्रतीत होने लगेगी।

यही बात वर्णमाला की है। प्राचीनतम भाषा संस्कृत की वर्णमाला अधिक-से-अधिक बोले जा सकनेवाले स्वरों का प्रातिनिध्य करती है और फिर उनका श्रेणीबद्ध किया जाना उनके आविष्कार करनेवालों के उन्नत मस्तिष्क का ही सूचक है। स्वर पृथक् हैं और व्यंजन पृथक्। स्वर सोलह हैं तथा क्रमबद्ध हैं। अ-आ साथ-साथ हैं, इ-ई साथ-साथ। इसी प्रकार अन्य स्वर हैं।

व्यंजन अक्षरों का भी क्रम इनके आविष्कार करनेवाले के उन्नत मस्तिष्क का सूचक है। क ख ग घ ङ गले से बोले जानेवाले व्यंजन एक स्थान पर रख दिए गए हैं और दन्तव्य त थ द ध न पृथक् रखे गए हैं। इसके विपरीत नितान्त आधुनिक भाषा की वर्ण-संख्या और उनका क्रम देखें तो एक अविकसित मस्तिष्क की उपज ही समझी जाएगी। स्वर केवल पाँच हैं a, e, i, o, u; शेष स्वरों के लिए, दो-दो, तीन-तीन स्वरों का संयोग करना पड़ता है। व्यंजन भी कम हैं। कई ध्वनियों को लिखने के लिए दो-दो तीन-तीन व्यंजन मिलाने पड़ते हैं। उदाहरण के रूप में च के लिए 'ch' दो व्यंजनों का प्रयोग किया जाता है। छ के लिए 'chh' तीन का। इसके साथ ही अंग्रेज़ी भाषा की वर्णमाला में अक्षरों का क्रम तो सर्वथा युक्ति-रहित है। यह आरम्भ होती है 'a' एक स्वर से। तत्पश्चात् आता है एक व्यंजन 'b', फिर 'a, b, c, d' चार वर्ण लिखने के बाद पुनः एक स्वर आ जाता है 'e'।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीन से नवीन विकास का लक्षण नहीं, प्रत्युत ह्रास का लक्षण है। यह क्यों है? यह स्पष्ट रूप में मानव-शक्तियों (बुद्धि, मस्तिष्क, स्मरण-शक्ति) के ह्रास का सूचक है। मनुष्य में विकास नहीं हो रहा, ह्रास हो रहा है।

विकासवादियों का कहना है कि स्वाभाविक चुनाव (natural selection) से अथवा योग्यतम (Survival of the fittest) के सिद्धान्त से अधिकाधिक उन्नत और जटिल प्राणी बचे रहते हैं और दुर्बल तथा अयोग्य मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। भाषा के अध्ययन से तो उलटी बात प्रतीत होती है।

भाषा का घना सम्बन्ध ज्ञान से है। भाषा का आविष्कार ही मानव-ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के लिए हुआ है। यदि प्राचीन काल की भाषा आज की भाषाओं से समुन्नत थी तो निःसन्देह तब का ज्ञान भी आज के ज्ञान की अपेक्षा समुन्नत रहा होगा।

इस प्रकार हमने विकासवाद, जिसको मानकर इतिहासज्ञों ने इतिहास को विकृत करने की कमर कसी हुई है, उसको मिथ्या सिद्ध कर दिया है।

पुराणों में भारतीय इतिहास

वर्तमान युग के शिक्षित परन्तु कल्पनाविहीन लोग कहते हैं कि पुराणों में गप्पें हाँकी गई हैं। हमारा मत है कि वे लोग पुराणों के वास्तविक प्रयोजन को समझे ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराण केवल इतिहास नहीं हैं। ये इतिहास से बहुत अधिक हैं। जिन्होंने इसे केवल इतिहास माना, वे इसमें इतिहास के अतिरिक्त कथनों को देख परन्तु उनका प्रयोजन, उनका अर्थ तथा उनके लिखने की शैली को न समझ, इन ग्रंथों को गल्प समझ रहे हैं।

प्रायः प्रत्येक पुराण में पुराण-ग्रंथ की परिभाषा कही है। यह कहा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत्॥

—श्री विष्णु पुराण ३-६-२५

अर्थात्—सृष्टि, प्रलय, वंश (प्रकृति के परिणाम) और मन्वन्तर तथा भिन्न-भिन्न राजवंशों का वर्णन इनमें दिया गया है।

इसका अभिप्राय यह है कि वेद में जिस बात को कल्प और ज्योतिष के अधीन कहा है, वे दोनों बातें पुराणों में सरल-सुबोध भाषा में कही गई हैं। इन दो का उल्लेख आया है सर्ग, वंश और मन्वन्तर कहकर। पुराणों में पृथिवी के मुख्य-मुख्य राजवंशों का भी वर्णन है और प्रलय का भी वर्णन है।

रचना और प्रलय का वर्णन जैसा वेद में और ज्योतिष-शास्त्र में कहा है, वैसा ही पुराणों में दिया है। उदाहरण के रूप में वेद में कहा है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥

—ऋ० १-१६३-३

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के तेज जिसे आदित्य, अर्वन् कहते हैं, उसने गुप्त रूप से संगठित त्रित की साम्यावस्था को भंग कर परमाणुओं के तीन प्रकार के दिव्य बन्धन (संयोग) बनाए अर्थात् अहंकार बनाए। इन तीन (अहंकारों) को वेद में आपः कहा है।

इसी बात को अत्यन्त सरल भाषा में पुराण में कहा है—

अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥
अक्षयं नान्यदाधारममेयमजरं ध्रुवम्।
शब्दस्पर्शविहीनं तद्रूपादिभिरसंहितम्॥
त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।
तेनाग्रे सर्वमेवासीद् व्याप्तं वै प्रलयादनु॥

—श्री विष्णु पुराण १-२-१९, २०, २१

अर्थात्—जो सत्-असत् रूप कण अव्यक्त सूक्ष्म प्रकृति तथा प्रधान हैं, वह ऋषियों द्वारा नित्य कहा जाता है॥

वह अक्षय है। वह अपने ही आधार पर टिका है। यह शब्द, स्पर्शादि लक्षणों से रहित है॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह त्रिगुणमयी जगत् का कारण है। वह अनादि उत्पत्ति और लय से रहित है॥

वेद, सांख्यदर्शन और विष्णु पुराण में सृष्टि-रचना समान रूप में वर्णित है। इसी प्रकार प्रलय का भी वर्णन है।

पुराणों में तीसरी बात देवताओं की परम्परा का वर्णन है। इसे पुराणों के लक्षण-श्लोक में वंश के नाम से कहा है।

जगत् के देवता प्रकृति से उत्पन्न होने से प्रकृति के वंशज कहाते हैं।

इन देवताओं—इन्द्र और वायु का ही पुराणों में उल्लेख है।

पुराणों में जो वंश का वर्णन कहा है वह इन्हीं प्रथम जाताः तथा मध्यस्थानी देवताओं का वर्णन है।

हमने संक्षेप में बताया है कि पुराणों में देवताओं के वंश से क्या अभिप्राय है। देवता सृष्टि-रचना के समय भिन्न-भिन्न दिव्य शक्तियों के नाम हैं।

पुराण-ग्रंथों में चौथी बात है मन्वन्तरों का वर्णन। यह हम बता चुके हैं कि मन्वन्तर सृष्टि-रचना के काल का तथा रचना-विधियों का वर्णन मात्र है।

पुराणों में पाँचवीं बात है पृथिवी का इतिहास। इसे पुराण के लक्षणों में 'वंशानुचरित' कहा है।

पुराणों के विषय में एक और बात समझने की है। वह यह कि कुछ अन्तरिक्ष अथवा सृष्टि की बातों का अलंकारों में वर्णन है। जो अलंकारों को नहीं समझते-जानते, वे पुराणों के अर्थों को नहीं समझ सकते।

उदाहरण के रूप में वराह अवतार की कथा है। वराह का अर्थ है जो जल का हरण करे और वराह का अर्थ सूअर भी है।

वराह का वर्णन एक अवतार के रूप में किया है और अलंकारिक चित्रण करनेवाले ने उसे सूअर के रूप का बना दिया है।

जल का हरण करनेवाले वराह अवतार का वर्णन किसी अन्य लेख में करेंगे। परन्तु उसको सूअर का रूप देना चित्रकारों का घटनाओं को अलंकार के रूप में वर्णन करने का यत्न है।

इसी प्रकार प्रलय के समय विष्णु (यज्ञरूप परमात्मा) का समुद्र में शेषनाग की शय्या पर लेटने का चित्रण किया है। वेदों में समुद्र शब्द अन्तरिक्ष अर्थात् व्योम के लिए प्रयुक्त हुआ है और उस अन्तरिक्ष को जल का समुद्र दिखाकर परमात्मा को शेषनाग (प्रकृति) पर लेटे हुए दिखाया गया है। जो लोग विष्णु का अर्थ यज्ञ-रूप परमात्मा लेते हैं और समुद्र का अभिप्राय व्योम लेते हैं, साथ ही शेषनाग का अभिप्राय साम्यावस्था में प्रकृति समझते हैं, वे उस अलंकारिक चित्रण का अर्थ समझ सकते हैं।

वर्तमान युग के कुछ बुद्धिमान् आज प्रश्न करते हैं कि पुराण-लेखकों ने पाँच प्रकार के वर्णन एक ही ग्रंथ में क्यों किए और फिर उसे अलंकार-रूप में क्यों लिखा? इसका उत्तर हमारे पास नहीं है। फिर भी हम आज के युग के विद्वानों से यह आशा करते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे पुराणों की विशेषताओं को समझते हुए ग्रन्थों का अध्ययन करें और इतिहास-अंश को पृथक् निकालकर पढ़ें तो उनको पुराण अद्वितीय ग्रन्थ प्रतीत होंगे, अपितु वेदों के समर्थक प्रतीत होंगे।

हमने पुराणों का इतिहास-अंश पृथक् करके देखने का यत्न किया है। उस अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हम वैदिक काल का वर्णन लिख रहे हैं।

वेद में वैदिक काल का वर्णन नहीं है। कारण यह है कि वेद आदिसृष्टि में कहे गए थे। यदि यह कहा जाए कि मानव-सृष्टि से पहले ही कहे गए थे तो अधिक सत्य होगा। इस कारण उस काल के लोगों का वर्णन उनमें नहीं हो सकता। इसी कारण हमने वैदिक काल उस काल को माना है जब मानव-समाज की भाषा, वैदिक भाषा थी, अर्थात् लोग वेदों को ऐसे ही पढ़ और समझ सकते थे जैसे कोई भी सामयिक ग्रन्थ सामयिक भाषा में पढ़ा और समझा जा सकता है।

इस दृष्टि से ही हमने इस खण्ड में जो वर्णन लिखा है, वह वैदिक काल का वर्णन ही है।

पुराणों में अवतार

अवतार का अर्थ है अवतरण। इस अवतरण का अभिप्राय समझने के लिए भगवद्गीता के इस श्लोक का अर्थ समझने की आवश्यकता है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

—भ० गीता १०-४१

अर्थ है—(यत् तत् विभूतिमत्) जो-जो ऐश्वर्ययुक्त (सत्त्वम्) श्रेष्ठ पदार्थ हैं, (श्रीमत् ऊर्जितम् एव वा) अथवा कान्तियुक्त तथा शक्तियुक्त भी हैं, (तत् तत् एव त्वं) उस-उस को ही तुम (मम तेजोंऽश सम्भवम्-अवगच्छ) मेरे तेज के अंश में से उत्पन्न समझो।

गीता में मम-मया इत्यादि शब्दों से अभिप्राय 'परमात्मा के' और 'परमात्मा से' समझना चाहिए।

अभिप्राय है कि इस संसार में जो-जो ऐश्वर्य, कान्ति और शक्तियुक्त पदार्थ हैं, सब परमात्मा के तेज के एक अंश से ही बने हैं। और जो विशेष विभूतियुक्त श्रीमत् और ऊर्जितम् पदार्थ अथवा प्राणी होते हैं, उनमें परमात्मा की विशेष शक्ति होती है।

ऐसे प्राणी ही परमात्मा का अवतार कहाते हैं।

अतः आर्य-इतिहास में जिस-जिस अवतार का वर्णन आया है, वे परमात्मा की विशेष प्राण-शक्ति को रखनेवाले थे। इन अवतारों की गणना पुराणों में कराई गई है। ये सब ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं।

वास्तव में भारतीय पद्धति से इतिहास इन अवतारों का ही इतिहास है। यह पुराणों में ही मिलता है। इस कारण पुराण इतिहास के ग्रंथ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने यह बताया है कि यह आवश्यक नहीं कि अवतार मनुष्य-तुल्य प्राणी ही हो। मुख्य बात जो एक अवतार में देखने की है, वह है उसमें ईश्वरीय शक्ति।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि परमात्मा का तेज (प्राण) तो जीवों में भी है और निर्जीव वस्तुओं में भी है। जब परमात्मा की विशेष शक्ति किसी निर्जीव पदार्थ में होती है तो वह देवता कहाती है, जैसे—अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण इत्यादि। वे भी अवतार तब होते हैं जब वे इस सृष्टि में विशेष ऐश्वर्ययुक्त अथवा सामर्थ्ययुक्त कार्य करने के योग्य होते हैं।

महाभागवत पुराण में अवतारों की गणना इस प्रकार की है—

(१) ब्रह्मा
(२) सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार,
(३) वराह
(४) नारद
(५) नर-नारायण
(६) कपिल
(७) दत्तात्रेय
(८) यज
(९) ऋषभदेव
(१०) पृथु
(११) मत्स्य
(१२) कच्छ
(१३) धन्वन्तरि
(१४) मोहिनी
(१५) नरसिंह
(१६) वामन
(१७) परशुराम
(१८) व्यास
(१९) राम
(२०) कृष्ण
(२१) बुद्ध
(२२) कल्कि

इन अवतारों की गणना करने के उपरान्त महाभागवत का लेखक कहता है—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥

—भाग० महापुराण १-३-२६, २७

अर्थ है—जैसे एक सरोवर से हजारों नाले-नदियाँ निकलती हैं, सत्त्वनिधि भगवान् से सहस्रों ही अवतार हुए हैं। वे ऋषि-मुनि, देव और मनु-पुत्र महान् ओजवाले हुए हैं।

यह वही बात है जो भगवद्गीता (१०-४१) में कही गई है।

परमात्मा का तेज विशेष रूप में जब किसी पदार्थ अथवा प्राणी में आता है तो वह अवतार कहाता है।

अवतार चेतन तत्त्व भी होते हैं और अचेतन तत्त्व भी। चेतन-अचेतन का अन्तर है 'ईक्षण' करने की शक्ति में।

ईक्षण से अभिप्राय है कार्य करने का स्थान, काल और दिशा का निश्चय करना। जो ऐसा करने की सामर्थ्य रखता है उसे चेतन कहते हैं। जो नहीं रखता वह अचेतन कहाता है।

कुछ प्राकृतिक पदार्थ भी विशेष ओजयुक्त, ऐश्वर्यवान् और सामर्थ्यवान् देखे जाते हैं, वे भी अवतार की श्रेणी में आते हैं; और फिर कुछ प्राणी भी इसी प्रकार से विशेष ओजयुक्त, ऐश्वर्यवान् और सामर्थ्यवान् देखे जाते हैं, उन्हें भी अवतार माना जाता है। यही पुराणों की पद्धति है। दोनों में अन्तर भी वहाँ स्पष्ट है। अचेतन अवतार एक कार्य के लिए ही होते हैं और उस कार्य के उपरान्त उनका अस्तित्व नहीं रहता। अचेतन अवतार इच्छानुसार अनेक कार्य करता है।

हमारे इस कथन में भी भगवद्गीता का ही प्रमाण है। परमात्मा की विशेष विभूति से युक्त पदार्थों की गणना वहाँ की गई है। उस गणना में जहाँ राम और कार्तिकेय का कथन है, वहाँ उसमें वज्र और हिमालय का नाम भी है। जहाँ बृहस्पति भृगु को परमात्मा की विशेष विभूतिवाला माना है, वहाँ अक्षरों में ओं और समासों में द्वन्द्व को भी बताया है। इस प्रकार किसी भी पदार्थ को, जिसमें परमात्मा के तेज का विशेष अंश है, उसे परमात्मा का अवतार माना है।

अवतार परमात्मा स्वयं नहीं हो सकता। कृष्ण स्वयं परमात्मा नहीं थे। राम भी परमात्मा नहीं थे। इसी प्रकार बुद्ध तथा अन्य अवतार परमात्मा नहीं कहे जा सकते। ये केवल परमात्मा के तेज (प्राण) की विशेष मात्रा को रखनेवाले होते हैं।

अतः पुराणों में वंशों का चरित (वंशानुचरितं) से अभिप्राय है कि इन अवतारों और उनसे सम्पन्न होनेवाली घटनाओं का वर्णन।

अतएव भूमण्डल के इतिहास से अभिप्राय है अवतारों का इतिहास।

जन-साधारण की गाथाएँ भी पुराणों में हैं। परन्तु इतने लम्बे (३९ लाख वर्ष) काल का इतिहास लिखने में केवल विशेष विभूतियुक्त पदार्थों (अवतारों) का वर्णन ही किया जा सकता था।

इन अवतारों का इतिहास यदि वर्णन कर दिया जाए तो भूमण्डल, विशेष रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवर्ष का पूर्ण इतिहास उसमें आ जाता है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल उस काल के इतिहास से है जिसे वैदिक काल कहते हैं। हमने इसमें अपना मत बताया है कि वैदिक काल हम उस काल को मानते हैं जब मानव-समाज की भाषा वही थी, जो वेद की भाषा है। दूसरे शब्दों में, जब वेदभाषा और राष्ट्री एक ही थीं, उस समय वेद समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराण

भारतवासी इतिहास लिखते तो थे, परन्तु उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य वह नहीं था जो कि पाश्चात्य लेखकों का है। यूनान, रोम, मिस्र, फ्रांस, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में वहाँ के राजा-रईसों, जमींदारों तथा विजेताओं द्वारा इतिहास लिखने के लिए कुछ लोग नियुक्त किए जाते थे। परिणामस्वरूप वे इतिहास उन राजा-रईसों की प्रशंसा में और उनकी रुचि-अनुसार ही लिखे जाते थे। भारतवर्ष में यह प्रथा नहीं थी। यहाँ के लेखक नगरों और राजा-महाराजाओं के दरबारों में नहीं रहते थे। वे प्रायः वनों में अपने आश्रमों में रहते और अपना पठन-पाठन का कार्य करते हुए इतिहास आदि लिखते थे। उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य राजा-महाराजाओं को प्रसन्न करना नहीं वरन् जन-साधारण के ज्ञान की वृद्धि करना होता था। जन-साधारण को इतिहास से क्या शिक्षा लेनी चाहिए, उन्हें यही अभिप्रेत था। इस कारण भारतीय लेखक केवल ऐतिहासिक घटनाओं को ही लिख देने से संतोष नहीं करते थे, वरन् प्रत्येक घटना का कारण और उस घटना से उत्पन्न परिणाम का दर्शन आवश्यक समझा जाता था।

उदाहरणार्थ, वाल्मीकि जी लिखते हैं कि जब राजा दशरथ सन्तान के लिए यज्ञ कर रहा था तो ऋषिगण वहाँ यज्ञ में अपना भाग लेने आए हुए थे; वे विचार करने लगे कि रावण और राक्षस-राज्य, जो उस समय महान् शक्तिशाली हो गया था, वह अत्यन्त अत्याचार और अनाचार करने लगा है। देव, गन्धर्व और ऋषि, जो यज्ञ पर आए हुए थे, वे केवल रावण की ही बात नहीं कह रहे थे, वरन् लंका में राक्षस-राज्य की भी चर्चा चला रहे थे। रावण से पहले वहाँ माल्यवान् इत्यादि राजा थे और वे भी राक्षस कहाते थे। उनके उपरान्त लंका का राजा रावण हुआ और फिर राम-रावण-युद्ध के उपरान्त लंका का राजा विभीषण बनाया गया था। विभीषण को राक्षस नहीं कहा गया।

अतः दशरथ के पुत्र्येष्टि यज्ञ के समय जब विद्वान् लोग विचार करने लगे तो यही विचार हो रहा था कि लंका का राजा रावण घोर तपस्या से महान् शक्तिशाली हो गया है, उसका निराकरण कैसे किया जाए? रावण और उससे पूर्व माल्यवान्, माली और सुमाली इतने बलशाली कैसे हो गए थे? यह कहा जाता है कि उन्होंने भी घोर तपस्या की थी। उस तपस्या से बल का संचय किया था।

लंका के अधिपति रावण को निस्तेज करने की योजना उस यज्ञ के समय बनाई जा रही थी। इस योजना में राजा दशरथ सम्मिलित नहीं थे। देव, गन्धर्व, ऋषि-मुनि बैठकर योजना बनाते रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहा गया है कि उनकी गोष्ठियाँ ब्रह्माजी की उपस्थिति में हुईं। ब्रह्मा देवताओं के गुरु थे। प्रभु (परमात्मा) का चिन्तन करने पर उनको आभास हुआ कि विशिष्ट औषध देवलोक के वैद्यों से तैयार कराई जाए और उसे इस यज्ञ में दशरथ की रानियों को खिलायी जाए। ऐसा ही किया गया और इसके फलस्वरूप कौसल्या के गर्भ से राम तथा सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण विशेष गुणोंवाले बालक उत्पन्न हुए।

इसमें इतिहास के साथ ही लोक-कल्याण के लिए, ऐतिहासिक घटनाओं का कारण और उद्देश्य भी वर्णन किया गया है।

भारतीय इतिहास लिखने का ढंग, घटनाओं की विवेचना और कारणों तथा परिणामों-सहित लिखने के कारण, यूरोपवालों को इतिहास नहीं अपितु कुछ अन्य ही समझ में आता है। यूरोपीय इतिहास-लेखकों की लेखन-शैली और भारतीय लेखकों की शैली में अन्तर होने के कारण यूरोपवालों को भारत में इतिहास दिखाई नहीं दिया।

भारतीय लेखकों द्वारा लिखित इतिहास, इतिहास तो है ही। परन्तु भारत के इतिहास में जो कुछ अधिक है वह घटनाओं की विवेचना ही है। जो इस विवेचना को नहीं पढ़ना चाहते, उनको इसे छोड़, भारत का इतिहास पढ़ना चाहिए।

भारत का इतिहास पुराणादि ग्रन्थों में मिलता है। उनमें उसे ढूँढना होगा क्योंकि पुराणों में इतिहास से कुछ अधिक है। वह यह कि उनमें ऐतिहासिक घटनाओं के कारण और उनके परिणामों की विवेचना भी है। अतः यूरोपीय लेखकों को यदि भारत में इतिहास नहीं मिलता तो इसका कारण है उनका इतिहास लिखने के दृष्टिकोण में और भारतीय इतिहास लिखने के दृष्टिकोण में अन्तर, क्योंकि भारतीय लेखक इतिहास को अनेक दृष्टिकोणों से लिखते थे। इस कारण उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए अपने लिखने के ढंग के नाम भी भिन्न-भिन्न रखे हैं।

इतिहास-लेखन के इन विशेष रूपों को प्रकट करने के लिए भारतीय वाङ्मय में कुछ नाम इस प्रकार हैं—

(अ) इतिहास—इस शब्द की व्याख्या वेदों में भी की गई है। परन्तु 'शौनक ऋषि' अपने 'बृहद् देवता' ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट रूप में लिखते हैं—

ऋषियों द्वारा कही गई पुराने काल की बात इतिहास है।[1]

यह कहकर इसका एक उदाहरण भी दिया है कि 'इन्द्र आकाश में घूमता हुआ मरुत के साथ गिरा।' यह अन्तरिक्ष में हुई एक प्राकृतिक घटना का उल्लेख है। पुराणों ने इसे भी इतिहास ही माना है।

(आ) आख्यान—अर्थात् 'लोग ऐसा कहते हैं।' देवासुर-संग्राम के विषय में जो

---

१. **इतिहासः पुरावृत्तं ऋषिभिः परिकीर्त्यते।** (बृ० देवता ४-४६)
पंडित भगवद्दत्त द्वारा उद्धृत—'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (१-३) में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख्यान है, वह भी इतिहास है। आधुनिक इतिहासकार इसे इतिहास नहीं मानते। भारतीय विद्वान् इसे इतिहास कहते हैं। कोई समाचारपत्र-प्रतिनिधि भारत-पाक-युद्ध को युद्ध-भूमि से देखकर आता है और बताता है कि किस प्रकार भारत युद्ध में विजयी हुआ। यह तथा इस प्रकार का कथन भी भारतीय लेखक इतिहास का अंग ही मानते हैं।[1]

(इ) **पुरावृत्तं**—यह भी इतिहास का एक प्रकार है। ऐसा अमरकोष में कहा है।[2]

(ई) **ऐतिह्य**—परम्परागत कथन को कहते हैं। यह इतिहास के कथन का ढंग है।[3]

(उ) **पराकृत्य**—यह भी पूर्वकाल की बात को कहने का एक ढंग है।[4]

पराकृत्य अर्थवाद है। जब कोई वाक्य किसी घटना अथवा वार्तालाप का प्रयोजन बताने के लिए कहा जाए तो वह अर्थवाद कहलाता है। इसी श्रेणी के वाक्यों में पराकृत्य है। अतः यह भी इतिहास का एक ढंग है।

(ऊ) **परकृति**—किसी द्वारा किसी अन्य का वर्णन परकृति अर्थात् इतिहास कहाता है।[5]

(ए) **इतिवृत्त**—किसी पुस्तक, नाटक अथवा लेख का संक्षेप इतिवृत्त कहाता है। यह प्रायः पुस्तकों इत्यादि के पूर्व-पृष्ठों में दिया जाता है।

(ऐ) **उपाख्यान**—किसी मुख्य कथा के साथ सम्बन्धित दूसरी कथा।

(ओ) **अनुचरित**—किसी बृहत् कथा का संक्षिप्त वर्णन।

(औ) **कथा**—एक मुख्य पात्र का वर्णन।

(क) **परिकथा**—कथा से सम्बन्धित दूसरी कथा। जैसे महाभारत में कृष्ण जब युधिष्ठिर को जरासंध को पराजित करने की प्रेरणा देता है तो उस समय जरासंध की कथा सुनाता है। अथवा जब भीष्म पितामह कृष्ण को राजसूय यज्ञ की सभा का प्रमुख बनाने के लिए कृष्ण की कथा कहने लगता है।

(ख) **अनुवंश**—एक वंश का इतिहास लिखने अथवा कहने के समय उस वंश की किसी शाखा का वर्णन आरम्भ कर दिया गया तो वह अनुवंश होता है।

उदाहरण के रूप में—सुभाषचन्द्र बोस की जीवनी लिखते हुए यदि कोई शरत्चन्द्र बोस का संक्षिप्त जीवन दे दे तो यह अनुवंश कहाता है।

---

१. यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतऽइतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान्प्रजापतिः पाप्मनाऽविध्यत्ते तत ऽएव पराभवन्निति ॥ (शतपथ ब्राह्मण ११-१-६-९)

२. इतिहासः पुरावृत्तमुदात्ताद्यास्त्रयः स्वराः ॥ (अमरकोषः १-६-४)

३. पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम् ॥ (अमरकोषः २-७-१२)

४. स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ (न्यायदर्शन २-१-६६)

५. अन्यस्यान्यस्य चोक्तत्वाद् बुधाः परकृतिः स्मृता ॥ (वायु पुराण ५९-१३६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) गाथा—गाथा और कथा में अन्तर होता है। कथा तो एक पुस्तक के मुख्य पात्र का वर्णन है, किन्तु किसी एक की कथा से दूसरे की कथा कहने लगे तो यह गाथा होती है।

हमारा इतिहास के इन सब प्रकारों का नाम लिखने का अभिप्राय यह है कि भारत के प्राचीन वाङ्मय में ये सब प्रकार और कदाचित् इससे भी अधिक प्रकार थे, जिनमें इतिहास कहा जाता था और वह कहा हुआ मिलता है।

भारतीय लेखन की विशेषता यह है कि ये सब प्रकार उस समय भी प्रयुक्त होते थे, जबकि किसी श्रेष्ठ लिपि की परिकल्पना भी नहीं हुई थी। तब से प्रचलित ये प्रकार चले थे और आज तक मिलते हैं। इन प्रकारों पर बड़े-बड़े शोधग्रन्थ मिल रहे हैं।

दुर्भाग्य यह है कि आज मतांध ईसाई यह सहन नहीं कर सकते कि जिन देशों में ईसाई मत के माननेवाले नहीं हैं, वे देश सभ्य एवं ज्ञान-विज्ञान में उन्नत माने जाएँ। इस कारण भारत, जहाँ ईसाई धर्म कुण्ठित हो रहा है, के लोगों को इतिहास लिख सकने के योग्य मान लेना ईसाई धर्म की पराजय होगी।

परन्तु यहाँ ईसाई मतावलम्बियों से भी अधिक मुसलमान सात सौ वर्ष तक शासन कर गए हैं और उन्होंने जहाँ कहीं भी कोई पुस्तकालय उन्हें दिखाई दिया, उसे फूँक डाला। मुसलमानों ने यह केवल भारतवर्ष में ही नहीं किया, वरन् जहाँ इस्लाम का शासन कुछ भी काल के लिए रहा है, वहाँ यही किया है।

इतना सब-कुछ होने पर भी यह निश्चित है कि भारतवर्ष में बसे लोगों का इतिहास विश्व के सब देशों के इतिहास से अधिक है। जिस देश में इतिहास लिखने के बीसियों ढंग विद्वानों को विदित हैं, वहाँ इतिहास की कितनी महिमा रही होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

पुराणों की विशेषता

पुराणों में केवल इतिहास ही नहीं है, इतिहास के अतिरिक्त भी इनमें बहुत-कुछ कहा गया है। पुराणों और उप-पुराणों में सृष्टि, प्रलय, देवता, उनके वंश, मन्वन्तरादि का वर्णन और भिन्न-भिन्न राजवंशों का वर्णन मिलता है।

पुराणों में जो विषय वर्णन किए हैं, उनको इस प्रकार बताया जा सकता है—

(अ) **सृष्टि**—इसका अभिप्राय है कि तमोभूत प्रकृति से यह प्रकाशमान नक्षत्रादि सहित जगत् कैसे बन गया।

(आ) **प्रलय**—यह चराचर जगत् कैसे पुनः तमोभूत प्रकृति में लीन हो जाएगा।

(इ) **देवताओं की उत्पत्ति और उनका कर्म**—देवताओं से अभिप्राय है प्राकृतिक दिव्य पदार्थ। सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथिवी और पृथिवी पर अग्नि, इन्द्र, वायु, मरुत इत्यादि दिव्य पदार्थों का वर्णन और उनकी उत्पत्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ई) **देवताओं का वंश**—इसका अभिप्राय है कि देवता (अग्नि, इन्द्र, वरुण इत्यादि जगत् के पदार्थ) कैसे बने।

(उ) **मन्वन्तर की रचना**—आरम्भ से लेकर पूर्ण प्रलय तक जो चौदह भाग हैं, उनका वर्णन और उनमें होनेवाले कार्य।

(ऊ) **राजवंशों का वर्णन।**

वर्तमान परिभाषा में यही इतिहास कहाता है। परन्तु यूरोपियन विद्वान् पुराणों को इतिहास न मानकर उनके अन्य विषयों की बात पढ़ने-समझने लगते हैं। यह ठीक है कि वे विषय आज के इतिहास लिखनेवालों की रुचि के नहीं हैं, परन्तु वे किसी की भी रुचि के अनुकूल नहीं होंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न किया जा सकता है कि इतिहास को अन्य विषयों से पृथक् क्यों नहीं कहा गया? इसमें कारण है। भारत का प्राचीन इतिहास लिखनेवाले विद्वान् राजा-महाराजाओं की सेवा में रहते हुए अथवा उनकी छत्रछाया में पलते हुए नहीं लिखते थे। उन दिनों किसी विद्वान् ब्राह्मण का किसी राजा की सेवा में आ जाना महापाप माना जाता था।

महाभारत (१२-६२-३, ४, ५) में यह स्पष्ट कहा है कि राजा की सेवा में यदि वेतनधारी ब्राह्मण हो तो वह शूद्र ही माना जाता है। इसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष के इतिहास-लेखक राजाओं की गणना कराकर तथा उनके छोटे-मोटे कार्यों का वर्णन लिखकर समय और परिश्रम को व्यर्थ गँवाना समझते थे।

भारतवर्ष में इतिहास सामान्यजनों के कल्याण के लिए लिखा और कहा जाता था। राजा लोग ब्राह्मणों को राजभवन में बुलाकर अथवा उनके आश्रमों में जाकर इतिहास सुनते थे। तब केवल घटनाओं का वर्णन पर्याप्त नहीं समझा जाता था। उन घटनाओं का कारण और घटनाओं के परिणामों पर अधिक ध्यान दिया जाता था।

इस विषय में एक कथा का वर्णन हमारा आशय स्पष्ट कर देगा। महाभारत के लेखक महर्षि व्यास मुनि जी ने जब द्रौपदी को स्वयं पाँचों भाइयों से विवाह में रुचि प्रकट करते देखा तो उन्होंने इसका कारण वर्णन करते हुए महाभारत (१-१९६, गीता प्रेस, गोरखपुर) में एक कथा वर्णन कर दी।

यह कथा इतिहास नहीं, अपितु पुराण है और वर्तमान का प्राचीन से सम्बन्ध है। व्यासजी ने कहा कि कर्म से यह स्त्री इन पाँचों की पत्नी बनने के लिए उत्पन्न हुई है।

इतिहास तो यह है कि पांचाल देश की राजकुमारी अर्जुन से जीती गई थी, परन्तु राज्य मिलनेवाला था युधिष्ठिर को। उसने अपने देश की यह प्रथा कि एक भाई की पत्नी सब भाइयों की पत्नी हो सकती है, का लाभ उठाकर स्वयं पटरानी बनने का प्रबन्ध कर लिया था।

महाभारत में पूर्वजन्म की कथा इस कारण लिखी गई है कि महाभारत एक पुराण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है। लेखक महर्षि व्यास मुनि स्वयं लिखते हैं[1]–

हे ब्रह्मन्! मैंने इस ग्रन्थ में वेदों का गुप्त रहस्य तथा अन्य (शास्त्रों) का सार संकलित कर दिया है। उपनिषदों का भी सार इसमें है। इस ग्रन्थ में इतिहास-पुराण का मन्थन कर उनका प्रशस्त रूप दे दिया है। भूत, वर्तमान और भविष्य को एक लड़ी में गूँथ दिया है।

हम तो केवल यह कह सकते हैं कि इतिहास को जन्म-मरण, कर्म-फलादि के वृत्तान्त से पृथक् कर, उसे ग्रहण करो। पुराणों को समझने के लिए विशेष विधि-विधान है और वह समझ लेना आवश्यक है। यूरोपियन शैली का, भारतवर्ष के लेखकों को समझने के लिए प्रयोग करना अन्याय और मूर्खता है। हम संक्षेप में पुराण पढ़ने और समझने के विषय में यहाँ लिख देना चाहते हैं।

(i) हमने बताया है कि पुराणों में पाँच विषयों का समन्वय है।

इनमें हमारे विचार में सृष्टि, मन्वन्तर और राजवंशों का वर्णन इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें सृष्टि-रचना का इतिहास और मनुष्यों के इतिहास हैं।

इन पाँचों के अतिरिक्त वेद, धर्मशास्त्र और भूत, वर्तमान तथा भविष्य का वृत्तान्त भी पुराणों में है। जो जिस विषय का जिज्ञासु है, उसे उस विषय को पृथक् करके पढ़ लेना चाहिए।

(ii) पुराणों के पारिभाषिक शब्द वही हैं जो वेदों के हैं—उन शब्दों के अर्थ वैसे ही समझने चाहिएँ जैसे वेद के शब्दों के अर्थ समझे जाते हैं।

(iii) परमात्मा एक सर्वव्यापक चेतन शक्ति का नाम है—चेतन का अर्थ है जो किसी गति अथवा कार्य को आरम्भ कर सके, चालू रख सके और उसका अन्त कर सके।

वेद-मन्त्र में इसे इस प्रकार बताया गया है[2]–

> "वह परमात्मा सर्वव्यापक, सब बलों से युक्त, शरीर-रहित, विकारों से रहित-स्नायु-बन्धनों से रहित, निर्मल, पाप से अविद्ध, सदैव रहनेवाला, स्वयं ही प्रकट होनेवाला, महान् विद्वान्, मन से युक्त, यथार्थ ज्ञान का देनेवाला, शाश्वत और समन्वय करने वाला है।"

ऐसा ही परमात्मा पुराणों में माना है।

(iv) अवतार—परमात्मा की प्राणशक्ति का अवतरण होता है। यह सब प्राणियों में

---

१. **ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम्॥** (महाभारत आदि० १-६२, ६३)

२. **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥** (यजुः० ४०-८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। कुछ-एक में शक्ति का विशेष समावेश होता है। परन्तु शक्ति के अवतरण होने का यह अभिप्राय नहीं कि वह व्यक्ति परमात्मा हो गया। शक्ति चेतन न होने से स्वयं कार्य नहीं कर सकती। इस शक्ति का कार्य उस जीवात्मा की इच्छानुसार होता है जिसके शरीर में उस प्राणशक्ति का अवतरण होता है।

पुराणों के पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि प्राणशक्ति परमात्मा की अवश्य है, परन्तु इसको प्राप्त करने के लिए तो यत्न करना पड़ता है। वह उस उद्देश्य से भिन्न है, जिसमें उस प्राणशक्ति का प्रयोग होना होता है।

'विष्णु' परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसा हमने ऊपर बताया है, जो सर्वव्यापक, शक्तिरूप है और ज्ञानवान् चेतन है।

(v) ब्रह्मा की उत्पत्ति परमात्मा (विष्णु) की नाभि से बताई गई है। यह आलंकारिक वर्णन ही है, क्योंकि जब परमात्मा अकाय (शरीररहित) है तो फिर उसकी नाभि नहीं हो सकती।

जब सृष्टि-रचना होने लगती है तो फिर एक शक्ति एक स्थान से उत्पन्न हो व्योम में बहुत गति से फैल जाती है। वेद में इसका वर्णन आया है, वहाँ इस प्रकार कहा है[1]—

"हे अर्वन् (परमात्मा के तेज अर्थात् प्राणशक्ति)! अन्तरिक्ष से ऊपर को जाता हुआ घोर शब्द करता हुआ सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला तू स्तुति (चिन्तन) करने योग्य है।"

यह प्राणशक्ति है। यही ब्रह्मा कहाती है। यह एक स्थान से उत्पन्न होकर अन्तरिक्ष में बहुत तीव्र गति से फैल गई थी।

(vi) इन्द्र—इसके विषय में यह बताया है कि प्रकृति के परमाणु में तीन प्रकार की शक्तियाँ सन्तुलित अवस्था में होती हैं। इसे सांख्य दर्शन में कहा है[2]—

"सत्त्व, रजस्, तमस् तीन प्रकार की शक्तियों की साम्यावस्था प्रकृति का एक परमाणु है।"

साम्यावस्था का अर्थ सन्तुलित (Balanced) अवस्था है।

जब परमात्मा की इच्छा से यह साम्यावस्था भंग होती है तो ये तीनों प्रकार की अग्नि प्रकट होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। यह इन्द्र है।

(vii) मित्र, वरुण और अर्यमा—तीन प्रकार की शक्तियाँ जो परमाणु से प्रत्यक्ष हुई, वे हैं—मित्र, वरुण और अर्यमा। वर्तमान विज्ञान में इनको atomic particles कहा जाता है। वैदिक भाषा में इन कणों का साँझा नाम 'अपाः' है।

(viii) मरुत—तेज परमात्मा का प्राण है। इन्द्र परमाणु के भीतर की एक शक्ति है। जो इन्द्र का एक रूप है जिसे चुम्बकीय शक्ति कहते हैं, वह वैदिक भाषा में मरुत

---

१. **यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।**
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ (ऋ० १-१६३-१)

२. **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।** (सां० दर्शन १-६१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाती है।

यह चुम्बकीय शक्ति प्रकृति के अणुओं में प्रकट होती है। इस कारण अणुओं (molecules) को भी मरुत ही कहते हैं। मरुत शक्ति है। जिसमें यह रहती है वह अणु (molecule) है।

(ix) **ऋषि**—वेद और पुराणों की परम्परा के अनुसार आदिसृष्टि में कुछ पुण्यात्मा उत्पन्न हुए थे जो पूर्वकल्प के पुण्यकर्मों के कारण विशेष बुद्धि और ज्ञान के स्वामी थे। वेद, जो आदिसृष्टि में छन्दों (waves) के रूप में प्रकट हुए थे, उनको समझकर ऋषियों ने उन्हें मानवी भाषा में वर्णन किया था। ये छः तो महर्षि कहे जाते हैं और चार अन्य हैं जो केवल ऋषि कहे जाते हैं।

(x) **पितर**—ये वे मनुष्य-जाति के घटक थे जो अमैथुनीय सृष्टि के थे। ये सैकड़ों, कदाचित् सहस्रों की संख्या में थे। ये माता-पिता के बिना, अथवा यूँ कहो कि सूर्य और पृथिवी के संयोग से उत्पन्न हुए थे। इनको पितर कहते हैं।

ऋषि भी अमैथुनीय सृष्टि के ही प्राणी थे, परन्तु पितर उनसे पृथक् थे। ये सामान्य मनुष्य थे। फिर भी इनके मन-बुद्धि तीक्ष्ण थे और ये ऋषियों से शीघ्र ही ज्ञान सीख गए थे।

(xi) **पुराणों में भूत और भविष्य**—वैदिक जीवन-मीमांसा के माननेवालों के अनुसार पुराण जब भी किसी घटना का वर्णन करते हैं, वे उस घटना के पूर्व-पक्ष और भविष्य-पक्ष भी मानते हैं। रावण यदि दुष्ट था तो इसका कारण उसके पूर्वजन्म के कर्म माने जाते हैं। घोर पाप के कारण ही वह दुष्ट कर्म करनेवाला हुआ था और मरने के उपरान्त नरक का भागी बना था।

यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि जिनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती, वे केवल वर्तमान को मानते हैं; भविष्य और भूत को नहीं मानते। परन्तु भारतीय इतिहास लिखने-वाले वर्तमान को भूतकाल के कर्मों का फल मानते हैं और वर्तमान को भविष्य का बीज समझते हैं। इसीसे हमने यह कहा है कि पुराणों में पाँच विषयों में एक विषय मानव-इतिहास है। चार विषय मानव-इतिहास के अतिरिक्त हैं।

(xii) पुराणों में इन पाँच विषयों के अतिरिक्त एक बात और भी है। हम समझते हैं कि वह न तो युक्तियुक्त है और न ही किसी प्रकार से लाभकारी। वह है साक्षात् परमात्मा का मानवों की स्त्रियों के पेट से जन्म लेना।

परमात्मा का मनुष्य के रूप में आना आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। यह विचार महाभारत-काल के उपरान्त सम्भवतः महात्मा बुद्ध और महावीर के जन्म के उपरान्त प्रचलित हुआ है।

यह विचार कि परमात्मा किसी मानवी स्त्री के पेट में आकर जन्म लेता है, बहुत ही पीछे के काल में उत्पन्न हुआ है। इसका एक प्रमाण यह है कि प्रायः सब पुराणों में सब अवतारों को कृष्ण का रूप समझा जाता है। यह मान्यता देवकी-पुत्र कृष्ण के ख्याति प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के उपरान्त पुराणों में प्रक्षिप्त की गई है, अन्यथा कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतार भी हुए हैं। वे भी परमात्मा के स्वरूप ही माने जाते हैं, परन्तु उनके नाम से अन्य अवतारों को नहीं माना जाता। कृष्ण का नाम अन्य अवतारों के नाम के स्थान पर भी लिया जाता है।

वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में अथवा उपनिषद्-ग्रन्थों में अवतार शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ। वेदों में परमात्मा के कई नाम कहे हैं, परन्तु कृष्ण नाम के परमात्मा का उल्लेख वेदादि शास्त्रों में नहीं है। इन प्राचीन ग्रन्थों में कहीं कृष्ण शब्द आया है तो वह 'काले' के अर्थों में ही आया है, किसी व्यक्ति के नाम के लिए नहीं आया।

हम पुराणों में परमात्मा के अवतार के विषय को पुराणों का अंग नहीं मानते। किसी ने इस विषय को अट्ठारह पुराणों में मूर्खतावश डाल दिया है। वैसे तो पुराण के पाँच विषयों में, जिनका प्रायः सब मुख्य-मुख्य पुराणों में उनके विषय माना है, अवतारवाद का विषय नहीं है।

इस कारण जहाँ हम पुराणों में पुराणों के अन्य पाँच विषयों को स्वीकार करते हैं, वहाँ हम ईश्वर के भूतल पर जन्म लेने को नहीं मानते।

(xiii) जहाँ तक वर्तमान अट्ठारह पुराणों का सम्बन्ध है, हम यह मानते हैं कि वे सब महाभारत के लिखे जाने के बाद लिखे गए हैं। इस विषय में तो पुराण लिखनेवाले स्वयं लिखते हैं कि व्यासजी जब महाभारत लिख चुके तो उनको संतोष नहीं हुआ और उन्होंने एक-एक कर अट्ठारह पुराण लिखे और फिर सबके अन्त में महाभागवत पुराण लिखा। ये व्यासजी ने लिखे अथवा किसी अन्य ने लिखे, यह यहाँ विचारणीय नहीं। विचारणीय यह है कि वे महाभारत के बाद लिखे गए।

जहाँ पुराणों में यह कहा है कि व्यासजी ने इनको महाभारत ग्रन्थ लिखने के उपरान्त लिखा, वहाँ व्यासजी ने महाभारत में ही (महा० भा० १-१-६३) में कहा है कि इस महाभारत ग्रन्थ में वेद-इतिहास-पुराणों का निचोड़ दे दिया है।

इसका अभिप्राय यह है कि महाभारत लिखे जाने से पहले पुराण-ग्रन्थ विद्यमान थे। हमारा यह कहना है कि वर्तमान पुराणों में जो पाँच विषय कहे हैं, वे तो प्राचीन पुराणों से ही लिये गए हैं। हाँ, अवतारवाद इनमें नहीं है। महाभारत-काल के उपरान्त बौद्धों और अन्य गुरुओं के बन जाने के उपरान्त मूर्ख लेखकों ने इसे पुराणों में भी लिख दिया है।

(xiv) पुराणों में एक अन्य बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह है, पुराणों की वर्णन-शैली। प्रायः सभी पुराण कथाकार के मुख से कहलाए गए हैं। कथाकार स्वयं अपनी इच्छा से कुछ नहीं कहता। श्रोतागणों में से कथाकार से प्रश्न पूछे जाते हैं और कथाकार उनका उत्तर देता है। श्रोतागण तो जब कोई बात उनके मन में आती है, पूछते हैं। इस पूछने और इसके उत्तर देने में आगे-पीछे का कोई नियम नहीं रहा। सतयुग की बात के उपरान्त द्वापर की बात आ गई है और द्वापर के उपरान्त त्रेतायुग की बात पूछ ली गई है। यह कथाकार का कर्तव्य था कि घटनाओं के आगे-पीछे और एक के काल से दूसरे के काल में अन्तर का संकेत दे देता, किन्तु ऐसा नहीं किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज तक पुराण प्रकाशित करनेवालों ने भी इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला। भीष्म, पाण्डु के बाबा, के काल के परशुराम को ही राम के काल का परशुराम मान लिया गया है।

रावण के नाना माली, सुमाली के काल के विष्णु को हिरण्यकश्यप के काल का विष्णु मान लिया गया है। यह दोष प्रश्नकर्ताओं का तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु कथाकार के कथन में आ जाना क्षम्य नहीं हो सकता।

पुराणों को छोड़कर भारतवर्ष का इतिहास लिखना अतिकठिन है। इस कारण उनमें से जो युक्तियुक्त मिले, उसे स्वीकार कर शेष को छोड़ देने से ही काम बन सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि यूरोपियनों की कल्पनाएँ तो पुराणों से भी अधिक भयंकर और भ्रष्ट हैं।

सृष्टि-रचना से पूर्व—ब्रह्मावतार

ऋग्वेद के मन्त्र १०-१२९-१,२,३ का देवता अर्थात् विषय है 'भाव-वृत्तम्'। इसका अर्थ है—रचना का वृत्तान्त। इन मन्त्रों में कहा है—

"(रचना के) पूर्व में न तो व्यक्त था और न ही अव्यक्त। न रजः (छोटे-मोटे ग्रहादि नक्षत्र) था, न ही सीमित अन्तरिक्ष (जैसाकि आजकल आकाशगंगा अथवा सौर-मण्डल में बँटा हुआ है)। उससे भी परे कुछ नहीं था। उस समय क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेरे हुए था? और वह कहाँ था, किसके आश्रय था? वह गहन गम्भीर क्या था?

"उस समय कुछ टूट-फूट नहीं रहा था, न ही कुछ बन रहा था। जीवन नहीं था। न दिन था, न रात थी। एक 'आनीत अवातम्' (शक्ति जो कार्य नहीं कर रही थी) था और एक अपने-आपमें स्थिर स्वधा थी। वह (स्वधा) अतिसूक्ष्म थी। उससे सूक्ष्म कुछ नहीं था।"[1]

इन दो मन्त्रों में उस अवस्था का वर्णन किया है जो रचना-कार्य आरम्भ होने से पहले थी। सब-कुछ शान्त अन्धकारमय था। उस समय दो बातें वहाँ थीं। एक न चलता हुआ तेज, शक्ति, और दूसरा एक अति सूक्ष्म पदार्थ जो अपने-आपमें ही ठहरा हुआ था।

इस सूक्ष्म पदार्थ का कुछ और भी वर्णन दिया है—

"चारों ओर से अंधकार से घिरा हुआ था। वह इतना सूक्ष्म था कि जाना नहीं जा सकता था और सलिल अवस्था में था और सब स्थान पर उपस्थित था।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ (ऋ० १०-१२९-१, २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इस समय एक (जिसे 'आनीत-अवातम्' कहा है और जो छुपा हुआ था) प्रकट हुआ।"[1]

यह सृष्टि-रचना का आरम्भ है।

पूर्ण स्थान में एक पदार्थ सलिल अवस्था में व्यापक था। वह अंधकारमय और अपने-आपमें स्थित था। सलिल के अर्थ हैं कि वह पदार्थ जो अतिसूक्ष्म कणों में परस्पर असम्बद्ध था और जिसका प्रत्येक कण स्वतन्त्र रूप में था (जैसे रेत के कण होते हैं)। यह पदार्थ पूर्ण जगह पर व्यापक था।

इस समय तेज, वह शक्ति जो उस समय अप्रत्यक्ष थी, प्रकट हो गई। इसके प्रकट होने का वृत्तान्त एक अन्य वेद-मन्त्र में वर्णन किया है—

"अन्तरिक्ष में एक 'अर्वा' उत्पन्न हुआ। वह बहुत तीव्रता से ऊपर को उठा और फैल गया। फैलते हुए वह घोर नाद कर रहा था। वह परमात्मा का तेज सृष्टि-रचना में अर्वा (घोड़े) की भाँति कार्य करने के लिए था।"[2]

इसी को बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है—

"अश्व के सामने महिम रूप दिन (ब्रह्म दिन) प्रकट हुआ। उससे पूर्व उसकी योनि समुद्र (अन्तरिक्ष) थी। इस (अश्व) की उत्पत्ति से पहले महिमामयी रात्रि (ब्रह्म रात्रि) थी।

"ये दोनों (दिन और रात) अश्व के चारों ओर आगे-पीछे थे। (अर्थात् पहले रात्रि फिर दिन, तदनन्तर रात्रि) इस प्रकार एक के उपरान्त दूसरा चलता है। इसको देवता लोग 'हय' कहते हैं, गन्धर्व (वेद के जाननेवाले) 'अर्वा' कहते हैं, मनुष्य और असुर इसे 'अश्व' कहते हैं।"[3]

इसकी व्याख्या पुराणों में भी की है। उदाहरण के रूप में महाभारत में कहा है—

"पूर्वकाल में यह मानस देव अनादि, अनन्त, अभेद और अजर तथा अमर प्रकट हुआ।"[4]

हमने यह बताया है कि सृष्टि-रचना के आरम्भ में घोर शब्द करता हुआ 'तेज' उत्पन्न हुआ। यह परमात्मा की शक्ति थी। इसी को पुराणों में ब्रह्मा कहा है। महाभारत में उक्त तेज की व्याख्या में कहा है—

---

१. तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ (ऋ० १०-१२९-३)

२. यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ (ऋ० १-१६३-१)

३. अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वान्, अर्वाऽसुरान्, अश्वो मनुष्यान्, समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ (बृहदा० उप० १-१-२)

४. मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः॥ (महा० भा० शान्ति० १८२-११)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मानस देव का (अलंकार-रूप में) स्वरूप वर्णन किया गया है कि वह ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुआ। उन्हीं ब्रह्माजी के आसन के लिए पृथिवी को ही कमल कहते हैं।

"इस कमल की कर्णिका मेरु पर्वत है जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया हुआ है। उसी पर्वत के मध्य भाग में स्थित होकर जगदीश्वर ब्रह्मा ने सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि की।"[1]

यह परमात्मा का तेज ही है जिसे ब्रह्मा कहा जाता है। पूर्ण चराचर जगत् उस तेज से बना है।

विष्णु पुराण में भी इसी आशय को लेकर लिखा है—

"पिछले कल्प का अन्त होने पर रात्रि में सोकर उठने पर सत्य गुण के उद्रेक से युक्त भगवान् ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण लोकों को शून्यमय देखा।"[2]

ब्रह्मा के विषय में मनुस्मृति में भी इसी प्रकार कहा है—

"ब्रह्मा की मूर्ति के छः अवयव हैं—पंच तन्मात्र और अहंकार। ये सृष्टि-रचना में मूल तत्त्व हैं।"[3]

वैदिक परिभाषा में समुद्र और अन्तरिक्ष पर्यायवाचक शब्द हैं। पुराणों ने भी इसी परिभाषा पर परमात्मा और ब्रह्मा के विषय में ऐसे अलंकार बाँधा है। वहाँ कहा है कि अनन्त समुद्र में शेषनाग की शय्या पर विष्णु भगवान् लेटे हुए हैं और विश्राम कर रहे हैं। भगवती लक्ष्मी उनके चरण दबा रही हैं।

यह उस वेद-मन्त्र (ऋ० १०-१२९-२) का ही चित्र है। वहाँ कहा है कि एक स्वधा प्रकृति थी जो अपने-आपमें स्थित है और उसमें एक 'आनीत-अवातम्' विश्राम कर रहा है। स्वधा प्रकृति है।

इसे अलंकार में शेषनाग बताया है। उस पर सर्वव्यापक परमात्मा विष्णु भगवान् विश्राम कर रहा है और लक्ष्मी (आनीत् अवातम्) परमात्मा के चरणों में बैठी है।

उस आलंकारिक चित्र में यह भी बताया है कि भगवान् विष्णु की नाभि से एक कमल फूल उत्पन्न हुआ और उस पर ब्रह्मा बैठा है। यह वेद-मन्त्र (ऋ० १-१६३-३) का चित्रण किया गया है। अर्वा है—ब्रह्मा, जो अन्तरिक्ष में उत्पन्न होता है, घोर नाद करता हुआ चारों ओर फैल जाता है। वह सृष्टि-रचना करता है।

---

१. मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥ (महाभारत शान्ति० १८२-३७, ३८)

२. अतीतकल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः।
सत्त्वोद्रिक्तस्तथा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत॥ (विष्णु पुराण १-४-३)

३. यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः॥ (मनुस्मृति १-१७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा का तेज ही ब्रह्मा है। यही कमल पर बैठा सृष्टि-रचना कर रहा है।

इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र ब्रह्मा प्राणियों को सामर्थ्य प्रदान करनेवाली शक्ति है। इस कारण हम ब्रह्मा को इस सृष्टि में परमात्मा का प्रथम अवतार मानते हैं। हमने अवतार की अपनी कल्पना वर्णित की है। अवतार परमात्मा की प्राणशक्ति के विशेष अंश का स्वामी होता है। परमात्मा की प्राणशक्ति ही तेज है और इसका प्रथम स्वामी यह तेज ब्रह्मा ही है। इससे ही सृष्टि-रचना आरम्भ हुई है।

ब्रह्मा के विषय में महाभारत शान्ति० ३४७-३८ से ४३ में विस्तृत वर्णन मिलता है।

यह समझ लेना चाहिए कि यह जो कुछ वर्णन किया गया है वह सृष्टि-रचना के गम्भीरतम रहस्य को आलंकारिक भाषा में सामान्य मनुष्यों को समझाने के लिए किया गया है।

सृष्टि-रचना विज्ञान का विषय है और सामान्य मनुष्यों को समझाने के लिए यह कथा कही गई है। वैसे वैज्ञानिक प्रक्रिया क्या हुई, उनका सांख्य दर्शन में वर्णन है।

सृष्टि की रचना में परमात्मा के तेज को पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा माना है। अतः आकाश-गंगा-रचना में प्रथम अवतार अर्थात् परमात्मा की शक्ति का अवतरण 'ब्रह्मा' कहाता है।

सृष्टि-रचना का दूसरा काल—वराह अवतार

ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा के तेज ने रचना आरम्भ की। रचना किस प्रकार आरम्भ हुई, उसके विषय में वेद-मन्त्रों के माध्यम से समझाने का यत्न किया है। इससे शक्तिधूम बना। इस विषय में भी वेद में कहा है।[1]

"शक्तिशाली धुएँ को समीप से (पृथिवी पर बैठे हुए) देखता हूँ। वह बहुत विस्तारवाला होने से दूर (ही) है।

"(ये शक धूम) आकाश से पकता रहा है। सब प्रकार के कर्म होने से सब धर्मों (रूपों) को प्राप्त होता है।"

यह कर्म हमने पिछले अध्याय में वर्णन कर दिया है। यह परमात्मा के प्रथम अवतार (उसकी शक्ति) से सम्पन्न हुआ है।

मनुस्मृति में कहा है कि एक संवत्सर-पर्यन्त, और वेद में कहा है कि शत देव-वर्ष तक चलता रहा।

जब ब्रह्म-अण्ड में सब पककर तैयार हो गया तो वह ब्रह्म-अण्ड फटा। इसे फोड़ने-

---

१. शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥

(ऋ० १-१६४-४३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली शक्ति का नाम वराह है। इस विषय में वेद में विस्तार से वर्णन है। एक वेद-मन्त्र में कहा है[1]—

"इस हो रहे (रचना) यज्ञ में महान् माता (महत्) [और] पिता (तेज अथवा विष्णुः) सुन्दर अन्न (परमाणुओं) को निरन्तर पीकर (प्राप्त कर); अतिशय पक जाने पर वृत्रधारी विष्णु नीचे के (पार्थिव) पदार्थों को बींध देता है (और) वराह अपहरण करता है।"

अभिप्राय यह कि वराह है जो शक धूम बादल में पार्थिव को तेजोमय से पृथक् करता है। ऋ० १-१६४-४२ में इसका वर्णन किया गया है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि पुराणों में वराह को वह शूकर बताया है जिसने पृथिवी अर्थात् पार्थिव पदार्थों को समुद्र से निकाला है। यह वेद की ही बात है। अन्तर यह है कि वेदार्थ करनेवाले अथवा कथा करनेवाले समुद्र के अर्थ जल का सागर करते हैं, परन्तु वैदिक भाषा में समुद्र 'अन्तरिक्ष' को कहते हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष में अन्तरिक्ष के दूसरे पदार्थों से मिली हुई थी, इसे इन्द्र ने पृथक् किया। जिसने पृथक् किया वह वराह है।

पुराणों की कथा करनेवाले अज्ञ पण्डित वराह को शूकर मानते हैं और आर्यसमाजी पण्डित बादल मानते हैं। निरुक्तकार यास्क भी वराह का अर्थ मेघ करता है। हमारे विचार में यह अर्थ मिथ्या है।

समुद्र से अभिप्राय है अन्तरिक्ष और वराह है हिरण्यगर्भ में पका हुआ, जिसके द्वारा पृथक् किया गया पार्थिव नीचे और दिव्य ऊपर रह गया।

एक अन्य वेद-मन्त्र में इसी घटना का वर्णन है। वहाँ कहा है कि व्यापक परमात्मा ने हिरण्यगर्भ पक जाने के उपरान्त वहाँ पृथिवी को द्युलोक से पृथक् किया। एक बहुत बड़ा धमाका हुआ और पृथिवी (ठोस पदार्थ) द्युलोक (चमकनेवाले पदार्थ) से पृथक् हो गई।

अतः सृष्टि-रचना के कर्म में दूसरा अवतार वराह है। समुद्र का अर्थ अन्तरिक्ष है और वराह से अभिप्राय सृष्टि-रचना में हिरण्यगर्भ नाम के चमकते हुए बादल (नेबुला) से है।

रचना-कार्य आरम्भ होने के १०१ देव-वर्षों के उपरान्त यह हुआ है। 'सूर्य सिद्धान्त' कहता है कि रचना-आरम्भ से ४७,४०० दिव्य वर्ष बीतने पर नक्षत्रादि बने।

यह कहा जाता है कि ३६० सौर वर्ष का एक दिव्य वर्ष होता है. अतः ४७,४०० × ३६० = १,७०,६४,००० सौर वर्ष व्यतीत होने पर नक्षत्र बने। वेद में कहा है कि जो यज्ञ (सृष्टि-रचना) समस्त दिशाओं में फैल रहा था, वह १०१ देव-वर्ष तक फैलता रहा। सृष्टि के पितर (वे शक्तियाँ जो जगत् को बना रही थीं) इस कार्य को चलाते रहे।

---

१. **अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।**
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ (ऋ० १-६१-७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार वराह अवतार को लगभग १८,०१,३०,६८४ सौर वर्ष हो जाते हैं।

इन दोनों अवतार (परमात्मा की शक्तियों) का आविर्भाव रचना-कार्य के मध्य में ही हुआ।

हम सृष्टि-रचना को व्यापक अर्थों में लेते हैं जिसका वर्णन हम उस प्रकरण में विस्तार से कर आए हैं।

तीसरा अवतार—हयग्रीव

इस अवतार को भी सृष्टि-रचना से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। यह अवतार भी ब्रह्मा और वराह के समान अन्तरिक्ष में ही उत्पन्न हुआ और कार्य करता रहा।

'हय' का अर्थ है—सूर्य का अश्व और 'ग्रीव' का अर्थ है—'गर्दन'। सूर्य के अश्व की गर्दन से अभिप्राय यही हो सकता है कि सूर्य की किरणों का समूह। सूर्य ने उस सामर्थ्य से कुछ कार्य किया है जो अद्वितीय और उल्लेखनीय है। इस कारण सूर्य की गर्दन अर्थात् किरणों को अवतार का पद दिया गया है ।

इसके महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

जब रचना-कार्य करते हुए छः मन्वन्तर व्यतीत हो गए और सातवाँ आरम्भ हुआ तो पृथिवी पर प्राणी-सृष्टि होने लगी। इससे पूर्व वनस्पतियाँ बन चुकी थीं। निम्न कोटि के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी इत्यादि भी बन चुके थे और परमात्मा की कृपा से वेद भी छन्दों के रूप में प्रसारित हो रहे थे। छन्द का अभिप्राय है—शक्ति की तरंगें। इन तरंगों के प्रसारण में भिन्न-भिन्न देवी-देवता सहायक हो रहे थे। वेद-मन्त्र के चतुर्थ अध्याय की पद-टिप्पणी (९) में ये विवरण दिए हैं। उन मन्त्रों का अभिप्राय है—

"परमात्मा की वेदवाणी छन्दों में उच्चारित हो रही थी। इसमें गायत्री छन्द के उच्चारण में अग्नि सहायक हो रही थी। उष्णिग् छन्द के उच्चारण में सविता देव सहायक हो रहा था। अनुष्टुभ् छन्द के उच्चारण में तेजस्वी सोम सहायक हो रहा था। बृहती छन्द का उच्चारण बृहस्पति से सहायता प्राप्त कर रहा था। मित्र और वरुण ने विराट् छन्द के उच्चारण में सहायता दी। त्रिष्टुप् छन्द दिन के समय इन्द्र के आश्रित हो गया और जगती छन्द में समस्त देवता सहायता करने लगे।"

इस प्रकार वेद के ये सातों छन्द (वाणी-शक्ति की तरंगों के रूप में) प्रसारित हुए। इसे इस प्रकार समझना चाहिए जैसे मनुष्य जब कुछ कहता है तो वह जीवात्मा की प्रेरणा से कहता है, परन्तु मनुष्य का गला इसमें सहायक हो जाता है। इसी प्रकार उच्चारण करनेवाला तो सर्वव्यापक परमात्मा ही था। परन्तु गले की भाँति ये दिव्य पदार्थ उस उच्चारण (प्रसारण) में सहायक हो गए। जैसे रेडियो प्रसारण-केन्द्र से वक्ता बोलता है तो उसकी वाणी रेडियो की तरंगों पर सवार होकर चारों ओर फैल जाती है, इसी प्रकार वेदवाणी शक्ति की तरंगों पर सवार होकर फैलने लगी।

यह कहा है कि सातवें मन्वन्तर के आरम्भ में अन्तरिक्ष में किसी प्रकार की बाधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खड़ी हो गई और जो वाणी की लहरें आ रही थीं, वे रुकने लगीं।

वहाँ लिखा है कि ब्रह्मा उस प्रसारित होनेवाली वेदवाणी को मानवी भाषा में लिख रहा था कि तभी तरंगें आनी बन्द हो गईं।

कथा में अलंकार-रूप से कहा है कि वेदवाणी को 'मधु' और 'कैटभ' नाम के दैत्यों ने चुरा लिया।

ब्रह्मा ने अपने सातों मन्वन्तरों का वर्णन करके कहा "प्रभु कमलनयन! आपका मैं पुत्र हूँ। शुद्ध सत्त्वमय शरीर (परमात्मा की शक्ति) से उत्पन्न हुआ हूँ। आप ईश्वर, स्वभाव से स्वयम्भू और पुरुषोत्तम हैं।

"आपने मुझे वेदरूपी नेत्रों से युक्त किया था। आपकी कृपा से मैं कालातीत हूँ। मेरे वेदरूपी नेत्र, दैत्यों द्वारा हर लिये गए हैं, अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो! मुझे मेरे नेत्र वापस दिलवाइए। मैं आपका पुत्र और सेवक हूँ।"[1]

तब अश्व-ग्रीवा के समान सूर्य की किरणें सहायता के लिए आ गईं और ब्रह्मा को पुनः वेद मिल गए, अर्थात् पुनः परमात्मा की दिव्य शक्तियों द्वारा प्रसारित होने लगे।

'हयग्रीव' का शाब्दिक अर्थ सूर्य की किरणों का समूह होता है। महाभारत काव्य-ग्रन्थ होने से 'हयग्रीव' के स्वरूप को आलंकारिक रूप में वर्णन करता है। भाव वही हैं जो हमने बताए हैं।

सातवें मन्वन्तर के आरम्भ में जब मानवों के लिए वेदों की आवश्यकता थी, किसी प्रकार की अन्तरिक्ष में बाधा उपस्थित होने पर छन्दों का प्रसारण रुका तो परमात्मा ने अपनी विशेष शक्ति से सूर्य की किरणों के द्वारा उस बाधा को दूर किया और पृथिवी पर स्थित ऋषियों और मनुष्यों को वेद-ज्ञान मिला। वेद में कहा है[2]—

सृष्टिरचना-सम्बन्धी यज्ञ में ऋषि, पितर और मनुष्य उत्पन्न हुए। उनको पूर्वकल्प के ज्ञान के ज्ञाताओं द्वारा वेद का ज्ञान दिया गया।

कार्य का यह ज्ञान छन्दों के द्वारा प्रकट हुआ। इस ज्ञान का प्रसारण सात ऋषियों के द्वारा वर्णन किया गया है। शरीरों के स्थिर हो जाने पर, अर्थात् मनुष्यों के बन जाने पर

---

१. प्रथितः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः।
त्वमीश्वरः स्वभावश्च स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः॥
त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः।
ते मे वेदा हताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि॥
ददस्व चक्षूंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे।
एवं स्तुतः स भगवान् पुरुषः सर्वतोमुखः॥ (महाभारत १२-३४७-४४,४५,४६)

२. चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥
सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रभा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥ (ऋ० १०-१३०-६,७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ज्ञान उनके व्यवहार में आने लगा।

वेदों के इस प्रसार में जब बाधा उत्पन्न हुई तो 'हयग्रीव' अवतार हुआ और उसने वह बाधा दूर कर दी। यह भी परमात्मा की विशेष शक्ति का रूप ही था। इसी कारण इसे अवतार कहा है।

'हयग्रीव' अन्तरिक्ष की शक्ति थी। इसका सूर्य के साथ सम्बन्ध था और वेदों के प्रसारण में जो बाधा उत्पन्न हुई थी, उसको दूर करने के लिए इस अवतार का अवतरण हुआ।

ये तीनों अवतार ब्रह्मा, वराह और हयग्रीव रचना-काल के थे। इनको अवतार इस कारण कहते हैं क्योंकि इनमें परमात्मा की शक्ति विशेष मात्रा में कार्य में आई थी। हम अवतार का अर्थ परमात्मा की शक्ति का अवतरण मानते हैं। अवतरण का अभिप्राय है—कार्यजगत् में आकर किसी कार्यविशेष को करने में सफल होना।

'हयग्रीव' का काल, रचना-आरम्भ से लगभग एक अरब पचासी करोड़ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ था।

भारतीय तिथि-काल की गणना भी सृष्टि-रचना से ही आरम्भ होती है। इसके छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। एक मन्वन्तर ७१.४ चतुर्युगियों का होता है और यह ३०,८४,४८,००० सौर वर्ष का होता है। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अब तक ६ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। उनमें हुए कार्य के अनुसार इन मन्वन्तरों के नाम भी रखे गए हैं। मनुस्मृति में इनके नाम इस प्रकार लिखे हैं[1]—

(१) स्वायम्भुव, (२) स्वारोचिश, (३) उत्तम, (४) तामस, (५) रैवत, (६) चाक्षुष। अब सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है, इसका नाम 'वैवस्वत' है।

प्राणी-सृष्टि और विकासवाद

भारतीय इतिहास में प्राणी-सृष्टि के विषय में ऐसा कहा है कि आरम्भ से ही प्राणी ऐसे ही पैदा हुए हैं जैसे आजकल मिलते हैं। वर्तमान विज्ञान और यूरोपियन शिक्षा में शिक्षित भी यह मानते हैं कि सबसे पहले एक-कोषाणु जन्तु (unicellular living body) उत्पन्न हुआ, और उससे विकसित होता-होता उन्नत और उससे उन्नत जन्तु बनता गया। अन्त में मनुष्य बन गया।

मनुष्य के पितर वनमानुष-जैसे जन्तु थे और उनसे पहले क्या था, वह स्पष्ट विदित नहीं। फिर भी वर्तमान वैज्ञानिकों ने यह कल्पना की है कि प्रकृति के सूक्ष्म कणों से ही प्राणी का शरीर बना है। ये यहाँ पुरुष-जीवन को किस प्रकार समझते हैं, पहले वही

१. स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ लेना चाहिए। 'एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में एक विद्वान् जीवित पदार्थ (living body) के लक्षण इस प्रकार लिखता है[1]—

"किसी जीवित कहे जानेवाले पदार्थ को पहचानने के लिए और उसके विषय में जाँच-पड़ताल करने के लिए आवश्यक और पर्याप्त लक्षण इस प्रकार हैं कि यह एक सूझ-बूझ रखनेवाला किसी उपादान पदार्थ का टुकड़ा है, जिसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं। इसमें निरन्तर उपादान पदार्थ का आदान-प्रदान अपनी पड़ोसी वस्तुओं से होता रहता है। प्रत्यक्षतः पदार्थ के रूप में अन्तर नहीं पड़ता। यह परीक्षणों से अथवा वैसे ही तुलना से जाना जा सकता है। यह उत्पन्न होता है किसी प्रकार के विभाजन अथवा बाँटने से एक अथवा दो पहले ही उपस्थित जन्तुओं से। निरन्तर उपादान के आदान-प्रदान को हम उपापचयी (metabolic) कसौटी कह सकते हैं अथवा उसको वैसे ही पूर्व-उपस्थित पदार्थों से उत्पन्न होना कह सकते हैं। इसे जन्म भी कहते हैं।"

यह परिभाषा न केवल भाषा से अति भद्दी है, प्रत्युत अशुद्ध भी है।

"इसका सर्वोत्तम उदाहरण, कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। वह स्थिर ज्वाला है, जिसकी निश्चित सीमा होती है।"

यह आधार ही गलत है। हम भारतीय चेतन और अचेतन में अन्तर का वर्णन कर चुके हैं। उसी अन्तर के कारण हम यह कहते हैं कि दीपक की लौ की तुलना एक प्राणी से नहीं की जा सकती।

भारतीय विज्ञान यह मानता है कि—

"सुन्दर, बूढ़ा हो जानेवाले शरीर में इसका एक भाई रहता है जो शरीर के द्वारा भोग करता है और एक तीसरा भाई भी रहता है जो इन दोनों की रक्षा और पालन करता है। वह अपने सात पुत्रों के साथ शरीर में रहता है।"[2]

---

1. ....The necessary and sufficient condition for an object to be recognizable as a living organism, and so to be the subject of biological investigation, is that it be a discrete mass of matter, with a definite boundary, undergoing continual interchange of material with its surroundings without manifest alteration of properties over short periods of time and, as ascertained either by direct observation or by analogy with other objects of the same class, originating by some process of division or fractionation from one or two pre-existing objects of the same kind. The criterion of continual interchange of material may be termed the metabolic criterion, that of origin from a pre-existing object of the same class, the reproductive criterion.

A few inaminate systems satisfy the metabolic criterion; the best example, and one that has rightly been the source of poetic analogy, is afforded by steady flames, which have a definite boundary.

—Qtd. from Ency. Brit. – 1968, Vol. 3, Page 653 (a)

२. **अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥** (ऋ० १-१६४-१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् भारतीय विज्ञान यह कहता है कि प्राणी केवल शरीर ही नहीं है, वरन् इसके शरीर में दो आत्मतत्त्व भी रहते हैं। एक भोग करता है और दूसरा शरीर और आत्मा के संयोग की सात प्राणों से रक्षा करता है।

ऊपर 'एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में जो लक्षण एक प्राणी का दिया है, वह केवल कल्पना है, युक्ति से सिद्ध नहीं होता।

अतः यूरोपियन विद्वान् शरीर को प्राणी मान रहे हैं और इसका निर्माण कर प्राणी की सृष्टि करने का यत्न कर रहे हैं।

इसी कारण ये महापण्डित विकासवाद की कल्पना कर रहे हैं। भारतीय शास्त्र विकासवाद को एक असिद्ध, अयुक्तियुक्त सिद्धान्त मानते हैं। वैसे तो यूरोप में भी ऐसे विद्वान् हैं जो विकासवाद को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वे लोग जो परमात्मा को और आत्मा को नहीं मानते, उनको विकासवाद का एक महान् आश्रय मिल गया है। एक मिथ्यावाद (baseless theory) का सहारा लेकर एक अन्य मिथ्यावाद नास्तिक्य (agnostism) को सिद्ध कर रहे हैं। यह युक्ति है कि किसी असिद्ध बात से कोई दूसरी बात सिद्ध नहीं की जाती। विकासवाद स्वयं ही असिद्ध सिद्धान्त है और\उससे ईंट, पत्थर और प्राणी को एक ही श्रेणी में मानना मूर्खता है।

विकासवाद में इस प्रकार असंगतियाँ हैं—

(i) प्राणी और अप्राणी में भेद इतना स्पष्ट है कि दोनों में भ्रम नहीं हो सकता। यह भेद हम एक कुर्सी और कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य के उदाहरण से बता चुके हैं।

(ii) प्रकृति का कोई भी कण यदि खड़ा है तो खड़ा ही रहता है अथवा चलता है तो सीधी रेखा में चलता ही रहता है जब तक कोई बाहरी शक्ति उस पर प्रभाव न जमाए।

इससे परमात्मा और जीवात्मा की सिद्धि होती है।

(iii) परमात्मा तो सब चलायमान वस्तुओं में कार्य कर रहा दिखाई देता है। इन चलायमान वस्तुओं में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्रादि पदार्थ मानने चाहिएँ। इनके चलने को देखकर परमात्मा की सिद्धि होती है।

"जीवित प्राणी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और चेतना को देखकर प्राणी में जीवात्मा की सिद्धि होती है।"[1]

चेतना का अर्थ उस गुण को कहते हैं जिससे प्राणी कार्य के आरम्भ, कार्य की दिशा और कार्य समाप्त करने की स्वतन्त्रता रखता है। जीवित आत्मतत्त्व रखनेवाला प्राणी कर्म को आरम्भ करने की इच्छा करता है, कर्म को बन्द करने की इच्छा करता है और कार्य को इच्छा से दिशा देता है।

हम एन्साईक्लोपीडिया में एक जीवित वस्तु (living body) का लक्षण

१. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥ (न्या० द० १-१-१०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखनेवाले को अज्ञानी मानते हैं।

जब वर्तमान वैज्ञानिक एक जीवित शरीर के लक्षण ही ग़लत करते हैं तो उनका इनके निर्माण पर जो कुछ भी लिखा जा रहा है, वह वागाडम्बर मात्र है।

(iv) विकासवाद पर आपत्ति यह है कि वर्तमान युग में इस बात के लक्षण न मिले हैं, न मिलने की आशा है कि एक जाति के जन्तु की दूसरी जाति के जन्तु से सन्तान हो सकेगी।

(v) शरीर की इकाई जीन अर्थात् डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० के संयोग प्राणी के मरने पर बदल जाते हैं अथवा बदलने की ओर जाते हैं, क्यों ? इसके विपरीत जीन और उसमें डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० का क्रम तो मृत जन्तु के शरीर के अंश में ही देखा जाता है। हमारा कहना यह है कि शरीर में प्राणी के मरने पर अन्तर नहीं पड़ता। शरीर में विघटन दूसरे नियमों से चलता है। यह प्राणी की मृत्यु से सम्बन्ध नहीं रखता।

एक अकस्मात् मृत प्राणी के जीन और डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० बदलते नहीं। ये बदलेंगे तो उन कारणों से, जिनका शरीर से सम्बन्ध नहीं।

(vi) शरीरों में समानता देखकर प्राणियों में समानता नहीं देखी जा सकती। यह माना जाता है कि रक्त में समानता से मनुष्यों में भी समानता मानी जाती है। परन्तु रक्त में समानता होने पर भी मनुष्य समान नहीं होते। जीवात्मा का लक्षण मनुष्य-शरीर में कर्म करना है। उसकी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख इत्यादि के लक्षण हैं। एक समान रक्तवाले भी समान रूप में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख अनुभव नहीं करते देखे जाते।

(vii) पिता-पुत्र, माँ-बेटी, बहन-भाई में भी ये जीवात्मा के गुण समान रूप में नहीं पाए जाते। जिस बात की पिता इच्छा करता है, उसकी इच्छा पुत्र नहीं करता; भाई करता है तो बहन नहीं करती, इत्यादि।

अतः भारतीय शास्त्र यह मानता है कि प्राणी-प्राणी पृथक्-पृथक् हैं। शरीरों में एवं जाति में, समानता रखते हुए भी जीवन के लक्षणों में समानता नहीं होती।

निर्जीवों में ही यह सम्भव है कि किसी एक पदार्थ के एक कण (particle) का व्यवहार जो होगा, वैसा ही व्यवहार दूसरे कण का होगा। परन्तु प्राणियों में ऐसा नहीं होता।

अतः भारतीय मत यह है कि सब प्राणी पृथक्-पृथक् बने हैं।

यह तो देखने में आता है कि कुछ प्राणी-जातियाँ समाप्त हो गई हैं और अब उनकी सन्तान नहीं हैं। कई वनस्पति-जातियाँ भी समाप्त हो चुकी हैं। परन्तु यह नहीं देखा जाता कि एक से दूसरी जाति बनी है।

प्राणी-सृष्टि के विषय में भारतीय शास्त्र का कथन इसी प्रकार है। इस कथन के पूर्व हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि पुराणों में रचना-कार्य के गूढ़ रहस्यों का वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया हुआ है। एक अलंकार से हमने स्पष्ट किया है। वह अलंकार भगवान् विष्णु के समुद्र में शेषनाग की शय्या पर आसन कर रहे दिखाने का है और उनकी नाभि से कमल से उत्पन्न ब्रह्मा की उत्पत्ति का है।

हम बता चुके हैं कि वैदिक भाषा में समुद्र को अन्तरिक्ष कहते हैं। यह कहा है कि प्रलय-काल में व्योम में पूर्ण अन्धकार था और 'आनीत्-अवातम्' अर्थात् तेज (शक्ति) शान्त अवस्था में था। उस समुद्र पर परमात्मा के सोए होने का यही अभिप्राय है।

यहाँ प्राणी-सृष्टि का वृत्तान्त भी उसी आलंकारिक ढंग से किया है। कहा है—

"ब्रह्मा ने एक सौ देव-वर्ष तक तप किया और वैसा ही किया जैसे परमात्मा ने उसे करने को कहा था। तब ब्रह्माजी ने देखा कि वायु के झोंके आने लगे हैं और जिस कमल पर वह बैठे थे, वह भी काँप उठा है। समुद्र में लहरें उठने लगीं। तब अपनी तपस्या, मन की दृढ़ता और ज्ञान के बल से ब्रह्माजी उस वायु को पी गए। (वायु है शक्ति। 'पी गए' का अभिप्राय है—धारण कर लिया।) तब उन्होंने उस आकाशव्यापी कमल पर बैठे हुए यह विचार किया कि जैसी पूर्वकल्प की सृष्टि थी, वैसी ही अब करूँगा।"[1]

यह सब आलंकारिक वर्णन है। कमल का अर्थ है प्रकृति। उस पर परमात्मा का तेज (ब्रह्म) बैठा था। तेज ही ब्रह्मा था। यह सब ऊपर बता चुके हैं। वायु वैदिक भाषा में उस शक्ति को कहते हैं जो गति उत्पन्न करती है। यह शक्ति तो रचना-कार्य में 'आनीत्-अवातम्' कही है। वातम् गतिशील हो गई और ब्रह्मा उस शक्ति (वायु) को पी गए अर्थात् वह कार्य करने की सामर्थ्य पा गए।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा के तेज से प्राणवान् हो कर्म होने लगे। यह सब हम पहले ही वेद-मन्त्रों से बता चुके हैं।

'ब्रह्मा' पुराणों में भी वही है जो वेदों में कहा है। जिसे अर्वाः के नाम से कहा, वही ब्रह्मा के नाम से ऊपर कहा है।

आगे कहा है—

"जब पृथिवी पर जलवायु बन गए तो ब्रह्मा, परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति ने इस

---

१. विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः॥
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः।
पद्मम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम्॥
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा॥
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥ (श्रीमद्भागवत पुराण ३-१०-४,५,६,७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथिवी पर सातवीं स्थावर सृष्टि की। वे छः प्रकार की हैं—ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, लता, त्वक्सार, वीरुध और द्रमुक। इनका संचार नीचे से ऊपर को होता है। हमने वेद के प्रमाण से बताया था कि जो पाँव के बल खड़ी हैं और पाँव से भोजन पाती हैं। ये तमोभूत (अज्ञानयुक्त) होती हैं, परन्तु भीतर में चेतन होती हैं।"[1]

इसके उपरान्त आठवीं प्रकार की सृष्टि तिर्यक् योनि की है। (तिर्यक् का अर्थ पशु-पक्षियों से है।) ये अट्ठाईस प्रकार की कही जाती हैं। इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता। ये शारीरिक वेदना (खाना, पीना, सोना इत्यादि) ही जानती हैं।[2]

आगे कहा है—

नौवीं सृष्टि मनुष्यों की है। यह एक ही प्रकार की है।

इन उद्धरणों को यहाँ देने का अभिप्राय है कि प्राणी-सृष्टि नौ प्रकार की है। यहाँ हमने चार प्रकार की, क्रम बताने के लिए ही, लिखी है—वनस्पतियाँ, कीट-पतंगादि, पशु-पक्षी, और मनुष्य। मछलियाँ इत्यादि पक्षी की श्रेणी में हैं।[3]

वास्तव में प्राणी-सृष्टि की गणना एक अन्य स्थान पर की है। ब्रह्मसूत्रों में महर्षि व्यास कहते हैं कि कर्म दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ।[4]

भगवद्गीता में भी कहा है कि कर्म और विकर्म, दो ही प्रकार के कर्म हैं; और इन कर्मों से दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। एक प्रकार की वे गतियाँ हैं जो संयमन की योनियों में ले जाती हैं।[5]

संयमन की योनियाँ वे हैं जिनमें प्राणी केवल शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। निद्रा, भोजन, मैथुन के अतिरिक्त उनमें कुछ अन्य करने का सामर्थ्य नहीं होता। इन योनियों को वे संयमन की योनियाँ कहते हैं। पुराणों में वर्णित स्थावर और तिर्यक् योनियाँ इसी प्रकार की हैं।

केवल मानव-योनि में ही मनुष्य स्वेच्छा से और शारीरिक आवश्यकताओं से अतिरिक्त कर्म करता है।

संयमन की योनियों में जब हीन कर्मों के फल भोगकर उनका फल समाप्त हो जाता

---

१. रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः॥
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः।
उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तः स्पर्शा विशेषिणः॥
(श्रीमद्भागवत पुराण ३-१०-१८, १९)

२. तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥ (श्रीमद्भागवत पुराण ३-१०-२०)

३. अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥ (श्रीमद्भागवत पुराण ३-१०-२५)

४. सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः॥ (ब्रह्मसूत्र ३-१-११)

५. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्॥ (ब्रह्मसूत्र ३-१-१३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, तब वे जीवात्मा पुनः मानव-योनि में आते हैं और वहाँ कोई अच्छे और बुरे कर्म करके वे भिन्न-भिन्न योनियों को चले जाते हैं।

अतएव पूर्ण प्राणी तीन प्रकार में विभक्त हैं—(i) स्थावर, (ii) तिर्यक् योनि, तथा (iii) मानव-योनि।

मानव से ऊपर की योनियों की भी भारतीय शास्त्र कल्पना करता है। परन्तु वे शरीरधारी न होने से इस ग्रन्थ के विषयान्तर्गत नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि इतनी प्रकार की योनियाँ कैसे उत्पन्न हो गईं? इस प्रश्न के उत्तर में डार्विन का विकासवाद' प्रस्तुत किया गया है। हमने उसे अयुक्तिसंगत और प्रमाणरहित माना है।

भारतीय शास्त्र यह मानता है कि सब प्रकार के प्राणी पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए हैं। हाँ, पुराण के कथन से कुछ इस प्रकार का संकेत मिलता है कि स्थावरों में छः प्रकार के प्राणी हैं। परन्तु ये प्रकार शरीर के विचार से बताए हैं। इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि इन छः प्रकार वालों में अपने-अपने शरीर बदले जा सकते हैं। यूरोपियन प्राणिशास्त्र (Zoology) इनको मुख्य जातियाँ (main species) मानते हैं। यह सम्भावना बताई है कि ये जातियाँ एक-दूसरे में बदल सकती हैं। इस कथन का अभी कोई प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार पशु-पक्षियों में २८ प्रकार की जातियाँ कहीं हैं।

हमारा मत यह है कि इनमें भी जाति-परिवर्तन नहीं होता। समीप-समीप की जातियों में मिश्रित सन्तान उत्पन्न की गई है, जैसे घोड़ा और गधा। इन दोनों की सन्तान खच्चर होती है। खच्चर अपनी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार कुत्ता और भेड़िया में सन्तान उत्पन्न करने का यत्न किया गया है। जो सन्तान होती है, वह आगे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती।

यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना उचित मानते हैं। वनस्पति-जगत् (vegitable kingdom) और जन्तु-जगत् (animal kingdom) भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्नता भारतीय शास्त्रानुसार शरीर की है, जीवात्मा की नहीं। कहा है कि घोर पाप करनेवालों को स्थावर योनि मिलती है।

किन्तु यह भी देखा गया है कि कोई जन्तु प्रत्यक्ष में जन्तु-जगत् में होते हुए भी कुछ-कुछ गुण वनस्पति-जगत् के रखते हैं।

हम इनको भी एक जाति ही मानते हैं। जहाँ तक भारतीय शास्त्र का कथन है, सब जातियाँ पृथक्-पृथक् पैदा होती हैं।

अतः भारतीय इतिहास में यह कहा है कि चाक्षुष मन्वन्तर में पृथिवी रुण्ड-मुण्ड थी। वैवस्वत मन्वन्तर में पहले घास-फूस पैदा हुआ, उसके बाद अन्य प्रकार की वनस्पतियाँ। इनमें द्रुम सबके बाद में बने। पृथिवी पर घने जंगल बन गए तो प्राणी-सृष्टि उत्पन्न हुई। कीट-पतंगे से आरम्भ कर मनुष्य तक क्रमवार पृथक्-पृथक् उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए।

ठीक-ठीक पैदा कैसे हुई, उसकी प्रक्रिया तो स्पष्ट नहीं। बस, इतना ही वर्णन मिलता है कि इन्द्र (परमाणु-अन्तर्गत शक्ति) का प्रकट होना। उससे मरुत-अणुओं (atoms and molecules) की सृष्टि, उनसे वस्तुओं की उत्पत्ति और फिर प्राणी-सृष्टि। इस सृष्टि में तीन तत्त्व पृथिवी से प्राप्त होते हैं और तीन तत्त्व सूर्य से। यह सब हम वर्णन कर चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य

: १ :

मनुष्य क्या है ? वह कैसे इस सृष्टि पर उत्पन्न हुआ और उसका क्रिया-कलाप क्या है ? वह किस कारण-वश कार्य करता है ? कार्य करने के लिए उसने कौन-कौन-से साधन एकत्रित कर लिये हैं और क्या कर रहा है ? मनुष्य पर विचार करते ही ये सब और अनेक अन्य प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं।

सब देशों के दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। अनेक विचार प्रस्तुत किए गए हैं और फिर उन विचारों की पुष्टि में अनेक युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। विचारों की पुष्टि के लिए प्रमाण भी एकत्रित करने का यत्न किया गया है।

भारत के प्राचीन वाङ्मय में भी जगत् और उसमें प्राणी-सृष्टि के प्रश्न पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। अर्वाचीन भारतीय दार्शनिक तो प्रायः योरुप के दार्शनिकों की परिपाटी का अनुसरण ही करते हैं। अत: अर्वाचीन विचार का ज्ञान तो योरुपीय दार्शनिकों के अध्ययन से ही ज्ञात हो जाएगा। हम प्राचीन भारतीय विचार और अर्वाचीन योरुपीय विचार, दोनों दृष्टियों से मनुष्य-प्राणी की मीमांसा प्रस्तुत करेंगे।

जगत् में सब पदार्थों को, सर्वप्रथम दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है— जड़ पदार्थ और जीव पदार्थ। जड़ और जीव में भेद स्पष्ट दिखाई देता है। जड़ पदार्थ चेतना-रहित होते हैं। जीव पदार्थ चेतना-युक्त होते हैं। न्यायदर्शन में चेतना के लक्षण लिखे हैं—सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न।

न्यायदर्शन में चेतना और आत्मा का अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। इस कारण ये लक्षण आत्मा के भी माने गए हैं।

वर्तमान विज्ञान में भी जड़ पदार्थ तथा जीवधारियों में पृथक्ता का वर्णन किया गया है। प्राणीशास्त्र में प्राणी उनको माना है, जो (१) भोजन ग्रहण कर उसे अपने शरीर का अंग बना लेते हैं; (२) अपने समान सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं; तथा (३) अपनी सुरक्षा में यत्नशील रहते हैं।

भारतीय दर्शनशास्त्र में और अर्वाचीन विज्ञान में जीवित पदार्थ के लक्षणों में परस्पर अन्तर है। यहाँ हम दोनों द्वारा बताए लक्षणों में गुण-दोष न बताकर यही प्रकट करना चाहते हैं कि प्राचीन अथवा अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान जगत् के पदार्थों को दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह देखा गया है कि जीवित पदार्थ ही प्राणी का निर्माण कर सकता है। जड़ पदार्थ से प्राणी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिक जीवन के इस रहस्य को समझने का यत्न कर रहे हैं। इस रहस्य को समझकर वे जड़-पदार्थ से जीवधारी उत्पन्न करने का यत्न करना चाहते हैं। अभी तक वे इस रहस्य को जान नहीं सके और जड़ से चेतन की उत्पति बिना जीवनधारी की सहायता के नहीं कर सके।

भारतीय मत यह है कि जब शरीर का निर्माण वैसा किया जा सकेगा, जैसा एक जीवधारी रज और वीर्य के संयोग से कर सकता है, तब आत्मा उस शरीर में आकर निवास कर लेगा। आत्मा के वैसे शरीर में निवास करने पर ही जीव अर्थात् प्राणी की सृष्टि पूर्ण होगी। आधुनिक वैज्ञानिक एक प्राणी का निर्माण जड़ पदार्थ से नहीं कर सका। कारण यह है कि उस बीज का निर्माण करने में अभी तक वह अशक्त सिद्ध हुआ है, जैसा बीज प्राणी अपने जीवित शरीर से निर्माण करने की शक्ति रखता है।

भारतीय मतानुसार बीज का निर्माण आत्मा और परमात्मा की संयुक्त शक्ति के बिना नहीं हो सकता और ईश्वरीय विधान से इस पृथिवी पर प्राणी की उत्पति के लिए बीज का निर्माण रज और वीर्य के संयोग की प्रक्रिया से ही सम्भव है।

वर्तमान युग के वैज्ञानक बीज का निर्माण अपनी विधि से करना चाहते हैं। भारतीय मत है कि यदि वे ऐसा कर भी सकें, तो भी उसमें आत्मा के निवास के बिना वह बीज प्राणी नहीं बन सकेगा। दूसरे शब्दों में, उसमें वे लक्षण उत्पन्न नहीं होंगे जो न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में जीवधारी के वर्णन किए हैं अथवा जो आज का वैज्ञानिक अपने प्राणी-शास्त्र में जीवित पदार्थ के लक्षण बताता है।

जैसा कि हम लिख चुके हैं, हमारा केवल इतना बताने से प्रयोजन है कि प्राणी जड़ पदार्थ से भिन्न है और जड़ पदार्थ प्राणी में बदला नहीं जा सकता। दोनों भिन्न-भिन्न श्रेणी के पदार्थ हैं।

प्राणियों में भी अनेक श्रेणियाँ हैं। उन सब में वे गुण पाए जाते हैं जिनका उल्लेख न्याय, वैशेषिक अथवा आज का प्राणीशास्त्र करता है। एक श्रेणी दूसरी श्रेणी से भी भिन्न है। मुख्य रूप में दो श्रेणियाँ हैं—स्थावर तथा जंगम। स्थावर वे हैं, जो एक स्थान पर स्थिर रहते हैं। इनको वनस्पति-जगत् कहते हैं। जंगम उनको कहते हैं जो एक स्थान पर स्थिर नहीं, वरंच चलते-फिरते रहते हैं। इनको जन्तु कहते हैं।

मनुष्य, जीवित पदार्थ होने से यह जन्तु है।

जन्तुओं में भी अनेक प्रकार हैं। इनको जातियाँ कहते हैं। यूँ तो वनस्पतियों में भी जातियाँ हैं। जातियों का सम्बन्ध योनि अर्थात् उनके उद्गम-स्थान से है। एक प्रकार की योनि में उसी प्रकार की योनि रखनेवाले जन्तु उत्पन्न होते हैं। बन्दर की योनि से बन्दर और रीछ की योनि से रीछ ही उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य की योनि से मनुष्य ही उत्पन्न होता है।

आज के वैज्ञानिक न केवल यह कहते हैं कि जड़ से चेतन पदार्थ बने हैं, वरंच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका तो कहना है कि चेतन पदार्थ भी आरम्भ में एक ही प्रकार के थे और धीरे-धीरे उनमें भेद होते-होते आज जन्तुओं में अनेक जातियाँ दिखाई देने लगी हैं। मनुष्य भी आदिजन्तु अमीबा की ही सन्तान है।

आज के वैज्ञानिकों का जड़ से ही चेतन-निर्माण अभी कल्पना-क्षेत्र की बात ही है। जड़वादी दार्शनिकों ने बहुत लम्बी-लम्बी कल्पना की उड़ाने लगाई हैं, परन्तु ये अभी कल्पना की उड़ान मात्र ही हैं।

इसी प्रकार भारतीय अद्वैतवादियों का यह मत कि जगत् का आदिपदार्थ एक परमात्मा ही है, यह भी एक वाद मात्र है। यह अभी एक असिद्ध विचार है। सत्य क्या है, कहना कठिन है, परन्तु युक्ति यह मानती है कि प्रकृति और आत्म-तत्त्व दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और जहाँ दोनों में संयोग हुआ है, वहाँ जीवन के लक्षण जैसे वैशेषिक तथा न्याय-दर्शन में वर्णन किए हैं, प्रकट हो जाते हैं।

भारतीय वाङ्मय में दो प्रकार के आत्म-तत्त्व माने हैं। वेद में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥[1]

श्वेताश्वतर-उपनिषद् में भी लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥[2]

ऋग्वेद में आत्मा और परमात्मा को प्रकृतिरूप वृक्ष पर बैठे हुए बताया है। आत्मा उस वृक्ष (प्रकृति) के फल खाता (भोगता) है और परमात्मा साक्षी मात्र है

उपनिषद् में बताया है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अज्ञ है। ईश्वर सर्वसमर्थ है और जीव असमर्थ है। ये दोनों अजन्मा अर्थात् अनादि हैं। एक अजन्मा प्रकृति है। वह प्रकृति जीव के लिए भोग्य सामग्री है। विश्वरूप आत्मा (परमात्मा) तो अनन्ता और अकर्ता है। जब कोई इन तीनों को ब्रह्म (महान्) मानता है, वह (ज्ञानवान्) हो जाता है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शास्त्र मानता है कि एक प्राणी में तीन तत्त्व विद्यमान होते हैं—प्रकृति, जीव और परमात्मा। परमात्मा तो सर्वव्यापक है, परन्तु आत्मा एक प्राणी में ही व्यक्त होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानता। वास्तव में यह (प्राणी) विज्ञान का विषय भी नहीं है। विज्ञान तो अभी जड़ पदार्थों के विश्लेषण में लगा है। इसकी पहुँच चेतना के क्षेत्र तक नहीं हुई। पहुँच हो भी जाए, तो भी यह दर्शन को पार नहीं कर सकती।

एक अंग्रेज लेखक विल ड्यूराँ (Will Durant) अपनी पुस्तक The Story of Philosophy के प्राक्कथन में लिखते हैं— Science gives us knowledge but only philosophy can give us wisdom.

---

१. ऋ० १-१६४-२०;
२. श्वे० १-९;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'साइंस पदार्थों का ज्ञान करा सकती है, परन्तु बुद्धि की प्राप्ति तो दर्शन द्वारा ही हो सकती है।' इसका अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिक परीक्षण वस्तुओं का ज्ञान करा सकते हैं, परन्तु उसमें क्यों का उत्तर विज्ञान नहीं दे सकता। इसके लिए दर्शनशास्त्र ही सहायक होगा। यह उत्तर दार्शनिक देगा।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के योरुपीय दार्शनिक तत्कालीन वैज्ञानिकों के आश्रय अपना दर्शनशास्त्र चलाने लगे। उनके विचार की सीमा वैज्ञानिकों ने निश्चित की थी और परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन दार्शनिक पंगु हो नास्तिक बन गए।

सुकरात ने अपने 'दर्शन' का आधार विज्ञान नहीं बनाया था। उससे पहले भी यूनान में कई दार्शनिक हो चुके थे—थेल्ज, हरक्लिप्टस तथा परमेनाईडीस इत्यादि। वे प्रायः बाह्य पदार्थों, अर्थात् प्रकृति और नापी-तोली जा सकने वाली वस्तुओं के विषय पर ही लिखते तथा कहते रहे। परन्तु सुकरात ने कहा—That is very good....but there is an infinitely worthier subject for philosophers that all these trees and stones and even all those stars, there is the mind of man. What is man and what can he become?

'यह सब-कुछ ठीक है...परन्तु इनसे कहीं अधिक योग्यतर विषय दार्शनिकों के विचार के लिए हैं। इन पेड़ों, पत्थरों और उन सब तारागणों से भी अधिक उपयुक्त विषय है मनुष्य का मन। मनुष्य क्या है और यह क्या बन सकता है?'

इस प्रकार दृश्य संसार के विषय में विचार करने की अपेक्षा सुकरात मानव-आत्मा के विषय में जानने का यत्न करता रहा था।

योरुप के सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक स्पिनोज़ा, वाल्टेयर, रूसो, हर्बर्ट स्पैन्सर, फ्रैडरिक, नीज्शे, सब-के-सब तत्कालीन विज्ञान से अपने विचारों की सीमा बाँधते थे। इस कारण ये प्रायः मनुष्य और मानव-समाज के बाहरी रूप के विषय में ही विचार कर सके थे।

इनके विपरीत कठोपनिषद् के नचिकेता कहते हैं—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो!
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ (कठ० १-१-२९)

'हे महाराज! मरने के पश्चात् जीव रहता है या नहीं रहता? मुझे बताइए कि महान् परलोक क्या है? मुझको अन्य कुछ नहीं चाहिए।'

इससे पूर्व यमराज द्वारा दिया गया सांसारिक वैभव, पुत्र, कलत्र, धन, दौलत सब-कुछ वह अस्वीकार कर चुका था। उसने अपनी अभिलाषा आत्मतत्त्व के विषय में जानने की ही प्रकट की।

कहने का अभिप्राय यह है कि दर्शन का स्थान विज्ञान अर्थात् निरीक्षण से प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान को पार करके है, न कि उसके अन्तर्गत।

यही कारण है कि जब विज्ञान आत्मतत्त्व के विषय में कुछ नहीं जान सका तो उस विज्ञान की बँधी सीमा में रहनेवाले दार्शनिक नास्तिक हो गए। वे पूर्ण संसार की घटनाओं को पार्थिव पदार्थों के आधार पर वर्णन करने लगे। इन्होंने प्राणी की चेतनता को भी, गंधक के तेजाब से हाइड्रोजन उत्पन्न करनेवालों की भाँति तेजाब और क्षारों का मिश्रण मान लिया।

मनुष्य एक प्राणी है। प्राणियों में वह जन्तु है। जन्तुओं में वह सर्वश्रेष्ठ है।

मनुष्य की उत्पत्ति

वैज्ञानिक किसी भी बात को तब तक मानने के लिए तैयार नहीं होता, जब तक वह उसको अपनी प्रयोगशाला में बनाकर न देख ले।

परन्तु डार्विन के विकासवाद को वैज्ञानिक बिना किसी प्रकार का परीक्षण किए कैसे मान बैठे, यह एक न समझ में आनेवाली बात है। डार्विन ने तो केवल यह कहा था कि बहुत-से जीव-जन्तुओं के अध्ययन के उपरान्त यह समझ में आता है कि सब प्राणी एक आदि-प्राणी की सन्तान हैं। यह एक वैज्ञानिक का कथन नहीं था, प्रत्युत एक दार्शनिक का कथन था। दार्शनिक के कथन की परीक्षा युक्ति से ही की जा सकती है। दार्शनिकों की बात दार्शनिक ही सिद्ध अथवा असिद्ध कर सकते हैं। इसी कारण विस्मय होता है कि इसको वैज्ञानिक तथ्य कैसे मान लिया गया?

डार्विन का विकासवाद, जड़ से चेतन प्राणी के निर्माण को प्रयोगशाला में सिद्ध करना तो दूर रहा, युक्ति में भी ठहर नहीं सका। प्रथम जीव कैसे बना अथवा कहाँ से आया, विकासवाद नहीं बता सका। अतः अधिक से अधिक हम विकासवाद को एक लँगड़ावाद ही कह सकते हैं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य तो है ही नहीं।

इसके विपरीत दर्शन-शास्त्र विशेष रूप में भारतीय दर्शन-शास्त्र पृथिवी पर प्राणी की उत्पत्ति का वर्णन अधिक स्पष्ट और विचार-युक्त ढंग से करते हैं। भारतीय शास्त्र इस पृथिवी पर मानव-सृष्टि तथा पशु-पक्षी इत्यादि की सृष्टि का एक विशद वृत्तान्त बताते हैं।

यह ठीक है कि भारतीय विवेचना का आधार आस्तिकवाद है, अर्थात् भारतीय दर्शन-शास्त्र यह मानता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है। उसके आधार पर ही सृष्टि, जड़ और चेतन, की उत्पत्ति का वर्णन भारतीय शास्त्र करता है।

आत्म-तत्त्व को मानकर भारतीय दर्शन-शास्त्र सृष्टि की उत्पत्ति की एक प्रक्रिया बताते हैं। वह प्रक्रिया डार्विन के विकासवाद से अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

वेदों में संक्षिप्त रूप में तथा अलंकार बाँधकर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि मीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।[1]

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

अग्निरूपी परमात्मा जो जगत्‌रूपी सृष्टि के निर्माण से पहले भी था, वह यज्ञ कर रहा है, जिससे सबका कल्याण होता है।

इसी भाव को श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥[2]

परमात्मा एक ही है। वह इन लोकों को बनाता है और उन पर शासन करता है। सबके भीतर वह ठहरा हुआ है। समय पर वह विश्व का निर्माण करता है और फिर प्रलयकाल में सबको अपने में समा लेता है।

इससे कुछ अधिक व्याख्या में ऋग्वेद के मंत्र १-९५-१ में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में लिखा है। उसमें अग्नि (शक्ति) जिसको परमात्मा का निर्माता-रूप माना है, दो प्रकार की मानी है। ये अग्नियाँ दिन और रात की भाँति एक-दूसरे के बालक का पोषण करती हैं। परमात्मा की कर्तृ-शक्ति दो रूपों में प्रकट होकर दोनों द्वारा बन रही सृष्टि का पालन करती है।

इसकी तुलना वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन से की जाए तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाएँगे।

इससे भी अधिक स्पष्ट वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है। उपनिषत्कार कहता है—

ब्रह्म दिन के उषाकाल (सृष्टि का आरम्भ) में परमात्मा का यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति का कार्य) आरम्भ हुआ। प्रकृति ने आत्मवान् होने की इच्छा की; इससे प्रकृति में गति उत्पन्न हुई। उस गति से समुद्र की भाँति विशाल करोड़ों-पद्मों मीलों में आपः (महत्) उत्पन्न हुआ। उसमें पुनः उसी आत्मा के बल से चक्राकार गति उत्पन्न हुई और हिरण्यगर्भ (नैबुला) बना। इससे सूर्य तथा नक्षत्र बने।[3]

नक्षत्रों में धर्म की व्यवस्था बनी (नियम से कार्य करने का चलन हुआ) तो उन पर सृष्टि हुई।[4]

इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति का अतिसंक्षिप्त परन्तु स्पष्ट विवरण वेद आदि ग्रन्थों में मिलता है। इसकी अधिक व्याख्या तो पुराणादि ग्रन्थों में पाई जाती है।

उदाहरण के रूप में पृथिवी पर जब देवता धर्म-बद्ध होकर (अर्थात् प्राकृतिक दिव्य पदार्थ, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, वरुण इत्यादि नियमपूर्वक) कार्य करने लगे तो यहाँ पर एक विराट् पुरुष बना। परमाणुओं की चक्राकार गति से एक चलायमान बृहत् अण्डाकार

---

१. ऋ० १-१-१
२. श्वे० ३-२
३. बृहदा० अध्याय १, ब्राह्मण २
४. वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोला बना। अपनी चक्राकार गति से उत्पन्न अभिकेंद्रीय बल से वह गोला टूट गया और उसमें से अनेकों प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए।

जब सब प्राकृतिक शक्तियाँ और पदार्थ जीवन को चलाने योग्य हो गए, तब परमात्मा की शक्ति से और आत्माओं के संयोग से गर्भपिण्ड की भाँति एक महान् अण्डाकार विराट् पुरुष बना। वह बड़ा हुआ और जगत् के सब पदार्थों की भाँति चक्राकार गति में घूमने लगा। इस गति से उत्पन्न अभिकेन्द्रीय बल से वह अण्डाकार विराट् पुरुष फूटा और उससे जीव-जन्तु उत्पन्न हुए।[1]

यह भी सम्भव है कि उस समय की पृथिवी पर की अवस्था में एक के स्थान अनेक विराट् पुरुष बने हों। उल्लेखनीय बात इस प्रक्रिया में यह है—

१—विराट् पुरुष के फूटने पर सब प्राणी एकदम बने।

२—सब प्राणी पूर्ण बने, अर्थात् उनके सब अंग-प्रत्यंग पूर्ण थे।

३—प्रत्येक प्राणी में परमात्मा की शक्ति का वास था। प्रत्येक में आत्मा की उपस्थिति थी और प्रत्येक का शारीरिक गठन पूर्ण था।

४—ये जीव-जन्तु आदिकाल में भी वैसे ही थे, जैसे आज हैं। अन्तर था इनकी बुद्धि में विकास का। फिर उस विकास से उत्पन्न सुख-सामग्री पीछे हुई। इसके लिए भी कुछ आत्माएँ पूर्वकल्प के श्रेष्ठ कर्मफलों से इस विराट् पुरुष से उत्पन्न शरीरों में आईं और वे अपने पूर्वकल्प के संचित ज्ञान से वेदादि शास्त्र कहने लगीं। यही ज्ञान का स्रोत मनुष्य को उन्नति करने में सहायक हुआ।

इस ज्ञान से अन्य जीव-जन्तु (पशु-पक्षी इत्यादि) तो लाभ नहीं उठा सके, परन्तु मनुष्य की विकासशील बुद्धि इससे लाभान्वित हुई।

परमात्मा की कर्तृ-शक्ति, जिसको वेदों में अग्नि नाम से स्मरण किया है, पुराणादि ग्रन्थों में उसको ब्रह्म, प्रजापति इत्यादि नामों से लिखा गया है, उसने सब-कुछ बनाया, जिसमें प्राणी-सृष्टि और मनुष्य भी है।

जब मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तु बन गए तो मनुष्य अपनी बुद्धि के आश्रय और ऋषियों द्वारा बताए ज्ञान से लाभ उठा, इस पृथिवी पर सुखपूर्वक रहने लगा।

योरुप के अर्वाचीन दार्शनिक जो इस काल की वैज्ञानिक उन्नति से चकाचौंध हो, भौतिकवाद के पीछे चल पड़े हैं, वे सृष्टि-उत्पत्ति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस काल के वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के गुरु डार्विन हुए हैं। ये महानुभाव दक्षिण अमरीका के जंगलों में तथा कुछ गरम जलवायु वाले द्वीपों में घूमते हुए यह देख चकित रह गए कि जीव-जन्तु एक क्रमबद्ध शृंखला में खड़े किए जा सकते हैं। इस शृंखला के एक किनारे पर सरलतम जीवन का जीव (अमीबा) होगा और दूसरे किनारे पर विषमतम जीवन का प्राणी (मनुष्य) होगा। इन दोनों के बीच शेष सब जीव एक शृंखला में इकट्ठे किए जा सकते हैं।

---

१. भा० पु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डार्विन का उक्त कथन इस सृष्टि पर वस्तु-स्थिति का वर्णन करता है। परन्तु इससे अगला कथन कि भूख-प्यास, शीत-गर्मी तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं ने प्राणियों में परिवर्तन और भेद-भाव उत्पन्न किए हैं, सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के रूप में उसने लिखा है कि स्थल पर जब बड़े-बड़े जन्तु छोटों को खाने लगे तो छोटे जन्तुओं में पंख बन गए, और वे जीवन के भय से उड़कर बच गए। ये पक्षी बने। कुछ अन्य जन्तु जल में घुसकर जीवन बचा सके और वे जलचर बन गए।

यह और इसी सम्बन्ध के अन्य कथन कल्पना मात्र हैं। इनका प्रमाण कुछ नहीं तथा यह बात होती हुई कहीं न तो देखी गई है, न ही इसके प्रमाण मिलते हैं।

कई जन्तुओं की जातियाँ विलुप्त हो गई हैं और उनके कंकाल देखे गए कहे जाते हैं। जो जन्तु प्राकृतिक वातावरण को सहन करने की शक्ति रखते थे, वे बच गए और पृथिवी पर इस समय दिखाई देते हैं। यह सब ठीक है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सब जीव की सन्तान हैं।

साथ ही जीवन, अभिप्राय यह कि चेतना कैसे बनी? इस रहस्य का उद्घाटन ये वैज्ञानिक नहीं कर सके।

ऐसी अधूरी बात कहनेवाले वैज्ञानिकों द्वारा निश्चित की गई सीमा में विचार करने वाले दार्शनिक हर्बट स्पैन्सर, हेगेल इत्यादि भी जीव-सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं कर सके।

एक ओर परमात्मा तथा आत्मा (आत्म-तत्त्व) के अस्तित्व में विश्वास रखनेवाले तो सृष्टि पर जीव-सृष्टि की एक प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। उसकी एक संक्षिप्त-सी व्याख्या हमने ऊपर कर दी है।

आज के वैज्ञानिक भारतीय दार्शनिकों की बात को नहीं मानते। यह इसलिए कि वे अपने किसी उपकरण से बीज बनाने में आत्मा के सहयोग को देख नहीं सके। वे शरीर का सहयोग तो देखते हैं, परन्तु शरीर में आत्मा की उपस्थिति को न मानने से वे शरीर के सहयोग के साथ-साथ आत्मा के सहयोग को नहीं मानते।

परन्तु वे जीवित शरीर के बिना किसी भी जड़ पदार्थ से प्राणी का बीज निर्माण नहीं कर सके। इस अवस्था में भी वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले दार्शनिकों की बात को स्वीकार न कर केवल हठ-धर्मी ही प्रकट कर रहे हैं।

जड़वादी, अर्थात् वे लोग जो जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानते हैं, इस उत्पत्ति को न तो सिद्ध करके दिखा सके हैं, न ही उसकी किसी प्रक्रिया का युक्ति-युक्त वर्णन उपस्थित कर सके हैं।

जड़वादी आधारभूत (आत्म-तत्त्व की उपस्थिति) को न मानकर सब-कुछ अनर्गल ही वर्णन करते हैं। उनसे वर्णित जड़ पदार्थों की बातें तो ठीक सिद्ध हो रही हैं, परन्तु जो कुछ भी उन्होंने चेतन जगत् के विषय में कहा तथा लिखा है, वह न केवल असत्य सिद्ध हुआ है वरंच भ्रमोत्पादक है और भू-मंडल में अव्यवस्था तथा दुःख की सृष्टि करने वाला है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणी-जगत् की सर्वोत्कृष्ट विभूति मनुष्य है और मनुष्य की उत्पत्ति, अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण आदिसृष्टि में ही हुई थी। प्रथम मनुष्य वस्त्रविहीन था और बिना घर के था; अन्य सब प्राणियों की भाँति यह जंगलों में तथा सम जलवायुवाले स्थानों पर रहता था।

मनुष्यों में कुछ ऋषियों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने मनुष्यों को जीवन के ढंग सिखाए। साथ ही धर्मपूर्वक रहना सिखाया।

मनुष्य बुद्धिशील प्राणी होने के कारण वस्तुओं के विषय में सीखने लगा। बुद्धिशील से हमारा अभिप्राय यह है कि वह ऐसी बुद्धि रखता था और रखता है जिसमें विकास सम्भव है। ऋषियों के उपदेश ने मनुष्यों को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का ढंग सिखाया।

ये ऋषि ब्रह्म (परमात्मा) के मानस पुत्र कहाए और इन द्वारा दिए गए उपदेश वेद कहाए। मानस पुत्र से अभिप्राय है परमात्मा के ज्ञान से परिचित, अर्थात् उस ज्ञान से परिचित जो परमात्मा मनुष्य को देना चाहता था।

एक झलक उस ज्ञान की भी हम दे देना चाहते हैं जो इन ऋषियों ने मनुष्य-मात्र को दिया।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्॥[1]

[सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखनेवाला] (अग्निः) अग्निस्वरूप परमेश्वर (होता) सब पदार्थों का देनेवाला है और सबको अपने में लेनेवाला है; (कविक्रतुः) ज्ञानवान् निर्माता (सत्यः) है और (चित्र श्रवस्तमः) अद्भुत उपदेश को देनेवाला है। (देवः) वे देनेवाले (देवेभिः) विद्वान् (आगमत्) हमको प्राप्त हों।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये।[2]

(वायो) पूर्ण जगत् में गति उत्पन्न करनेवाले परमात्मा, (तव) तेरी (धेना) वेदवाणी (प्रपृञ्चती) पूर्ण ज्ञान देनेवाली है। यह (दाशुषे) दूसरों को ज्ञान देनेवालों को (जिगाति) प्राप्त होती है। और वह (सोम-पीतये) पदार्थों का सार और ज्ञान (उरूची) कराती है।

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिरः॥[3]

(अश्विना) हे स्त्री-पुरुषो, (पुरदंससा) तुम बहुत प्रकार के कर्म करने में कुशल हो; (नरा) सब जीव-जन्तुओं में नायक अर्थात् श्रेष्ठ हो; (धिष्ण्या) शत्रुओं अर्थात् विरोधियों का दमन करने में योग्य हो, (शवीरिया धिया) ज्ञानयुक्त बुद्धि (गिरः वनतम्) तथा वाणियों का प्रयोग करो।

---

१. ऋ० १-१-५;
२. ऋ० १-२-३
३. ऋ० १-३-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार का उपदेश ऋषि लोग उस समय उत्पन्न हुए मानवों को देते थे। इन उपदेशों से मनुष्यों की बुद्धि में विकास हुआ। इस विकास में लाखों वर्ष नहीं लगे। बुद्धि के विकास में कुछ वर्षों की ही आवश्यकता होती है। यह हम इस युग में भी देख रहे हैं। बालक कुछ ही वर्षों में सज्ञान पुरुष बन जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति भी जो बुद्धि का ही खेल है, एक-दो शताब्दियों में ही सम्भव हुई है।

यह ठीक है कि उस प्राचीनकाल में बुद्धि का विकास एक ऐसी दिशा में हुआ था, जो आजकल के ज्ञान की दिशा नहीं, परन्तु जिस दिशा में हुआ, वह अद्‌भुत था। मानवता का ज्ञान अर्थात् मनुष्य में इतर जीव-जन्तुओं से विशेषता का ज्ञान मनुष्य को आज से भी अधिक था।

इस प्रकार डार्विन के विकासवाद को हमने चुनौती दी है। हमारा यह कहना है कि यह विकासवाद वैज्ञानिक तथ्य नहीं है। यह एक दार्शनिक की कल्पना-मात्र है। इसका आधार जड़वाद है। दूसरी ओर भारतीय विचारधारा का आधार है आत्म-तत्त्व की मान्यता। आत्म-तत्व को मानकर बीज की उत्पत्ति की कल्पना अधिक सफल हुई है। भारतीय विद्वानों का कहना है कि चेतन की मीमांसा जड़ पदार्थों की भाँति नहीं की जा सकती। उन पर परीक्षण भी प्रयोगशाला में नहीं किए जा सकते। कारण यह कि यह आत्म-तत्त्व इन्द्रियों का विषय नहीं। इस पर भी इसकी उपस्थिति अकाट्य युक्तियों से सिद्ध हो सकती है।

आत्म-तत्त्व

आज के वैज्ञानिक तथा सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक तो चेतन और जड़ में भेद का कारण वर्णन न कर सके। वे यह तो मानते हैं कि जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति हुई है और होती है, परन्तु वे इसमें कोई कारण नहीं बता सके कि क्यों चेतन माता-पिता के सहयोग के बिना जड़ चेतन में बदल नहीं सकता? अतः उनके आत्म-तत्त्व के मानने अथवा न मानने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

इस पर भी यह मानना पड़ेगा कि वर्तमान युग में भी जिस-जिस वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ने जड़-चेतन की समस्या पर विचार किया है, वह इसी परिणाम पर पहुँचा है कि जड़ के अतिरिक्त भी एक सत्ता है और उसके सहयोग से ही जीव की उत्पत्ति सम्भव हुई है।

उदाहरण के रूप में एक विख्यात वैज्ञानिक, *सर ऑलिवर लॉज* एक पुस्तक 'साइँस एंड रिलिजन में लिखते हैं—

Once you realise that consciousness is something greater, something outside the particular mechanism which it makes use of, you realise that the survival of existance is natural, is the simplest thing. It is unreasonable that the soul should jump out of existance when the body is destroyed. We ourselves are not limited to the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

few years that we live on this earth. We shall go on without it. We shall certainly continue to exist. We shall certainly survive. Why do I say that? I say it on definite scientific grounds.[1]

इस कथन का अर्थ इस प्रकार है—'एक बार आप इसको देखें कि चेतनता उस मशीन से जो इसका प्रयोग करती है, बड़ी है और इसके अतिरिक्त है, तो आप समझ सकेंगे कि जीवन का चलता रहना एक स्वयं-सिद्ध और एक सरल-सी बात है। यह अयुक्तिसंगत है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा एकाएक अस्तित्वहीन हो जाए। कुछ वर्ष जो हम इस पृथिवी पर रहते हैं, हमारे जीवन की सीमा नहीं। हम इसके (पृथिवी के) बिना भी जिएँगे। निश्चय ही हम (जीवन के उपरान्त भी) रहेंगे और मरने के पीछे भी होंगे। मैं यह क्यों कहता हूँ? मेरे कहने का आधार स्पष्ट रूप में वैज्ञानिक है।'

यह पुस्तक 'साइँस एण्ड रिलिजन' लंदन में सात वैज्ञानिकों की निरन्तर सात दिन तक हुई कॉन्फ्रेंस का परिणाम थी। ये सातों के सातों वैज्ञानिक अपने काल के अति प्रसिद्ध विद्वान् थे। कॉन्फ्रेंस १९१४ में हुई थी।

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर लिखा है—

The old Materialistic school—Heckel's School, if you like—which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated.[1]

'हैकल जैसे जड़वादियों का भौतिकवाद अप्रमाणित और युग से दूर हो चुका है।'

पुनः लिखा है—

Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circle to be an agnostic. But today a man who glories in his ignorance is blamed and lionised. The attitude is quite out of fashion. Thanks to the labours of Science.[2]

'कुछ ही काल पहले वैज्ञानिकों में नस्तिक होना फ़ैशन माना जाता था, परन्तु आज एक व्यक्ति जो इस प्रकार की अज्ञानता में गर्व करता है, निन्दनीय माना जाता है। हमको विज्ञान की उन्नति का धन्यवाद करना चाहिए।'

अन्य भी कई योरुपीय विद्वान् हुए हैं जो इस विषय में आत्म-तत्त्व की उपस्थिति मानते हैं।

एक अन्य पुस्तक The Nature and Origin of Life में विज्ञ लेखक लिखता है—

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a

1. Science & Religion, Page 24
2. Ibid, Page 63
3. Ibid. PP 85-86.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

teaching of science as the law of gravitation.[1]

'जड़ पदार्थ किसी चेतन पदार्थ के प्रभाव में आए बिना चेतन नहीं हो सकता। मुझको यह नियम वैसा ही वैज्ञानिक प्रतीत होता है, जैसा भू-आकर्षण का नियम।'

परन्तु आत्म-तत्त्व के विषय में भारतीय दार्शनिक सब पर बाज़ी ले गए हैं। आत्म-तत्त्व की सिद्धि के लिए वेदादि शास्त्रों के प्रमाण तो उनको ही दिए जा सकते हैं जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान पहले ही मानते हों। परन्तु जो किसी भी ईश्वरीय ज्ञान को मानते नहीं, उनके समक्ष ही इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता थी। जो ईश्वर को ही नहीं मानते वे ईश्वरीय ज्ञान को क्या मानेंगे? अतः बिना वेदशास्त्र के प्रमाण के आत्म-तत्त्व की सिद्धि भारतीय दार्शनिकों ने की है।

वेदान्तदर्शन और सांख्यदर्शन इस विषय में उल्लेखनीय हैं। यहाँ हम यह बता दें तो ठीक होगा कि भारतीय वाङ्मय में छः दर्शन हैं और ऊपरी सतह पर ये छहों दर्शन भिन्न-भिन्न और परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं, वास्तव में ये ऐसे हैं नहीं। ये भिन्न-भिन्न विषयों पर दार्शनिक विवेचनाएँ हैं। अपने-अपने विषय के प्रतिपादन के इनके अपने-अपने ढंग हैं। इस कारण किसी एक दर्शनशास्त्र में दूसरे के विषय का उल्लेख नहीं है और प्रत्येक की अपनी-अपनी युक्ति है।

आत्म-तत्त्व को वेदान्तदर्शन ने सिद्ध किया है। जो युक्तियाँ दर्शनकार ने दी हैं, उनमें से कुछ हम यहाँ लिखना चाहते हैं। लिखा है—

जन्माद्यस्य यतः।[2]

'जिससे जन्मादि होता है।' जन्मादि से अभिप्राय है बनना-बिगड़ना। हम नित्य देखते हैं कि ब्रह्माण्ड में वस्तुएँ बनती हैं और बिगड़ती हैं। इनको बनाने और बिगाड़ने वाला कोई होना चाहिए। अपने-आप न कुछ बन सकता है, न ही बिगड़ सकता है।

जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि एवं पृथिवी पर भी पेड़, पक्षी इत्यादि बनते हैं अथवा विनष्ट होते हैं। ऐसा स्वयमेव नहीं हो सकता। स्वयमेव कहीं होते नहीं देखा जाता। सृष्टि का नियम है कि बिना किसी करनेवाले के कोई कर्म होता नहीं। तब यह मानना पड़ेगा कि सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि को बनानेवाला कोई है। तारागण नष्ट होते दिखाई देते हैं। इनके नाश करनेवाला कोई होना चाहिए। पेड़ का बीज, प्राणी का बीज कौन बनाता है? यह अपने-आप नहीं बन सकता।

वैज्ञानिकों ने बीज का विश्लेषण कर इसमें मिले तत्त्वों को ढूँढ लिया है। फिर भी उन तत्त्वों को इकट्ठा करके रख दें तो ये बीज नहीं बन सकते। इसको बनानेवाला कोई है। वह परमात्मा है।

एक पत्थर का ढेला किसी स्थान पर रख दिया जाए तो वह स्वयमेव चल नहीं सकता; परन्तु पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, तारागण निरन्तर चल रहे हैं। इनको बनानेवाला कोई

1. Science & Religion, Page 173

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए। यह परमात्मा है।

यह है अभिप्राय, उक्त सूत्र का।

इसी प्रकार लिखा है—

शास्त्रयोनित्वात्—[1]

'जो शास्त्र की योनि है।' शास्त्र का अर्थ ज्ञान से है। जिससे ज्ञान मिलता है, वह परमात्मा है।

यह देखा गया है कि मनुष्य स्वयमेव ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति किससे हुई? वह परमात्मा है।

डार्विन इत्यादि दार्शनिक यह मानते हैं कि मनुष्य बार-बार भूलें करके ज्ञानी हुआ है। उनका सिद्धान्त है 'ट्रायल एण्ड ऐरर' अर्थात् 'भूलें कर-करके सबक सीखना'। यह उन्नति का मार्ग है।

परन्तु प्रश्न तो यही है कि सबक कौन सिखाता है? एक पत्थर के टुकड़े को अग्नि में फेंक दें। वह पत्थर का टुकड़ा गर्म होकर टूट-फूट जाता है। पुनः आग जलने पर वह पुनः अग्नि में डाला जा सकता है। परन्तु दूध का जला मनुष्य, छाछ भी फूँक-फूँककर पीता है। तो मनुष्य अथवा प्राणी में एक बार दुर्घटना होने से सबक सीखनेवाला कौन है?

सूत्रकार कहता है कि वह आत्म-तत्त्व है। इस सूत्र का अर्थ है—ज्ञान जिससे पैदा होता है वह आत्म-तत्त्व है। मनुष्य अथवा कोई भी प्राणी बिना ईश्वर की सहायता के ज्ञानवान् नहीं हुआ, न ही हो सकता है।

एक 'सोशियॉलोजिस्ट' (समाजशास्त्री) का यह कहना है कि मनुष्य सबक सीखता है वातावरण से। मिस्टर आर० एम० मैकिवर और चार्ल्स एच० पेज अपनी पुस्तक 'सोसायटी' में लिखते हैं—

The growth of self, Study of the process in which the child develops the capacity for society furnishes us a second body of evidence of the fundamental unitwhole inter-relationship. The emergence of the capacity for social life is an aspect of the growth of selfhood, of personality. The child does not merely imitate the social usages of adults, as a parrot might pick up a language. He is cretainly imitative, but in the process of imitation his own social nature is gradually revealed.[2]

'स्वयमेव उन्नति करना—उस प्रक्रिया का अध्ययन जिससे एक बच्चा समाज में

---

१. ब्रह्मसूत्र १-१-३

2. P. 46 (1962)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने की योग्यता प्राप्त करता है, एक दूसरे प्रकार के प्रमाण उपस्थित करता है, जिससे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। सामाजिक जीवन की योग्यता का प्रस्फुटित होना स्वयमेव उन्नति करने के एक पक्ष का द्योतक है। बच्चा केवल बड़ों की नकल कर, एक तोते के किसी भाषा के सीख जाने की भाँति, सामाजिक व्यवहार ग्रहण ही नहीं कर लेता; वह निश्चय नकल तो करता है, परन्तु इस नकल करने की प्रक्रिया में उसकी अपनी सामाजिक प्रकृति भी प्रकट होती है।'

यह समाजशास्त्री दूसरे समाजशास्त्रियों से अधिक गम्भीर दृष्टि रखता है, परन्तु वह वास्तविक बात को तो छोड़ ही गया है। वास्तविक बात है एक बच्चे और जड़ पदार्थ में अन्तर की।

उक्त लेखक का यह कहना है कि बच्चा केवल यह नकल ही नहीं करता वरन् नकल करते-करते कुछ अपनी ओर से भी संयोजित करता है। यह ठीक है, परन्तु इससे भी अधिक यह है कि वह नकल भी क्यों करता है ? एक पत्थर का टुकड़ा किसी दूसरे पत्थर की नकल नहीं करता। तोता भी नकल करता है तो इसलिए कि उसमें आत्म-तत्त्व है।

तोते और मनुष्य में अन्तर है बुद्धि की सामर्थ्य का। तोते की बुद्धि केवल नकल करने की योग्यता रखती है। उसकी बुद्धि में अन्य इतर प्राणियों की भाँति बुद्धि का विकास नहीं हो सकता। मनुष्य के बालक की बुद्धि में विकास हो सकता है—यह अन्तर तो है। इस पर भी जहाँ तक आत्म-तत्त्व का प्रश्न है, वह सब प्राणियों में एक-समान कार्य करता हुआ देखा जाता है। आत्म-तत्त्व का कार्य है (कार्य करना) नकल करना अथवा नकल करते-करते अपनी ओर से संयोजित कार्य करना—यह आत्मा का काम है।

आरम्भ में ज्ञान परमात्मा ने दिया। यह ऋषियों द्वारा दिया गया। जैसे बालक अपने बड़ों की नकल करके सीखता है, वैसे आदि-मनुष्यों ने इन ऋषियों से सीखा। तब से आधारभूत ज्ञान की परम्परा चली आती है। उस परम्परा की नकल करते-करते नये बालक बड़ों की बातें सीखते हैं और फिर कुछ अपनी बुद्धि से उसमें जोड़-तोड़ भी करते रहते हैं। यह आत्म-तत्त्व के कारण ही है।

तत्तु समन्वयात्।[1]

'ब्रह्माण्ड में और पृथिवी पर भी वस्तुओं का समन्वय होता है।' कहीं कई-कई पदार्थ मिलकर नवीन पदार्थ बनते हैं। फिर सब पदार्थ एक-दूसरे से नियमबद्ध हो व्यवहार करते हैं। संसार में पदार्थ टूटते हैं और बनते हैं। जड़ पदार्थों में अपने-आप कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं होती। इसको करनेवाला जो है वह परमात्मा है।

सूर्य, चन्द्र, तारागण बनते हैं, टूटते हैं। ये सब एक नियमपूर्वक चलते हैं। इन जड़ पदार्थों में ऐसे समन्वय की सामर्थ्य किसी चेतन शक्ति के बिना सम्भव नहीं। इससे भी परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

१. ब्रह्मसूत्र १-१-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार—

ईक्षतेनाशब्दम् ।[1]

'इच्छा होती है, ऐसा कहा जाता है।' तो यह इच्छा कौन करता है?

और भी—

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ।[2]

'संयोग करना पुरुष (आत्म-तत्त्व) का काम है।' बात वही है जो वेदान्तदर्शन के "तत्तु समन्वयात्" में वर्णन की गयी हैं।

इस प्रकार आज से सहस्रों वर्ष पूर्व इन दार्शनिकों ने युक्तियों की भरमार कर दी थी। वे यह सिद्ध कर सके थे कि जड़ प्रकृति के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व इस जगत् में है, जो जड़ पदार्थों में गति, संयोग, वियोग और नियम से कार्य करने का विधान करता है और जो प्राणियों में चेतनता का कारण है।

उनकी युक्तियाँ अकाट्य हैं। वे किसी भी प्रमाण से अथवा परीक्षण से असिद्ध नहीं की जा सकीं। आत्म-तत्त्व इन्द्रियों का विषय न होने से देखने, सूँघने, सुनने, स्पर्श करने अथवा चखने से पता नहीं चलता। यह इतना सूक्ष्म है कि इसको इन्द्रियातीत कहना चाहिए। वैज्ञानिकों के सब परीक्षण इन्द्रियों के ही निरीक्षण में किये जाते हैं। अतः इस विषय में उनको अपने उपायों से सिद्ध न कर सकना इनके अस्तित्व को न मानने में कारण नहीं। यह आत्म-तत्त्व दर्शन का विषय है—उस दर्शन का, जो इन्द्रियों के निरीक्षण से आगे जाता है और वैज्ञानिकों से बँधी सीमा में अपने को सीमित नहीं रखता।

आत्मा-परमात्मा

वैज्ञानिक कहते हैं कि वे जब तक किसी बात को अपनी प्रयोगशाला में करके न देख लें, तब तक वे उसे मान नहीं सकते। परन्तु जो पदार्थ अतिसूक्ष्म हैं, उनको इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। हाँ, जिन पर परीक्षणों के परिणाम इन्द्रियगोचर होते हैं, उनको तो वे मान सकते हैं। उदाहरण के रूप में रेडियम के रासायनिक परमाणु (atoms) टूटते देखे नहीं जा सकते। परन्तु उनके टूटने से फोटोग्राफी के प्लेट पर प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार ऐटम बम से टूटनेवाले परमाणु टूटते समय इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। परन्तु उनके टूटने से उत्पन्न परिणाम गर्मी और प्रकाश, इन्द्रियगोचर हैं। इस कारण परमाणुओं के टूटने को माना गया है।

यही बात आत्म-तत्त्व के विषय में है। आत्म-तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं, परन्तु चेतन प्राणियों को दूसरे चेतन प्राणी निर्माण करते तो हम देखते हैं। बीज में माता-पिता की चेतनता जाते देखते हैं और बीज से प्राणी बनता है। यह भला आत्म-तत्त्व की उपस्थिति का सूचक क्यों नहीं? चेतनता से चेतनता उत्पन्न होती है। यद्यपि इस प्रक्रिया को

---

१ ब्रह्मसूत्र १-१-४

२. सां० द० १-१-६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियाँ जान नहीं सकतीं, परन्तु परिणाम सामने है और दृष्टिगोचर होता है। यह आत्म-तत्त्व के होने का प्रबल प्रमाण है।

इस स्थान पर एक विवाद यह उपस्थित होता है—जिस आत्म-तत्त्व से जगत् की रचना और विघटन होता है, क्या वह आत्म-तत्त्व ही प्राणियों की चेतनता में कारण है? अथवा आत्म-तत्त्व दो प्रकार के हैं? एक वह जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान है और उसका संचालन करता है, और दूसरा जो प्राणी में चेतनता उत्पन्न करता है?

जो आत्म-तत्त्व के अस्तित्व को ही नहीं मानते और सब-कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन, जड़ प्रकृति से ही बना मानते हैं, उनके लिए आत्म-तत्त्व एक प्रकार का है अथवा दो प्रकार का, यह प्रश्न है ही नहीं। परन्तु जब एक बार यह बात प्रमाणित कर दी गई कि आत्म-तत्त्व जड़ प्रकृति से एक पृथक् पदार्थ है, तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में सामने आता है कि जो आत्मा मनुष्य में है, क्या वही है जिसने सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि बनाये हैं और जो इनको चलाता तथा इनका विघटन करता है? अथवा वह और यह दोनों भिन्न-भिन्न हैं?

दोनों विचार के लोग विद्यमान हैं। वे लोग भी हैं जो यह मानते हैं कि आत्म-तत्त्व एक ही है, परन्तु कई कारणों से वह कहीं और किसी समय प्राणी के शरीर में कार्य करता है और कहीं और कभी संसार के निर्माण, संचालन और विघटन में कार्य करता है। जब वह प्राणी के शरीर में कार्य करता है तब आत्मा कहाता है, और जब वह जगत् की रचना, संचालन और प्रलय का कार्य करता है, वह परमात्मा कहाता है।

जो लोग आत्म-तत्त्व को एक ही मानते हैं, उनको भारतीय वाङ्मय में अद्वैतवादी कहा जाता है, और जो परमात्मा को आत्मा से भिन्न मानते हैं उनको द्वैतवादी कहा जाता है।

सबसे प्रथम यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं?

वेद में यह लिखा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥[1]

'ऋक् इत्यादि वेदों में प्रतिपादित किये गए अविनाशी सबसे उत्कृष्ट, सबके रक्षक परमेश्वर में, सब सूर्यादि लोक आश्रय पा रहे हैं। जो उसको नहीं जानता, उसको वेद पढ़ने का कुछ लाभ नहीं। उसको जानना ही परमात्मा की उपासना करना है।'

इसी प्रकार वेद में अनेक स्थानों पर परमात्मा और उसके विषय में लिखा है।

यजुर्वेद में लिखा है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।[2]

'जो कुछ भी जगत् में गतिशील है उसमें परमात्मा व्यापक है।'

---

१. ऋ० १-१६४-३९।
२. यजु० ४०-१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनः लिखा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥[1]

'वह (परमात्मा) सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू है।'

ऋग्वेद में लिखा है—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन।[2]

सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥

'ऐश्वर्यवान् परमात्मा धन को किसी के सामने हार नहीं सकता, न ही मृत्यु से परास्त होता है। विद्वान् लोग सर्वोत्पादक प्रभु की उपासना करते हुए उससे नाना प्रकार की याचना करते हैं। परमात्मा के सख्य-भाव में रहता हुआ मनुष्य कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।'

इस प्रकार परमात्मा कैसा है, इसके विषय में वेद में लिखा है।

यहाँ परमात्मा के कुछ लक्षण लिखे हैं। यह इस कारण कि जो आत्म-तत्त्व प्राणियों में विद्यमान है, उससे इस आत्म-तत्त्व की तुलना की जा सके।

परमात्मा के विषय में प्राचीन भारतीय मान्यता संक्षेप में इस प्रकार है—

ईश्वर जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, वह सच्चिदानन्द इत्यादि गुणों से युक्त है। उसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ है, निराकार, सर्व-व्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सबका कर्ता-धर्ता-हर्ता, सब जीवों के कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणों से युक्त है।

अब उस आत्म-तत्त्व, जो प्राणियों में रहता है, के लक्षण हम देखेंगे।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल का १६४वाँ सूक्त आत्मा, परमात्मा और परमात्मा द्वारा संसार के संचालन के वर्णन में ही लिखा गया है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥[3]

(अस्य) इस विश्व को (वामस्य) वमन अर्थात् उत्पन्न करनेवाला (पलितस्य) पालन करनेवाला (होता) अपने में समा लेनेवाला परमेश्वर है। इसका (भ्राता) भाई [अर्थात् आत्मा] (मध्यमो) बीच में (अस्त्यश्नः) बैठा है। (तृतीयः) तीसरा (भ्राता) भाई (घृत) अन्न-ज्ञान-वीर्य का (पृष्ठः) सेचन-दान [पुष्टि] करनेवाला है। (विश्पतिं) पूर्ण में उपस्थित (सप्त-पुत्रम्) सप्त पुत्र अर्थात् प्राणों के मालिक को (अस्य + अत्र + अपश्यं) देख।

यहाँ एक तो परमात्मा का उल्लेख है। परमात्मा पूर्ण संसार को उत्पन्न करने, पालन

१. यजुः० ४०-८।
२. ऋ० १०-४८-५।
३. ऋ० १-१६४-१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने और फिर अपने में समेट लेनेवाला है। उसका भाई है जो प्राणी में बैठा है। तीसरा भाई, शरीर (प्रकृति) है जो अन्न, ज्ञान, वीर्य का सेचन-दान इत्यादि करता है। यह शरीर सात प्राणों का स्वामी है। इस सबको देखो।

इसी सूक्त में एक अन्य मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥[1]

'दो सुन्दर पंखोंवाले, परस्पर साथ-साथ रहनेवाले, मित्र-भाव रखनेवाले पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं और उस पर सुख-लाभ करते हैं। उनमें एक वृक्ष के स्वादयुक्त फलों का सेवन करता है, दूसरा सेवन नहीं करता, वह केवल देखता है।'

यहाँ दो पक्षी परमात्मा और आत्मा के सूचक हैं। वे सुन्दर पंखोंवाले हैं। कारण यह है कि वे वृक्ष को छोड़कर उड़ भी सकते हैं। वृक्ष है शरीर अथवा संसार। इन दोनों (परमात्मा और आत्मा) में एक तो शरीर का अथवा संसार का भोग करता है, और दूसरा नहीं करता—वह केवल देखता है।

ऋग्वेद के इस सूक्त के ५२ मन्त्र परमात्मा, आत्मा और प्रकृति, तीनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में ही हैं। इन मन्त्रों में से दो ही यहाँ दिये हैं। इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि जिन्होंने वेद-मन्त्र कहे हैं, इस पूर्ण संसार में तीन मुख्य तत्त्व मानते थे—एक प्रकृति, दूसरा आत्मा, और तीसरा परमात्मा।

उपनिषत्कार भी इसी प्रकार मानते थे। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥[2]

'जगत् दो प्रकार का है—क्षर और अक्षर। (इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के दो रूप हैं—एक नाशवान् है और दूसरा जो नाश नहीं होता)। इनको व्यक्त तथा अव्यक्त रूप भी कहते हैं। ये दोनों रूप परमात्मा (देव) के आश्रय हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक निस्सहाय आत्मा है, वह (बध्यते) बँधा हुआ है (उक्त जगत् के क्षर और अक्षर रूप में)। कारण यह है कि इस आत्मा को (भोक्तृ भावा) प्रकृति में भोग करने की अभिलाषा रहती है। जब यह आत्मा परमात्मा (देव) को जान जाता है तब सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।'

दूसरे मन्त्र का भाव है—

'ज्ञानवान् और अज्ञानी क्रम से परमात्मा और जीव हैं। एक (प्रकृति) अजन्मा और है

१. ऋ० १-१६४-२०।
२. श्वे० १-८, ९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो भोग करनेवाले (आत्मा) के भोग्यार्थ है। पूर्ण संसार में रहनेवाला परमात्मा तो अनन्त है। वह अकर्ता है (अर्थात् प्रकृति का भोग नहीं करता।) जो तीनों को ब्रह्म (महान्) समझ जाता है, तब क्या हो जाता है?—वह अगले दो मन्त्रों में कहा है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥[1]

'यह जानकर कि वह (परमात्मा) ही हमारे अपने में नित्य स्थित है और उससे बढ़कर अन्य कोई जानने योग्य पदार्थ नहीं। ऊपर बताये भोक्ता, भोग्य और प्रेरक ये तीन प्रकार के ब्रह्म मानने चाहिएँ।'

इसी विषय को और भी स्पष्ट किया है :

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥
अजो ह्येको को जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[2]

अर्थात् 'एक अजा (अनादि अनन्त) है जो त्रिगुणात्मक है। इसके गुण हैं (लोह, शुक्ल, कृष्ण) सत्त्व, रजस्, तमस् और वह अपने ही रूप (सत्त्व, रजस्, तमस्) वाली बहुत प्रजाओं (पदार्थों) का निर्माण करता है। एक दूसरा अजन्मा (अनादि) है। वह उक्त अजा का भोग करता है। एक तीसरा अजा (अनादि) है जो पहले (अजा) का भोग नहीं करता।'

वेद और उपनिषद् के इन प्रमाणों से ये बातें स्पष्ट होती हैं :

१. तीन (ब्रह्म) महान् पदार्थ अज (अनादि अनन्त) हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति।

२. प्रकृति के दो रूप हैं—क्षर और अक्षर। इनको व्यक्त और अव्यक्त भी कहते हैं। अक्षररूप प्रकृति का आदि तथा मूल रूप है।

३. आत्मा तो प्रकृति का भोग करता है और परमात्मा इससे विरक्त रहता है।

४. परमात्मा ज्ञानवान् है। आत्मा अज्ञ अर्थात् ज्ञानहीन है।

यह है भारतीय दर्शनशास्त्र का सार! यहाँ इतना कह देना चाहिए कि कुछ आचार्य ऐसा विचार रखते हैं कि आत्मा और परमात्मा वास्तव में एक ही हैं। आत्मा किसी कारण से भ्रमित हुआ परमात्मा ही है। प्रकृति भिन्न है। ऐसा माननेवाले भी द्वैतवादी कहाते हैं। कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो इन तीनों (परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति) को एक ही मानते हैं। वे प्रकृति को परमात्मा की शक्ति-मात्र (माया) मानते हैं और जब परमात्मा

---

१. श्वे० १-१२।
२. श्वे० ४-५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी माया में फँसकर भ्रमित हो जाता है तो इसको आत्मा का नाम दिया जाता है। इस प्रकार माननेवालों को अद्वैतवादी कहते हैं।

द्वैतवादी और अद्वैतवादी बहुत युक्तियाँ देते हैं और कई उपनिषदों के प्रमाण भी देते हैं। हम समझते हैं कि इन दोनों वादों को इतना स्पष्ट समर्थन वेदशास्त्रों का प्राप्त नहीं है, जितना त्रैतवादियों को उपलब्ध है। बहुत-से प्रमाण जो द्वैतवादी और अद्वैतवादी देते हैं, वे भी वास्तव में उनके मत का समर्थन नहीं करते। अर्थों में खींचातानी ही की गई प्रतीत होती है।

अद्वैतवादियों की खींचातानी को छोड़कर यदि भारतीय शास्त्र का मत देखना चाहें तो वह इस प्रकार प्रतीत होता है—

१. तीन अनादि पदार्थ हैं—प्रकृति, जीव और परमात्मा।

२. प्रकृति तीन गुण वाली है—सत्त्व, रजस्, तमस् आदि रूप में ये तीनों गुण समता की अवस्था में होते हैं। यह समता की अवस्था बिगड़ती है तो प्रकृति में परिवर्तन होने लगता है और फिर नाना प्रकार की वस्तुएँ बन जाती हैं। यह समता की अवस्था का भंग होना परमात्मा के कारण है।

३. जीवात्मा प्राणियों में उपस्थित चेतन तत्त्व है। यह प्रकृति का भोग करता है और उसका रस लेता है। जब यह किसी शरीर में आता है तो शरीर को चेतना प्रदान करता है और शरीर में व्यापक रहता है।

४. परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्यापक चेतन तत्त्व है। वह जगत् का निमित्त कारण है। वह जगत् का पालनकर्त्ता है और इसको प्रलय के समय नष्ट करता है।

५. प्रकृति आदिरूप में अनादि है। इसको अक्षर माना है। इस रूप में इसको अव्यक्त कहते हैं। यह रूप सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था के कारण होता है। ईश्वरेच्छा से अथवा जगत् के किसी अटल नियमानुसार यह साम्यावस्था भंग होती है तो प्रकृति में परिवर्तन होने लगते हैं। इनके विषय में सांख्यदर्शन में लिखा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्च-तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः।[1]

'सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था में यह प्रकृति है। प्रकृति से महत्, महत् से (तीन) अहंकार, अहंकारों से तन्मात्रा, तन्मात्राओं से पाँच-पाँच (दस) इन्द्रियाँ, तन्मात्राओं से ही (पाँच) स्थूल भूत और पुरुष—ये पच्चीस गुण कहाते हैं।'

६. स्थूल भूतों को पंच महाभूत भी कहते हैं। इनसे ही पूर्ण जगत् के जड़ पदार्थ, प्राणी का शरीर भी बनता है। इन्द्रियाँ उस शक्ति का नाम है जिससे मनुष्य कार्य करता है और ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ दो प्रकार की है—कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ।

७. इन इन्द्रियों के अतिरिक्त प्रकृति का प्रथम गुण महत् है। यह प्राणी में बुद्धि

१. सांख्य दर्शन १-६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मन कहाता है—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।[1]

'प्रकृति का प्रथम गण 'महत्' कार्य करता है तो मन कहाता है।'

८. इस सब-कुछ के होने पर भी पुरुष (आत्मा) इनसे पृथक् है। इस विषय में सांख्यदर्शन लिखता है—

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ।[2]

'प्रकृति में ये परिवर्तन व्यर्थ (अकारण) नहीं होते। ये सब पुरुष (आत्मा) के लिए होते हैं।'

९. इन पच्चीस गणों [एक महत्, तीन अहंकार, पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, एक पुरुष (आत्मा)] के अतिरिक्त एक उत्तम पुरुष (परमात्मा) है, जो पूर्ण जगत् में व्यापक इसका भरण-पोषण करनेवाला और प्रलयकाल में सबको पुनः प्रथम अवस्था में ले-आनेवाला है। इसको परमात्मा, ईश्वर इत्यादि नामों से स्मरण किया जाता है।

इसमें ध्यान रखने योग्य बात यह है कि भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व दो माने हैं—एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि प्राणी में आत्मा, परमात्मा से भिन्न है। इस आत्मा से मन और इन्द्रियों को वश में करके संसार में विचरना चाहिए।

परमात्मा नाम का आत्म-तत्त्व तो सर्वव्यापक है और एकरस, ज्ञानवान्, शक्तिवान् इत्यादि गुणों को रखने के कारण अज्ञानी, सीमित शक्ति और सीमित प्रभाववाले आत्मा से भिन्न है।

मनुष्य और कर्म-अकर्म

इस भूमण्डल पर प्राणियों को ऐसा शरीर मिला है, जिसके पालन के लिए निम्न वस्तुओं की आवश्यकता रहती है—

१—वायु, २—जल, ३—भोजन, ४—विशेष अवस्था में यौन-तृप्ति।

ये आवश्यकताएँ सब प्राणियों के लिए हैं। यदि ये सब अनायास पूर्ण हो जाएँ तो प्राणी को कर्म करने की आवश्यकता न रहे। सब प्राणी इनको अनायास प्राप्त नहीं कर सकते। वायु का भण्डार तो इस पृथिवी पर इतना है कि प्राणी को इसे प्राप्त करने के लिए न्यूनातिन्यून प्रयत्न करना पड़ता है। फिर भी, यह भी बिना प्रयत्न के प्राप्त नहीं होती। अभिप्राय यह है कि श्वास लेना और फिर श्वास निकालना ये कर्म करने ही पड़ते हैं। इसके लिए बहुत कम प्रयास करना पड़ता है। प्रतिक्षण प्राणी को यह प्रयास करते-करते इतना अभ्यास हो जाता है कि वह उनका अनुभव करना भी छोड़ देता है।

---

१. सांख्यदर्शन १-६६।

२. वही, १-७१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर भी श्वास लेने और छोड़ने में प्राणी को परिश्रम करना पड़ता है।

जल के लिए तो और भी अधिक यत्न करना पड़ता है। भोजन के लिए उससे अधिक और यौन-तृप्ति के लिए विशेष यत्न करना पड़ता है। इसमें कारण है। भोज्य पदार्थों की उपलब्धि वायु और जल की अपेक्षा कम है। यौन-तृप्ति में उपलब्धि की कमी के अतिरिक्त एक अन्य बाधा भी है। वह है इस कार्य के लिए किसी दूसरे प्राणी की सहायता।

अभिप्राय यह है कि जहाँ तक वायु, जल और भोज्य पदार्थों का सम्बन्ध है, केवल आवश्यक मात्रा में उपलब्धि ही एक बात है, जिस पर प्रयत्न की मात्रा निर्भर करती है, परन्तु यौन-तृप्ति के लिए इस कार्य में साथी की रुचि और आवश्यकता भी एक आधार है जिस पर प्रयत्न की मात्रा निर्भर करती है।

यदि आवश्यक पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तब तो कुछ अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। यही कर्म है।

प्रारम्भ में भूमि उर्वरा थी। फल और कन्द-मूल, जो खाये जा सकते थे, पर्याप्त मात्रा में अनायास ही मिल जाते थे। उस काल की सृष्टि के विषय में महाभारत में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्॥[1]

'पहले न कोई राजा था, न राज्य; न दण्ड था न दण्ड देनेवाला। समस्त प्रजा धर्म द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करती थी॥

तब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित थे। पीछे इस परस्पर के संरक्षण में कष्ट अनुभव होने लगा। तब सब ओर मोह छा गया॥'

यह मोह क्यों छा गया? इसमें दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि जनसंख्या बढ़ गई होगी और पृथिवी की उपज बढ़ी नहीं होगी। दूसरे यह कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि कर ली होगी। वायु, जल, भोजन और यौन-तृप्ति के अतिरिक्त कुछ ऐसे आवश्यक पदार्थों की अनिवार्यता बना ली होगी जिसके लिए और भी अधिक परिश्रम की आवश्यकता रही होगी। उदाहरण के रूप में मनुष्य ने मकान-निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया होगा। मकान बनाने के लिए उपयुक्त परिश्रम सब नहीं कर सकते। अतएव कुछ ने मकान निर्माण कर लिये होंगे, कुछ ने नहीं। जिन्होंने मकान नहीं बनाया होगा वे भी मकान की लालसा करने लगे होंगे। अतः वे बिना निर्माण किये छीना-झपटी से ही इसे प्राप्त करने का यत्न करने लगे होंगे। यह कारण हो सकता है

१. म० भा० शां० ५९-१४, १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोह का। इसी प्रकार अन्य अनेकों आवश्यक एवं अनावश्यक पदार्थों के विषय में बात हो सकती है।

सिद्धान्त से मोह में फँसने का कारण यह है कि कामना की उत्पत्ति और उसकी पूर्ति के लिए परिश्रम की आवश्यकता; परिश्रम करने की क्षमता का सबमें समान न होना और तब बिना परिश्रम के प्राप्त करने की लालसा रखना।

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥
अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन्॥[1]

'तब मनुष्यों में कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हो गया और मनुष्य लोभ के अधीन हो गए। जो वस्तु उनको प्राप्त नहीं थी, वह वस्तु वे पाने का यत्न करने लगे। इस पाने की लालसा को ही 'काम' कहते हैं॥

काम के अधीन मनुष्यों में राग उत्पन्न हुआ और वे कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद भूल गए। तब उन्होंने अगम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य तथा दोषादोष कुछ भी नहीं छोड़ा॥'

यह अव्यवस्था उत्पन्न हो गई।

इतना तो सब दार्शनिक मानते हैं कि जब इच्छित पदार्थ प्राप्त नहीं हुए तो उनके लिए छीना-झपटी आरम्भ हुई। भारतीय विचारधारा इतना मानती है कि आरम्भ में मनुष्य धर्म-परायण थे, अर्थात् जो कुछ उनका अपना था, वही वे भोग करते थे।

यहाँ अपने का अभिप्राय समझ लेना चाहिए। हम ऊपर लिख आये हैं कि वायु के अतिरिक्त अन्य सब-कुछ प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। किसी की प्राप्ति में कम परिश्रम की आवश्यकता रहती है, और किसी की प्राप्ति में अधिक परिश्रम की। अतः जो वस्तु जिस मनुष्य ने परिश्रम से प्राप्त की, वह उसकी अपनी हो गई।

कठिनाई तब उपस्थित हुई जब आवश्यक अथवा अनावश्यक पदार्थ माँग से कम रहने लगे और उनके प्राप्त करने में परिश्रम अधिक और अधिक करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। तब जो उचित परिश्रम नहीं कर सकते थे, अथवा नहीं करना चाहते थे, वे बलपूर्वक तथा छलपूर्वक दूसरे के पदार्थों को छीनकर भोग करने लगे।

आरम्भ में धर्माचरण की प्रवृत्ति ऋषियों द्वारा ज्ञान-प्रसार के कारण थी। इस ज्ञान को काम और राग ने आच्छादित कर दिया तो अधर्माचरण का व्यवहार चलने लगा।

---

१. महाभारत, शां० ५९-१७, २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही व्यवहार सब जीव-जन्तुओं में चलता है। जंगल में पशु भोजन और यौन-तृप्ति के लिए लड़ते-झगड़ते देखे जाते हैं। उनमें भी लड़ाई-झगड़े का कारण वही है। जब आवश्यकता के पदार्थ कम हो जाते हैं अथवा जब जीव अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं तो वस्तुओं का अभाव होता है। जब कुछ जीव दूसरे के परिश्रम से प्राप्त वस्तु स्वयं बिना परिश्रम के लेने की लालसा करने लगते हैं, तब छीना-झपटी होती है।

एक बात का इतर जीव-जन्तुओं में और मनुष्यों में अन्तर है। इतर जीव-जन्तु अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा नहीं सकते। वे जो कुछ स्वभाववश खाते-पीते हैं वही वे लेने की इच्छा करते हैं, परन्तु मनुष्य में तो नये-नये प्रकार के भोग-निर्माण करने की शक्ति होती है और फिर उन भोगों को प्राप्त करने की लालसा बन जाती है। इस कारण यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्यों में झगड़े-फसाद इतर जीव-जन्तुओं से अधिक हों।

पशु तो, जब पेट भर गया, शान्त हो जाते हैं। परन्तु मनुष्य में पेट भरने के अतिरिक्त अन्य लालसाएँ और आकांक्षाएँ बनी रहती हैं और उनकी पूर्ति के उपाय भी मनुष्य आविष्कार करता रहता है। यह सब मनुष्य में बुद्धि के कारण है।

इस पर भी झगड़ों का मूल कारण वही है जो पशुओं में उपस्थित होता है। जब जीव वह प्राप्त करना चाहता है जो उसका अपना नहीं, तब झगड़ा होता है और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

अभिप्राय यह है कि प्राणी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करता है। जब कर्म के बिना आवश्यकताओं की पूर्ति का यत्न किया जाता है तो झगड़े-फसाद, छीना-झपटी, धोखा-धड़ी होती है। यह अकर्म कहाता है।

कर्म और अकर्म के चक्कर में सब प्राणी ग्रस्त हैं, पशु इत्यादि इतर जीव-जन्तु भी और मनुष्य भी; परन्तु मनुष्य और पशु में अन्तर को नीतिकार इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

खाना, सोना, डरना और मैथुन, ये पशु और मनुष्य में समान रूप में उपस्थित हैं। मनुष्य में धर्म की भावना अधिक है। जब उसमें धर्म नहीं रहता तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

यह धर्म क्या है? इसका वर्णन उचित स्थान पर करेंगे। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि मनुष्य ने, बुद्धि रखने के कारण, काम तथा राग से उत्पन्न उक्त अवस्था से निकलने का प्रयत्न किया और उसने कुछ नियम बनाए, जिनको धर्मान्तर्गत समझा गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में भी महाभारत में एक बात बताई है। जब घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो गई तो भले लोग परमात्मा की शरण में गए, अर्थात् वे परमात्मा का चिन्तन कर विचार करने लगे कि इस अधर्माचरण की अवस्था से निकलने का क्या उपाय करें?—

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः॥
ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः॥[1]

'मानवों में अव्यवस्था देख भले पुरुषों ने परमात्मा का चिन्तन किया तो परमात्मा ने उनको मार्ग बताया। परमात्मा ने कहा, हे श्रेष्ठगण, तुम्हारे भय को दूर करने का उपाय बताता हूँ॥'

'यह हुआ नीतिशास्त्र का निर्माण। इस नीतिशास्त्र में (लाखों अध्याय) अनेकों विषयों पर विवेचना की गई। सब विषयों की विवेचना का प्रयोजन तीन प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करना था—धर्म, अर्थ तथा काम॥'

'इसी कारण इस नीति-शास्त्र का नाम त्रिवर्ग-शास्त्र पड़ गया। इस नीतिशास्त्र में मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन नहीं किया गया। इसको पृथक् रखा गया। कारण यह कि मोक्ष का विषय पृथक् है और इसके गुण और प्रभाव भी दूसरे हैं॥'

इस सब का अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अव्यवस्था देख नीतिशास्त्र का निर्माण किया और उस नीतिशास्त्र में धर्म, अर्थ और काम की विवेचना की गई।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि उस काल में भी विद्वानों और भले लोगों का यह मत था कि मोक्ष-प्राप्ति का विषय लोक-नीति का विषय नहीं है। यह धर्म, अर्थ और काम से पृथक् है। वास्तव में नीतिशास्त्र उन विषयों पर विवेचना करता है जो सीधे रूप में अथवा घूम-घामकर मनुष्य-मनुष्य से व्यवहार के हैं। मोक्ष-प्राप्ति एक व्यक्ति का केवल अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाला विषय है, इस कारण इसको नीति-शास्त्रान्तर्गत नहीं रखा गया। मोक्ष मज़हब, रिलिजन, मत, पंथ इत्यादि का विषय का है। इसी कारण इसको लोक-नीति से पृथक् रखा जाना ठीक समझा गया।

धर्म मनुष्य-मनुष्य में सम्बन्ध रखनेवाला विषय माना गया है।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए परिश्रम करता है। परिश्रम को ही कर्म कहते हैं।

साधारण आवश्यकताएँ हैं—वायु, जल, भोजन, गर्मी-सर्दी से बचना तथा यौन-तृप्ति।

---

१. म० भा, शां० ५९-२८, २९, ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब आवश्यकताएँ पशु और मनुष्य में समान रूप से उपस्थित होती हैं और सब प्राणी उनकी पूर्ति में समान रूप से प्रयत्न करते हैं।

मनुष्य में एक विशेषता है, वह यह कि इसमें एक बुद्धि नाम की वस्तु है। यह बुद्धि विकास की क्षमता रखती है। यह बुद्धि जहाँ मनुष्य में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय बताती है, वहाँ यह मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि भी करती है। फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में साधन भी जुटाती है।

अभिप्राय यह कि मनुष्य में अपने कर्म का क्षेत्र बढ़ाने की क्षमता रहती है। यह क्षमता बुद्धि के कारण है।

कभी बुद्धि का विकास उस गति से नहीं हो पाता, जिससे काम और राग उत्पन्न होता है। तब मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, अगम्यागमन, वाच्यावाच्य तथा दोष-अदोष में भेद नहीं कर पाता। तब वह अकर्म करने लगता है।

अकर्म उस कर्म को कहा जाता है जो करना उचित नहीं। मूल रूप में जो अपना नहीं, उसे अपना बनाये बिना प्राप्त करने के प्रयत्न को अकर्म कहते हैं। अपना वह है जिसको प्राप्त करने के लिए परिश्रम किया गया हो।

अतः परिश्रम, अपना-पराया, उचित-अनुचित उपाय इत्यादि पर विवेचना को नीतिशास्त्र कहते हैं।

यह है कर्म-अकर्म की विवेचना। यूँ तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयास को भी कर्म कहते हैं, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति एक व्यक्ति का अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाला विषय है। इस कारण इसको नीतिशास्त्र से बाहर रखा है। नीतिशास्त्र में तो केवल उन विषयों पर ही विवेचना की गई है, जिनमें मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध पड़ता है।

मोक्ष का विषय केवल मज़हब से सम्बन्ध रखता है। कुछ पंथों के प्रवर्तकों ने अपने पंथ को लोकप्रिय बनाने के लिए यत्र-तत्र नीतिशास्त्र की बातें भी इसमें सम्मिलित कर ली हैं। इससे उनमें भी मनुष्य के मनुष्य से सम्बन्ध के विषयों पर उल्लेख आता है। परिणाम यह हो रहा है कि नीतिशास्त्र का हस्तक्षेप मज़हबों में अनिवार्य हो गया है। यह एक अवांछनीय स्थिति है। इसका निराकरण तब ही हो सकता है जब मज़हबों के लोग नीतिशास्त्र की बातों को मोक्ष-प्राप्ति की बातों से पृथक् रखें।

मोक्ष-प्राप्ति केवल मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली बात है। आत्मा के सांसारिक बन्धनों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। इसी निमित्त पूजा-पाठ, योग-ध्यान, समाधि इत्यादि उपाय हैं। इनमें से किसी के लिए भी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता नहीं। अतः मज़हबों को इन्हीं बातों तक सीमित रखा जाए तो फिर नीति के संचालकों को मज़हबों में हस्तक्षेप से दूर रखा जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मज़हब और नीति-व्यवस्था भिन्न-भिन्न हैं। मज़हब का नीति में हस्तक्षेप अकर्म है और नीतिशास्त्र का मज़हबों में हस्तक्षेप अकर्म है।

विस्मयजनक बात यह है कि महाभारत के लेखक के कथन को यदि सत्य मानें तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिकाल में भी विद्वान् लोग परमात्मा की कृपा से यह बात समझ गए थे कि कर्म और अकर्म क्या है और सबसे प्रथम उन्होंने नीतिशास्त्र से मोक्ष-प्राप्ति को पृथक् रखा था। नीतिशास्त्र का मनुष्य की प्रवृत्ति में हस्तक्षेप अकर्म माना गया था। यदि यह कहा जाए कि सैक्युलर राज्य की रूप-रेखा उनके मस्तिष्क में थी तो ठीक होगा। सैक्युलर का अर्थ है कि राज्य अर्थात् नीति-संचालक मज़हबी विषयों में हस्तक्षेप न करें। हम मज़हबी विषय केवल उनको मानते हैं जो मनुष्यों के आत्म-अभ्युदय के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म

पिछले अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि मानवों ने अपने राग और काम से उत्पन्न अव्यवस्था को दूर करने के हेतु नीतिशास्त्र का आविष्कार किया। इस नीतिशास्त्र के तीन मुख्य लक्ष्य हैं—धर्म की स्थापना, अर्थ की प्राप्ति, तथा काम की पूर्ति।

हम धर्म के विषय में ही पहले लिखते हैं—

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः॥[1]

'हे राजन्! धर्म सब गुणों में श्रेष्ठ है, अर्थ मध्यम है और काम को सबसे हीन समझो।'

इसका अभिप्राय यह है कि अर्थ की प्राप्ति में और कामनाओं की पूर्ति में धर्म का पालन सर्वत्र होना चाहिए और कामनाएँ तो बिना अर्थ के पूर्ण होती ही नहीं।

धर्म की व्याख्या नीतिशास्त्र में बहुत विस्तार से की गई है। धर्म करने-योग्य कर्म को कहते हैं। करने-योग्य कर्म सर्वप्रथम दो प्रकार के हैं—स्थायी अर्थात् शाश्वत धर्म, एवं अस्थायी अर्थात् परिवर्तनशील धर्म। शाश्वत धर्मों को सनातन धर्म भी कहते हैं।

स्थायी और अपरिवर्तनशील धर्मों के विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यह सनातन धर्म की व्याख्या है जो समस्त समाज के और प्रत्येक आयु के प्रत्येक घटक के लिए व्यवहार में लाने के लिए है।

धर्म है—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीः, विद्या, सत्य तथा अक्रोध।

ये धर्म ऐसे हैं जो सर्वत्र, सदा और सबके पालन करने योग्य माने हैं। इनकी अवहेलना कभी भी नहीं की जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार भी मनुष्य के लिए कुछ कर्म करणीय होते हैं। वे देश, काल आदि के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। समाज के

१. महाभारत शां० १६७-८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्री इनमें समयानुसार परिवर्तन करते रहते हैं।

एक बात ध्यान रखने योग्य है कि ये परिवर्तनशील धर्म कभी भी स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते। उदाहरण के रूप में वर्तमान काल के प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के देशों में संसद अथवा विधानसभाएँ मनुष्यों के आचरण के लिए नियम आदि (कानून) बनाती हैं। परन्तु उक्त नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी धर्मशास्त्री, संसद अथवा राजा ऐसे नियम (कानून) न बनाये जो उक्त स्थायी धर्मों का उल्लंघन करें, विरोध करें अथवा विरोध की स्थिति उत्पन्न कर सकें।

एक उदाहरण लें तो बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। आज भारत में सन्तान-निग्रह का आन्दोलन चल रहा है। इसके लिए कई प्रकार के कृत्रिम उपकरण प्रयोग में लाने का प्रचार किया जा रहा है। जहाँ तक परिवार-नियोजन का प्रश्न है, यह वांछनीय हो सकता है। परन्तु जहाँ तक इसके उपायों का सम्बन्ध है, उस पर विचार करने की आवश्यकता है। शाश्वत धर्मों में एक धर्म है इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् संयम। ऐसा देखा गया है कि परिवार-नियोजन के लिए कृत्रिम उपायों से संयम में ह्रास हो रहा है। अतः संतान-निग्रह के ये उपाय शाश्वत धर्म इन्द्रिय-निग्रह के विरोध में आ रहे हैं। ये उपाय धर्म-व्यवस्था के विपरीत हैं।

यद्यपि सन्तान-निग्रह सामयिक परिस्थितियों में धर्म हो सकता है, परन्तु उसके लिए कृत्रिम उपाय एक स्थायी धर्म के विरोधी हो जाने से अधर्म के रूप में हो जाएँगे।

इस प्रकार प्राचीन नीतिशास्त्र के अनुसार धर्म के दो भाग किये गए हैं। स्थायी धर्म और अस्थायी धर्म सर्वत्र, सदैव और सब अवस्थाओं में पालन के लिए हैं। अस्थायी धर्म काल, आयु, देश और अवस्था के अनुसार निश्चित किये जाते हैं। इसमें बन्धन यह है कि ये धर्म स्थायी धर्मों का विरोध न करें।

वास्तव में राज्यों में धर्मशास्त्री, भले ही वे सर्वसम्मति से नियुक्त किये गये हों, स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते। आज भी संसद, विधानसभा अथवा कोई भी व्यक्ति जो इन अस्थायी धर्मों (कानून) की व्यवस्था करनेवाला हो, वह उक्त स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकता। यह एक अटल नियम है।

स्थायी धर्म भी दो प्रकार के हैं। उक्त दस धर्मों में धृतिः, दम, शौच, धीः, विद्या, ये पाँच बहुत सीमा तक व्यक्तिगत धर्म हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध कर्ता के साथ ही है। यह नहीं कि इनके पालन करने का प्रभाव समाज पर होता ही न हो। इस पर भी ये मुख्यतः कर्ता के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं।

उदाहरणस्वरूप विपत्काल में धैर्य-धारण, पालन-कर्ता के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु यदि यह विपदा की अवस्था किसी राजा अथवा समाज के उच्चाधिकारी की हो तो उस अवस्था में धैर्य का न पालन करना कर्ता के अतिरिक्त मनुष्यों पर भी प्रभाव उत्पन्न करनेवाला हो सकता है। इस पर भी साधारण स्थिति में धृति धर्म व्यक्ति के निज के लिए ही है। यह व्यक्तिगत (personal) धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों तो धर्म कहते ही उस व्यवहार को हैं जो मनुष्य-मनुष्य के भीतर चलता है, परन्तु ये पाँच तुलना में दूसरे पाँच धर्मों से अधिक व्यक्तिगत हैं।

इसी प्रकार शौच है। शौच का अभिप्राय शरीर, मन एवं बुद्धि को पवित्र रखना है। यह पवित्रता रखना कर्ता के अपने लाभ के लिए ही है। इस पर भी यदि कोई मनुष्य किसी बस्ती में रहता हुआ स्थान-स्थान पर थूकता, पेशाब करता अथवा अन्य प्रकार से गन्दगी फैलाता है तो वह अपने से अतिरिक्त व्यक्तियों को भी हानि पहुँचाता है।

धीः के अर्थ हैं बुद्धि का विकास और प्रयोग करना। मनुष्य की अन्य प्राणियों से विशेषता बुद्धि के कारण ही है। अतः इसके विकास और प्रयोग को धर्म का लक्षण मान लिया है। इसका सम्बन्ध कर्ता के साथ विशेष होते हुए भी, विशेष परिस्थितियों में समाज के साथ भी हो सकता है।

यही बात विद्या की है। ज्ञान प्राप्त करना और इसका व्यवहार करना व्यक्ति के अपने करने की वस्तु है। यद्यपि विशेष परिस्थितियों में इसका प्रयोग और प्रभाव समाज पर भी होता है।

वास्तव में ये व्यक्तिगत धर्म ऐसे हैं जिनके पालन करने में मनुष्य को किसी दूसरे से सम्पर्क अथवा सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। ये सब-के-सब मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार एवं आवश्यकतानुसार स्वयं ही पालन कर सकता है। इसके विषय में कोई राज्य, संसद अथवा विधानसभा नियमोपनियम (कानून) नहीं बना सकती।

इसके विपरीत दूसरे पाँच धर्म—क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य तथा अक्रोध ऐसे हैं जिनका पालन तो होता ही तब है जब कोई दूसरा व्यक्ति सामने उपस्थित हो। इसी कारण इनको सामाजिक धर्म कहते हैं।

कोई भी व्यक्ति क्षमा तो किसी दूसरे को ही करेगा। इसी प्रकार चोरी न करना—तब ही हो सकता है जब किसी दूसरे की कोई वस्तु सम्मुख रखी होगी। इन्द्रिय-निग्रह, सत्य-भाषण और क्रोध न करना, ये सब तब ही प्रयोग में लाये जा सकते हैं, जब कोई दूसरा व्यक्ति सामने उपस्थित हो। अतः ये सामाजिक धर्म हैं।

इन धर्मों के विषय में राज्य दण्ड-विधान बनाता है। इस दण्ड का विधान भी तो केवल इस निमित्त होता है कि इसके पालन न करनेवाले को दण्ड दिया जाए। यह तो हम ऊपर बता चुके हैं कि इनके पालन का विरोध तथा इनके पालन करने में बाधा तथा विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न करना तो होना ही नहीं चाहिए। परन्तु इनके पालन करने में विधि-विधान नहीं बनाये जा सकते। धर्म तो स्वयं पालन करने के लिए ही है। इस पर भी इसके पालन न करनेवाले के लिए दण्ड का विधान होता है।

यह इस प्रकार है। पुलिस अथवा राज्य किसी अपराध की ओर ध्यान नहीं दे सकता, जब तक वह अपराध न किया जाए। चोरी होने पर ही चोर को पकड़कर उस पर मुकद्दमा चलाया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म का पालन तो कर्ता को स्वयं स्वेच्छा से करना चाहिए। ज्यों ही किसी ने किसी धर्म के उल्लंघन का विचार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन में किया, वह धर्म का हनन करनेवाला हो गया। उस विचार-मात्र से ही अधर्माचरण हो गया। परन्तु राज्य इसको न तो प्रज्ञेय मान सकता है, न ही इसको न्याय का विषय मानता है। वह न्याय का विषय तब बनता है, जब अपराध सम्पन्न हो जाता है।

वास्तव में कानून (दण्ड-विधान) कर्ता को धार्मिक बनाने के हेतु नहीं बनाये जाते। यह तो अधर्माचरण से दूसरों को होनेवाली हानि से बचाने के लिए हैं। कर्ता के मन में धर्म के उल्लंघन का विचार आते ही अधर्माचरण हो गया माना जाता है। अधर्म का फल तब ही उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है। हाँ, राज्य इसको विचाराधीन तब लाता है, जब धर्म का उल्लंघन होता है।

अधर्म जो अभी केवल चिन्तन का विषय है और जो अभी सम्पन्न नहीं हुआ, इसका फल कब और कैसे होता है, इस पुस्तक का विषय न होने से हम छोड़ रहे हैं। इस पर भी परमात्मा और आत्मा को माननेवाला इस पर विश्वास रखता है।

संक्षेप में धर्म की व्यवस्था यह है कि धर्म दो प्रकार के हैं, स्थायी और अस्थायी। दोनों में अन्तर यह है कि अस्थायी धर्म देश, क़ाल, आयु व अवस्था के अनुसार बनाये एवं हटाये जा सकते हैं, परन्तु वे कभी किसी अवस्था में भी स्थायी धर्मों का विरोध नहीं कर सकते, न ही विरोध के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण करनेवाले हो सकते हैं।

स्थायी धर्म भी दो प्रकार के हैं। व्यक्तिगत धर्म हैं धृति, दम, शौच, धीः तथा विद्या। इनके विषय में राज्य दण्ड-विधान में किसी प्रकार का प्रबंध नहीं कर सकता। दूसरे स्थायी धर्म सामाजिक हैं। ये हैं क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य तथा अक्रोध। इनके विषय में दण्ड-विधान बनाया जाता है। इसमें भी जब तक उल्लंघन चिन्तन का विषय रहता है, राज्य तथा दण्ड-विधान कुछ अधिक सहायक नहीं होता। मुख्यतः दण्ड-विधान तब ही कार्य करता है, जब धर्म का उल्लंघन हो जाता है। वास्तव में दण्ड-विधान अधर्माचरण से दूसरों को पहुँचनेवाली हानि को रोकने के लिए है।

आजकल कुछ निरोधक कानून बनाये जाते हैं। उदाहरण के रूप में पुलिस ऐक्ट में यह प्रबंध है कि किसी व्यक्ति को संदेहात्मक स्थिति में घूमते देख पुलिस पकड़कर कारागृह (हवालात) में रख सकती है। यह भी समाज के भले लोगों की रक्षा के निमित्त ही है। इसमें न्याय की माँग रहती है कि पकड़े व्यक्ति को जाँच के उपरांत शीघ्रातिशीघ्र छोड़ने का प्रबन्ध हो, अन्यथा उसकी देख-रेख के लिए उस पर जासूस लगाए जाएँ। कुछ भी हो, व्यक्ति दण्डनीय तब ही होता है जब वह अधर्माचरण कर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Central Library
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
168623
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

धर्म-व्यवस्था

धर्म के क्या अर्थ हैं? यह हम अतिसंक्षेप में लिख चुके हैं। धर्म दो प्रकार के हैं—एक हैं सनातन अर्थात् स्थायी धर्म। ये बदलते नहीं। दूसरे हैं सामयिक अथवा स्थानीय अवस्था के धर्म। ये स्थान, काल और आयु के विचार से बदलते रहते हैं।

सनातन धर्मों में हमने दस धर्म गिनाए हैं। ये अपरिवर्तनशील हैं। ये हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनमें पाँच व्यक्तिगत हैं। व्यक्तिगत का अर्थ है जिनका मुख्य रूप में कर्ता के अपने साथ ही सम्बन्ध होता है, जैसे धृति, दम, शौच, धीः, और विद्या। पाँच सामाजिक धर्म हैं। इनका सम्बन्ध कर्त्ता के अतिरिक्त दूसरों से भी होता है। ये हैं : क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य और अक्रोध।

व्यक्तिगत धर्मों के विषय में इतना ही समझ लेना चाहिए कि इनमें राजनियम कुछ अधिक हित नहीं कर सकते। इनका सम्बन्ध प्रेरणा और सम्मति देने के साथ ही है।

उदाहरण के रूप में धृति की बात ली जा सकती है। धृति का अर्थ है किसी संकट-काल में धैर्य रखना। यह मनुष्य के लिए अत्यावश्यक व्यवहार होने पर भी राजनियम का विषय नहीं हो सकता। विद्वान् लोग, वृद्धजन और राज्याधिकारी संकटापन्न व्यक्ति को धैर्य रखने की राय ही दे सकते हैं। यह मन का विषय है। यह किसी बाह्य शक्ति से न तो धारण किया जा सकता है, न ही धारण कराया जा सकता है।

इसी प्रकार दम का अर्थ है मन को काबू में रखना। किसी रोगी का चित्त मिठाई खाने को करता है। डॉक्टर उसको कह सकता है कि मीठा खाने की ओर ध्यान मत करो। परन्तु मन के चाहने को रोका नहीं जा सकता। मन पर संयम रखना अत्यावश्यक है। मन पर संयम टूटता है तो फिर कर्म पर भी संयम नहीं रहता। इस पर भी कोई बलपूर्वक किसी के मन को संयम रखने की सामर्थ्य नहीं दे सकता। उसको प्रेरणा ही दी जा सकती है।

व्यक्तिगत सनातन धर्मों में धी और विद्या भी हैं। इनका अर्थ है बुद्धि और ज्ञान। बुद्धि से प्रयोजन है बुद्धि-यंत्र को निर्मल करना और इसको विकास देना। इस प्रकार विद्या का अर्थ है ज्ञान-प्राप्ति। विद्या शिक्षा से भिन्न बात है। शिक्षा को अंग्रेजी में 'training' कहते हैं, अर्थात् लिखना, पढ़ना और गणित सीखना। यों तो योरुपीय परिभाषा में 'training' का अभिप्राय उतना ही लिखने-पढ़ने तथा गणित से है जितना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिशु को पाँचवीं श्रेणी तक सिखाया जाता है। परन्तु हमारा शिक्षा से अर्थ है भाषा लिखने-पढ़ने का उच्च-से-उच्च ज्ञान और उच्च गणित सीखना।

इन तीन 'आर'[1] के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विद्या है। तीन 'आर' तो राजनियम के अधीन हो सकते हैं, परन्तु विद्या, राज-नियम तो क्या, किसी के भी नियमाधीन सिखाई अथवा सीखी नहीं जा सकती। इसके लिए मनुष्य अपने-आप ही प्रयत्न कर सकता है।[1]

भारतीय शास्त्र बुद्धि के विकास और ज्ञान की प्राप्ति को भी धर्म मानते हैं, अर्थात् बुद्धि निर्मल करना मनुष्य का धारण करने योग्य कर्तव्य है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का स्वतन्त्र रूप से अपना कर्तव्य है।

शौच के विषय में थोड़ा समझ लेना चाहिए। शौच का क्षेत्र मुख्यतः तो मनुष्य के अपने तक ही सीमित है, परन्तु इसका प्रभाव दूसरों पर भी होता है। इस कारण इसका सार्वजनिक रूप समाज और राज्य के अधीन होता है; व्यक्तिगत रूप मनुष्य के अपने अधीन है।

सनातन सामाजिक धर्म तो ऐसे हैं कि इनके पालन का अवसर ही तब आता है जब दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो। क्षमा तो किसी दूसरे को ही की जाएगी। इसी प्रकार अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का तो विचार तभी किया जा सकता है, जब किसी दूसरे का कोई पदार्थ सम्मुख हो। इन्द्रिय-निग्रह का प्रश्न भी तभी उपस्थित होता है जब कोई विषय-भोग की वस्तु उपस्थित हो। इसी प्रकार अक्रोध और सत्य की बात है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ तक सनातन धर्मों का सम्बन्ध है उनमें से पाँच, जिनकी गणना हमने सामाजिक और सार्वजनिक धर्मों में कराई है, ऐसे हैं जिनके विषय में समाज अथवा राज्य का नियम और दण्ड-विधान हो सकता है।

यों तो भारतीय परम्परा यह है कि ये धर्म भी पालन-प्रेरणा से ही कराए जा सकते हैं; परन्तु इनका दूसरों पर प्रभाव होने से, इनके विपरीत आचरण से दूसरों की रक्षा के लिए राज्य-नियम और दण्ड का विधान होता है।

जहाँ तक सनातन धर्मों का सम्बन्ध है, समाज अथवा राज्य के बल पर इन छः (क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, शौच, सत्य और अक्रोध) के विषय में नियम बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, देश का पूर्ण दण्ड-विधान (पीनल कोड) इन छः धर्मों के उल्लंघन को रोकने के लिए ही है। इनमें भी शौच को नगर-निगम के अधीन किया जा सकता है, अर्थात् शौच के विधि-विधान का भंग करना उस प्रकार का अपराध नहीं माना जाता, जैसे चोरी करना अथवा झूठ बोलना।

धर्म पालन कराने के लिए यदि पाँच सामाजिक धर्मों का प्रबन्ध कर लिया जाए तो हम समझते हैं कि धर्म-व्यवस्था का कार्य अति सरल हो जाता है।

---

1. Three 'Rs' – Reading, Writing, Arithmatic.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ सामाजिक, स्थानीय और अवस्था के अनुसार धर्म हैं। वे यद्यपि बदलते रहते हैं, परन्तु उनको समझना अथवा उनका पालन करना इतना कठिन नहीं जितना आज समझा जा रहा है।

यदि तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो इनको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है—वे सामाजिक धर्म जिनके पालन न करने से कर्ता के अतिरिक्त लोगों पर भी प्रभाव पड़ता है, और वे सामयिक धर्म जिनके विरोध से कर्ता का अपना सम्बन्ध ही है।

पूर्व इसके कि हम धर्मों के व्यक्तिगत और सामाजिक विभाजन को समझें, पहले सामयिक धर्मों के विषय में इसकी शास्त्रीय विवेचना समझ लें।

सब सामयिक धर्म, जिनका सनातन धर्मों से विरोध नहीं, उनको वर्णाश्रम-धर्म के नाम से स्मरण किया जाता है। क्योंकि पूर्ण मानव-समाज जो सनातन धर्मों का विरोध नहीं कर रहा, चार वर्गों में विभक्त है और प्रत्येक मनुष्य का पूर्ण जीवन चार आश्रमों में बँटा है। इस कारण वर्णाश्रम-धर्म को जान लेने से सामयिक धर्म के पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन हो जाता है।

सनातन दस धर्मों और वर्णाश्रम-धर्म से बाहर मानव-समाज के लिए कुछ भी नहीं। अतः वर्णाश्रम-धर्म क्या है, इस पर लिखने से हम समाजशास्त्र की विवेचना पूर्ण कर सकेंगे।

वर्णाश्रम-धर्म को हम अस्थायी धर्मों में अर्थात् परिवर्तनशील धर्मों में मानते हैं। इसमें हमारी युक्ति यह है कि वे धर्म, काल और परिस्थितियों से बदलते रहते हैं।

उदाहरण के रूप में शास्त्र में ही लिखा है कि ब्रह्मचर्याश्रम २५, ३५, ४५ वर्ष की आयु तक चल सकता है। विद्यार्थी की अवस्था, योग्यता और जीवन-कार्य का अनुमान लगाकर ब्रह्मचर्य-आश्रम छोटा-बड़ा हो सकता है। इसी प्रकार समाज में ब्राह्मण-वर्ण के लिए लिखा है कि वह दान प्राप्त कर निर्वाह करे और अपने घर में तीन दिन से अधिक के प्रयोग का सामान न रखे। परन्तु समाज की आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ब्राह्मण को इस नियम का उल्लंघन करने की सामर्थ्य दी गई है और दी जानी चाहिए। इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था कि ब्राह्मण कहीं लोभ में फँसकर अपनी न्याय-दृष्टि को कुण्ठित न कर बैठे, साथ ही वह किसी का वेतनधारी सेवक न बन सके। सेवक ब्राह्मण अपने ज्ञान-विज्ञान को, लोभवश बेचने का स्वभाव बना लेगा तो फिर अधर्माचरण से धनी बने लोग ज्ञान-विज्ञान के मालिक बन जाएँगे। ज्ञान की नीलामी होने लगेगी और ब्राह्मण वेश्याओं की भाँति बिकते रहेंगे। ऐसा न हो सके, इसको सुगम बनाने के लिए ब्राह्मण को स्वतन्त्र जीविकोपार्जन के साधन देने आवश्यक हो गए।

इसी प्रकार वर्ण और आश्रम के सब धर्मों को देश तथा काल के अनुकूल करने की छूट दी गई थी। अतः वर्णाश्रम-धर्म अस्थायी धर्मों के पूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त हैं और ये देश, काल, अवस्था के अनुसार परिवर्तनशील हैं।

भारतीय पद्धति के सनातन धर्म और वर्णाश्रम-धर्म को समझ लिया जाए तो मनुष्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज की पूर्ण धर्म-व्यवस्था समझ में आ सकती है।

वर्ण-धर्म

मनुष्य-मात्र को दो वर्गों में बाँटा गया है—दैवी स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। दैवी और आसुरी स्वभावों में भेद हम पुस्तक के प्रथम भाग में बता आए हैं। समाज दैवी स्वभाव वालों का होता है। आसुरी स्वभाव वालों के संगठन को समाज नहीं कहा जा सकता। उसके घटकों में समान गति नहीं होती। यह दैवी स्वभाववालों में ही सम्भव है, अर्थात् उनमें समाज में रहने की भावना रहती है। आसुरी स्वभाववाले कामनाओं के पीछे भागनेवाले होते हैं। सबकी कामनाएँ समान नहीं होतीं, अतः सबकी गति समान अर्थात् समान मार्ग में जानेवाली नहीं होती। समाज उस जन-समूह को कहते हैं, जिसकी गति समान हो। गति का अर्थ है व्यवहार।

असुरों के भाव और उनका व्यवहार तो बलपूर्वक उनको विवश कर ही एक-समान किया जा सकता है। दैवी स्वभाव वालों का समभाव तो स्वभाव और स्वेच्छा से होता है।

दैवी सम्मतिवालों को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। यह बँटवारा इस प्रकार है। भगवद्गीता में लिखा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥[1]

'कर्म, स्वभाव और गुणों के विचार से मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बाँटा गया है।'

मनुष्यों का यह बँटवारा समाजवादी बँटवारे से भिन्न प्रकार का है। इसमें सम्पत्ति रखने अथवा न रखने का विचार नहीं है। सम्पत्ति रखना अथवा न रखना, यह कुछ गुणों का परिणाम हो सकता है, परन्तु यह स्वयं किसी प्रकार का गुण नहीं है।

उदाहरण के रूप में तूतिया की एक डली देखने पर आँख के पटल पर कुछ ऐसा प्रभाव होता है जिसका नाम हमने नीलवर्ण रखा है। नीला दिखाई देना तूतिया के दाने के एक गुण का स्वभाव अर्थात् परिणाम है। यह गुण इस दिखाई देनेवाले रंग से भिन्न बात है। प्रकाश की प्रकृति का ध्यान रखनेवाले जानते हैं कि यह गुण तूतिया के दाने में प्रकाश की नीली किरणों के अतिरिक्त सब किरणों को अपने भीतर ही समेट लेने के कारण है। केवल नीली किरणें ही लौटा दी जाती हैं और ये मनुष्य की आँख में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं जिसको हम नीलवर्ण कहते हैं। तूतिया का सब किरणों को अपने में समेट लेने का गुण और केवल नीली किरणों को ही बाहर फेंकने का गुण एक बात है और इसका आँख पर प्रभाव दूसरी बात है।

---

१. भ०गी० १८-४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार कुछ लोगों का गुण है कि वे परिश्रम से धन उपार्जित करते हैं और उसमें से कुछ धन पूँजी के रूप में प्रयुक्त करते हैं। धन-उपार्जन गुण है और इस गुण का परिणाम है कि सम्पत्ति निर्माण होती है। सम्पत्ति-निर्माण धन-संचय का परिणाम हो सकता है। धन-उपार्जन एक गुण है। सम्पत्ति एकत्रित होना परिणाम है। कभी धन संचय करने का गुण तो होता है, परन्तु यह सम्पत्ति के रूप में एकत्रित हो पूँजी नहीं बन पाती। संचित धन दान-दक्षिणा में व्यय हो जाता है अथवा अन्य व्यसनों में भी व्यय हो सकता है। अतएव धन पैदा करना और उसको सम्पत्ति के रूप में व्यय करना भिन्न-भिन्न बातें हैं। एक गुण है और दूसरा उसका सम्भावित परिणाम।

भारतीय समाजशास्त्र के अनुसार मनुष्यों की श्रेणियाँ गुण के कारण मानी गई हैं, न कि इन गुणों के प्रभाव के कारण। गुण है परिश्रम से धन उपार्जन करना।

केवल गुण ही मनुष्य के श्रेणीबद्ध करने में पर्याप्त नहीं माना गया। गुण, स्वभाव और कर्म इन तीनों को मिलाकर मनुष्य की श्रेणियाँ बनती हैं। यों तो स्वभाव, गुण और कर्म परस्पर सम्बन्धित हैं। स्वभाव से गुण उत्पन्न होते हैं और गुण से ही कर्म किए जाते हैं। समाज में वर्ण-निर्माण का मुख्य सम्बन्ध तो कर्म से ही है। इस पर भी स्वभाव और गुण, कर्मों के उत्पन्न करनेवाले होने से वर्ण-व्यवस्था में मुख्य माने गए हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि स्वभाव और गुण दोनों होते हैं, परन्तु कर्म सम्पन्न नहीं होता। इस पर भी स्वभाव और गुण उपस्थित होने से भी वर्ण निश्चय किया जा सकता है।

उदाहरण के रूप में ब्राह्मण-वर्ग के गुण-कर्म इस प्रकार हैं :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥[1]

एक ब्राह्मण में शमः, दमः, शौचः, शान्तिः ये स्वभाव हैं। तप, आर्जवम्, आस्तिक्य, ये गुण हैं और ज्ञान-विज्ञान (प्राप्त करना अथवा देना) ये कर्म हैं।

यह सम्भव है कि किसी पुरुष में शमः, दमः, शौचः, शान्तिः, तपः, आर्जवम् और आस्तिक्य हो, परन्तु वह ज्ञान-विज्ञान का कर्म न कर सके, समाज उसको कर्म करने का अवसर ही न दे। इस पर भी स्वभाव और गुण होने पर वह ब्राह्मण माना जा सकेगा।

अतः भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्यों के वर्ग चार हैं। ये वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के नाम से विख्यात हैं। ये वर्ग अर्थात् वर्ण—स्वभाव, गुण और कर्म तीनों के आधार पर निर्माण किए गए हैं। इस प्रकार के विभाजन को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं।

संपत्ति रखना अथवा न रखना इन वर्गों का लक्षण नहीं। संपत्ति किसी के किसी कर्म का परिणाम हो सकती है और किसी अन्य के उसी कर्म का परिणाम नहीं भी हो सकती। अतः वर्ण-व्यवस्था में होना अथवा न होना कोई कारण नहीं माना गया।

---

१. भ० गी० १८-४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच का भी प्रश्न नहीं। भगवद्गीता में स्पष्ट लिखा है :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥[1]

'अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। शब्द है संसिद्धि। अर्थ है अपने उद्देश्य को भली प्रकार प्राप्त कर सकना।'

अतः ब्राह्मण का कार्य समाज में जितना अच्छा है उतना ही एक शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय का भी है। समाज में सबका अपना-अपना कार्य है और अपना-अपना स्थान है। समाज किसी को ऊँचा अथवा नीचा नहीं मान सकता। मनुष्य के स्वभाव तथा गुण के अनुसार उससे कर्म लेने से वह ऊँचा अथवा नीचा नहीं समझा जा सकता। ऊँच-नीच वेतन अथवा संपत्ति के अनुसार नहीं माननी चाहिए। इसका आधार दूसरा ही है। वह हम आगे चलकर बताएँगे। यहाँ तो यह समझ लेना चाहिए कि समाज के सब घटक, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों, मनुष्य होने के नाते सब समान हैं। यदि इस बात को और भी स्पष्ट किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि मानव-अधिकार (human rights) मनुष्य-मात्र के समान हैं।

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिए कि भारतीय परम्परा में वर्ण जन्म से नहीं माने गए। शास्त्र इस विषय में सर्वथा स्पष्ट है।

भारतीय समाजशास्त्र की सबसे पुरानी और सर्वमान्य पुस्तक 'मनुस्मृति' में जहाँ वर्ण-धर्म का उल्लेख किया गया है। वहाँ स्वभाव, गुण और कर्म का उल्लेख तो किया है, परन्तु जन्म का उल्लेख नहीं है। वहाँ लिखा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपाज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥[2]

अर्थात्—इस सारे संसार का काम चलाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के कार्य की पृथक्-पृथक् कल्पना की है। ये ऐसे ही हैं, जैसे शरीर में मुख, बाहु, उरु और पाँव पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं॥

---

१. भ० गी० १८-४५

२. मनु० १-८७, ८८, ८९, ९०, ९१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना, ये कर्म ब्राह्मण के माने हैं ॥

प्रजाओं की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना, ये कर्म क्षत्रियों के हैं ॥

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, खेती करना, धन का ब्याज लेना, ये वैश्य के कर्म हैं ॥

शूद्रों के लिए एक ही कर्म है। वह अपने स्वामी का काम लग्न से करे ॥

यहाँ और किसी अन्य स्थान पर भी यह नहीं लिखा कि ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के विषय में विचार कर लेना चाहिए।

यह बात तो लिखी है कि अपने पिता के कर्म पुत्र भी करने लगता है। यह बहुधा देखने में आता है, परन्तु साथ ही यह भी लिख दिया है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥[1]

'शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने वर्ण से गिरकर दूसरे वर्ण में जा सकते हैं।'

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वर्ण-व्यवस्था में कर्म ही मुख्य कारण है।

आज हिन्दू समाज में यह व्यवस्था नहीं देखी जाती। उसमें जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की बात प्रचलित है। इस पर भी यह शास्त्रोक्त नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्रकार यह जन्म से वर्ण-व्यवस्था चली तो परतन्त्रता के कारण यह हटाई नहीं जा सकी। देश के स्वतन्त्र होने से जन्म-जात वर्ण-व्यवस्था हटती जाती है।

यहाँ हमारा केवल इस बात को बताने से अभिप्राय है कि मानव-समाज में मुख्य रूप से चार प्रकार के कर्म हैं और समाज का विभाजन उनके अनुसार होना चाहिए। इस विभाजन का सम्बन्ध, जहाँ धन-सम्पदा से नहीं, वहाँ इनका सम्बन्ध माता-पिता से भी नहीं। इनका सम्बन्ध कर्म से है और मनुष्य अपने-अपने वर्ण का कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त कर सकता है। सिद्धि का अर्थ सफलता है। यह सफलता लौकिक हो सकती है और पारलौकिक भी हो सकती है।

यह है समाज का विभाजन। इसका प्रयोजन समाज में व्यवस्था रखना है।

आश्रम-धर्म

मनुष्य के कर्म और कर्तव्य आयु के साथ भी बदलते हैं। अतः इन व्यक्तिगत धर्मों की भी व्यवस्था की गई है। इनको आश्रम-धर्म-व्यवस्था कहते हैं। ये धर्म भी अस्थायी हैं। ये मनुष्य में आवश्यक होते हुए भी सबके लिए और सब परिस्थितियों में एक-समान नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में लड़के-लड़की के लिए पच्चीस वर्ष की आयु तक अध्ययन का

---

१. मनु० १०-६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल निश्चित है। परन्तु लड़कियाँ प्रायः इस आयु तक विवाह के योग्य मान विवाह दी जाती हैं। तब वे अध्ययन कर नहीं सकतीं। अथवा, कुछ लड़के उच्च शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखते। उनकी बुद्धि इतनी तीव्र होती ही नहीं कि वे उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें। ऐसे लड़कों का शिक्षा-काल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

यही बात संन्यास आश्रम की है। इसमें विधान यह है कि इस आश्रम में मनुष्य घर में न रहे और अपने ज्ञान और अनुभव का लाभ जन-साधारण को देता फिरे।

परन्तु जो मनुष्य स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका, साथ ही जिसका किसी कारण से अनुभव भी बहुत कम है, वह भला उक्त संन्यास आश्रम की बात कैसे कर सकेगा? ऐसा मनुष्य एक स्थान पर रहता हुआ भगवद् भजन ही कर सकेगा।

अतः यह समझ लेना चाहिए कि आश्रम-धर्म भी देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं।

महाभारत में इसके विषय में इस प्रकार लिखा है—

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम्॥
जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात्॥
तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम्॥[1]

अर्थात्—ब्रह्मचर्य आश्रम, महान् गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम—ये चार आश्रम हैं। चौथा आश्रम प्रायः ब्राह्मण ही ग्रहण करते हैं॥

चूड़ाकर्म संस्कार के उपरान्त द्विजत्व को प्राप्त कर अर्थात् उपनयन लेकर, वेदाध्ययन कर॥

गार्हस्थ्य आश्रम में अग्निहोत्रादि कर्म सम्पन्न कर, संयमी स्त्री-पुरुष गृहस्थ आश्रम में कृतकृत्य होकर वानप्रस्थ में प्रवेश करें॥

वहाँ पुरुष आरण्यक शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ चौथे आश्रम को ग्रहण करे। इस प्रकार संन्यास लेनेवाला अविनाशी परमभाव को प्राप्त होता है॥

यह विधान है आश्रमों का। साधारण रूप में ब्रह्मचर्य-आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष की आयु तक की है। गृहस्थ-आश्रम पचास वर्ष की आयु तक चलना चाहिए। तदनन्तर संन्यास-आश्रम चलता है। इस पर भी यह तो है ही कि यह आयु का विधान बदल भी सकता है।

---

१. म० भा० शां० ६१-२, ३, ४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्म में पूर्ण समाजशास्त्र समा जाता है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक सब प्रकार के कर्तव्यों को धर्म में बाँध दिया है। यह हम बता चुके हैं कि सनातन धर्म सब आश्रमों और वर्णों में अपरिवर्तनशील हैं। उनमें हेर-फेर नहीं हो सकता। परन्तु वर्ण-धर्म तथा आश्रम-धर्म देश, काल, आयु तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं।

इन बदलनेवाले धर्मों को कौन बदल सकता है?—यह हम अगले अध्याय में लिखेंगे। धर्म-व्यवस्था कौन दे सकता है?—यह एक महान् प्रश्न है।

यहाँ तो हम केवल यही बताना चाहते हैं कि अस्थायी धर्मों की व्यवस्था क्या है? भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति और समाज के सब कर्तव्य इन दो प्रकार के, सनातन और परिवर्तनशील धर्मों में ही समा जाते हैं। परिवर्तनशील धर्म वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में आ जाते हैं।

वर्तमान युग के समाजशास्त्री इस बात का हो-हल्ला करते देखे जाते हैं कि समय बदलने के साथ मानव-समाज की परिस्थितियाँ बदल रही हैं और मानव-धर्म भी बदलने चाहिएँ। यह बात ठीक है कि परिस्थितियाँ बदल रही हैं और धर्मों में परिवर्तन होना चाहिए। इसी कारण तो वर्णाश्रम-धर्मों को अस्थायी अर्थात् परिवर्तनशील बताया है। इस पर भी यह निर्विवाद बात है कि मानव में कार्य करने के स्रोत तो वही के वही हैं, जो लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य में विद्यमान थे।

कोई मनुष्य क्यों कार्य करता है, इसमें शास्त्र का मत यह है :

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥[1]

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये तीन कर्म के प्रेरक हैं। कर्म की व्यवस्था करने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है। कर्म के प्रेरक हैं—(१) जाननेवाला, इसको परिज्ञाता कहा है; (२) दूसरा प्रेरक ज्ञान, और (३) तीसरा है उद्देश्य, जिसको ज्ञेय लिखा है।

ये तीनों तो प्रेरक हैं। तीनों में मुख्य है ज्ञाता। ज्ञान और उद्देश्य तो केवल प्रेरणा देनेवाले हैं। इस पर भी कर्म करना अथवा न करना परिज्ञाता के ही अधीन हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि परिज्ञाता और कर्ता में अन्तर है। परिज्ञाता होते हुए भी मनुष्य कर्ता नहीं भी हो सकता है। इस कारण अन्तर माना है।

कर्ता के कर्म करने में कौन-कौन-से हेतु हो सकते हैं? यह भी शास्त्र में लिखा है—

पंचेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

---

१. भ०गी० १८-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥[1]

यह सांख्यदर्शन में वर्णन किया है कि मनुष्य-कर्म में क्या-क्या कारण हैं। ये पाँच लिखे हैं—

(१) अधिष्ठान अर्थात् प्राप्तव्य उद्देश्य, (२) कर्ता अर्थात् कर्म करनेवाला, (३) साधन, (४) चेष्टाएँ, (५) दैव।

उदाहरण के रूप में कोई मनुष्य भारत से अमेरिका जाना चाहता है। इसमें अमेरिका अधिष्ठान हो गाय़ा। यदि कोई विद्यार्थी रसायनशास्त्र पढ़ना चाहता है तो साइँस पढ़ना अधिष्ठान माना जाएगा। इसी प्रकार कोई मनुष्य करोड़पति बनना चाहता है तो करोड़पति बनना अधिष्ठान हो गया।

दूसरा हेतु है कर्ता। उद्देश्य हो जाने के उपरांत भी कर्ता की इच्छा न हो तो कुछ नहीं हो सकेगा। अतएव अधिष्ठान बन जाने के उपरान्त भी कर्ता की इच्छा का होना कर्म के लिए अत्यावश्यक है।

कर्म में तीसरा हेतु साधन है। उद्देश्य बन गया कि अमेरिका जाना चाहिए। जाने वाले की इच्छा भी बन गई। इसके उपरांत भी जाना नहीं हो सकता, जब तक जाने के साधन न हों। धन तथा वाहन इत्यादि होने चाहिएँ। इसी प्रकार रसायनशास्त्र का ज्ञान, पढ़नेवाले विद्यार्थी का उद्देश्य बन गया। विद्यार्थी की इच्छा भी है, परन्तु अध्यापक, प्रयोगशाला और पुस्तकें इत्यादि के बिना पढ़ाई नहीं हो सकती।

चौथा हेतु है चेष्टा, अर्थात् प्रयत्न करना। उद्देश्य, कर्ता और साधन होने पर भी जब तक प्रयत्न नहीं किया जाएगा, तब तक कर्म नहीं होगा। विद्यार्थी के मन में इच्छा भी हो गई। कॉलेज, अध्यापक और प्रयोगशाला इत्यादि हो जाने पर भी जब तक विद्यार्थी प्रयत्न नहीं करेगा, तब तक कर्म नहीं हो सकेगा।

पाँचवाँ हेतु है दैव। इसका अर्थ है भाग्य। इसको अदृश्य भी कहते हैं, जैसे पूर्व-जन्म के कर्म हैं। वे दिखाई नहीं देते और उनके फल भी दिखाई नहीं देते। इनके फलस्वरूप कई बार पूर्व के चारों हेतु होते हुए भी कर्म नहीं हो पाता, अथवा फल-प्राप्ति नहीं हो सकती। यह दैव के कारण माना जाता है।

हमने बताया है कि कर्म के प्रेरक तीन हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। परिज्ञाता की इच्छा और प्रयत्न अत्यावश्यक हैं। इस पर भी कर्म के होने में हेतु पाँच हैं। प्रेरणा और हेतु भिन्न-भिन्न अर्थ के सूचक हैं। पाँच हेतु हैं—उद्देश्य, कर्ता, साधन, प्रयत्न और दैव। इनमें कर्ता मुख्य है।

इस प्रकार विचार करने से पता चलेगा कि कर्ता तो ज्यों-का-त्यों ही है; जैसा लाखों वर्ष पूर्व था, वैसा आज भी है। उसकी इन्द्रियाँ, मन और आत्मा तो वैसा-का-वैसा ही है।

---

१. भ०गी० १८-१३, १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आखिर मनुष्य मन, शरीर और आत्मा का ही संयोग है न! अतः मनुष्य अर्थात् कर्ता में तो अन्तर पड़ा नहीं। अन्तर पड़ा है ज्ञान और साधनों में; शेष तीनों तो बदले नहीं। ज्ञान और साधनों से कर्म में अन्तर नहीं पड़ा है तो मात्रा और दिशा में ही पड़ा है।

मान लीजिए, कोई मनुष्य धन संचय करना चाहता है भोग करने के लिए। धन संचय करने में प्रेरकों में कामना और परिज्ञाता तो अपरिवर्तनशील ही हैं। कामना है धन का भोग। ये इन्द्रियों के विषय बदले नहीं। ये बदल नहीं रहे। इसी प्रकार ज्ञाता अर्थात् विषयों के ज्ञाता भी नहीं बदले। यह है आत्मा और मन। अतएव बदला है ज्ञान। उद्देश्य का ज्ञान और साधनों का ज्ञान बदलता रहता है।

इसी प्रकार हेतुओं में भी केवल साधन ही बदले हैं। साधनों के बदलने में भी ज्ञान की वृद्धि अथवा ह्रास ही कारण हो सकता है। अन्त में यह पता चलेगा कि प्रेरकों और हेतुओं में मुख्य कर्ता, अधिष्ठान और चेष्टा में अन्तर नहीं पड़ा।

इस कारण कर्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा। अतः धर्म जो कर्म को व्यवस्थित करने के लिए विचार किया गया है, सिद्धान्त में नहीं बदला।

आज जो तकनीकी उन्नति हुई है और उससे अनेकानेक प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होने लगे हैं, उनसे न तो कर्ता का निर्माण हुआ है, न ही उनकी कामनाओं का। अतः कर्म करने में धर्म-अधर्म की व्याख्या में अन्तर नहीं पड़ सकता।

विचार करिए कि रेल, तार, हवाई जहाज बन जाने से क्या चोरी करने की प्रवृत्ति में और चोरी करने की इच्छा-अनिच्छा में अन्तर पड़ा? अन्तर पड़ा है तो चोरी करने की मात्रा में अथवा इसकी गति में, विधि में। जहाँ तक चोरी अर्थात् अधर्म का सम्बन्ध है, यह तो बदला नहीं।

अतएव हमारा यह कहना है कि परिवर्तनशील धर्म-व्यवस्था में भी सिद्धान्तरूप में कोई अन्तर नहीं पड़नेवाला।

कर्ता—आत्मा, मन और इन्द्रियों का संयोग, और कामनाएँ अर्थात् सुख की इच्छा और दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा, ये तो बदली नहीं। साधनों में परिवर्तन हुए हैं। तकनीकी उन्नति का मात्र इतना परिणाम हुआ है। इससे कर्म और फिर उसकी व्यवस्था करनेवाले धर्म में सैद्धान्तिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं आनी चाहिए।

धर्म में व्यवस्था देनेवाले

सनातन धर्मों में व्यवस्था देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सनातन धर्म तो सर्वत्र और सदा पालन करने के लिए हैं। वास्तव में व्यवस्था का विषय है अस्थायी धर्म। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम-धर्म के विषय में समय-समय पर व्यवस्था देने की आवश्यकता है।

यह हमने बताया है कि वर्णाश्रम-धर्म के अतिरिक्त समाज और व्यक्ति के लिए अन्य कुछ कर्तव्य ही नहीं। यदि कुछ है तो वे हैं केवल एक व्यक्ति के अपने अन्तरात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्ध रखनेवाली बातें, अर्थात् व्यक्ति के मोक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली बाते। इस विषय में किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं है।

वर्णाश्रम-धर्म में भी कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनमें कोई बाहर का व्यक्ति केवल सम्मति ही दे सकता है। उनमें किसी प्रकार का दण्ड-विधान नहीं हो सकता। जब हम दण्ड शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल राजदण्ड से ही नहीं। हम मानते हैं कि कुछ ऐसे काम हैं, जिनमें राजदण्ड प्रभावहीन होता है। उनमें केवल समाज द्वारा बहिष्कार, घृणा, निन्दा इत्यादि दण्ड ही प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के दण्ड को सामाजिक स्वीकृति का नाम दिया जाता है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। कोई स्त्री-पुरुष वयस्क हैं। वे अपना सम्बन्ध बिना विवाह की रस्म के बना लेते हैं। उनके इस काम को राज्य की ओर से दंडित नहीं किया जा सकता। राज्य मना करे तो उसका मना करना प्रभावहीन ही होगा। वे राज्य के कर्मचारियों से ओझल हो सम्बन्ध बना लेंगे। वे राज्य की ओर से दंडित नहीं हो सकते। हाँ, इस अवस्था में उस पुरुष और स्त्री के सम्बन्धी, बिरादरी के लोग अथवा मुहल्ले तथा नगर के लोग उनका बहिष्कार कर सकते हैं। इस बहिष्कार का प्रभाव भी हो सकता है।

वर्णाश्रम-धर्म की कुछ बातें ऐसी हैं, जिनके उल्लंघन पर केवल सम्मति ही दी जा सकती है और दण्ड नहीं दिया जा सकता। हमारा अभिप्राय यह है कि न तो राजदण्ड और न ही समाज का बहिष्कार प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

उदाहरण के रूप में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, जब स्त्री रजस्वला हो, वर्जित है। इसमें बाहर के लोग, डॉक्टर, वैद्य इत्यादि केवल सम्मति ही दे सकते हैं। यह दण्ड का विषय नहीं।

इसी प्रकार एक विद्यार्थी के लिए विद्याध्ययन धर्म है। एक कॉलेज का विद्यार्थी कॉलेज जाता है, श्रेणी में भी जा बैठता है, परन्तु पढ़ाई में ध्यान नहीं लगाता। भला इसके लिए क्या दंड हो सकता है?

अतः कुछ वर्णाश्रम-धर्म ऐसे हैं जिनके पालन न करने के लिए किसी प्रकार का दंड-विधान नहीं हो सकता—न तो राज्य की ओर से और न ही समाज के बहिष्कार इत्यादि से।

प्रायः वर्णाश्रम-धर्म ऐसे हैं जिनमें समाज के घटक ही दंड का विधान करते हैं। उनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जैसे परस्त्री-गमन है। जब स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से ऐसा करें तो सामाजिक बहिष्कार ही इसका उपाय हो सकता है।

अतः वर्णाश्रम के प्रायः धर्म-पालन कराने के लिए प्रेरणात्मक उपाय ही प्रयोग में लाए जा सकते हैं। इनमें राज्यदंड ठीक नहीं और सम्भव भी नहीं।

एक ब्राह्मण है। उसका स्वभाव ब्राह्मणों का है। उसमें गुण भी ब्राह्मणों के हैं, परन्तु वह कार्य ब्राह्मणों के नहीं करता, अर्थात् एक मनुष्य जो शम, दम, शौच, शान्ति और आर्जव का स्वभाव रखता है, उसमें विद्या, ज्ञान-विज्ञान इत्यादि के गुण भी हैं, परन्तु वह पढ़ता-पढ़ाता नहीं, न ही यज्ञकर्म करता-कराता है। भला ऐसे व्यक्ति के लिए भी कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दंड होगा? उसके लिए केवल सामाजिक बहिष्कार ही एक उपाय है। उसकी समाज में उचित मान-प्रतिष्ठा का न होना ही उसको अपने कर्तव्य-पालन की प्रेरणा दे सकते हैं।

इसी प्रकार अन्य वर्णों के धर्म हैं; परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह प्रेरणा कौन करे और प्रेरणा का विषय कौन निश्चित करे?

वर्णाश्रम-धर्म के दो भेद हैं। एक वे धर्म हैं जिनके पालन करने अथवा न करने पर समाज के दूसरे किसी एक अथवा अनेक घटकों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, स्वास्थ्य के विषय में धर्म है कि भोजन उतना होना चाहिए, जितना मनुष्य पचा सकता हो। साथ ही वह ऋतु, काल, आयु और देश के अनुसार हो। एक कोई मनुष्य ऋतु, काल, आयु और देश का विचार न करता हुआ जो मन में आता है खाता चला जाता है। यह मनुष्य अधर्म तो करता है, परन्तु यह धर्म न तो राजदंड का विषय है और न ही किसी से बहिष्कार का। यह केवल ताड़ना और प्रेरणा का विषय ही हो सकता है। यह व्यक्तिगत धर्म है।

परन्तु जब कोई मनुष्य विवाह कर सन्तान उत्पन्न कर उसको सड़क पर फेंक देता है तो वह एक ऐसा अधर्म करता है जो व्यक्तिगत नहीं रह जाता। इससे कर्म करनेवाले के अतिरिक्त किसी दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। अतः यह व्यक्तिगत धर्म होते हुए भी सामाजिक धर्म का उल्लंघन है। इस कारण वह व्यक्ति न केवल समाज द्वारा बहिष्कार एवं घृणा का पात्र है, वरंच राज्यदंड का भी पात्र है।

अतः सनातन धर्मों की भाँति वर्णाश्रम-धर्म भी व्यक्तिगत और सामाजिक दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मों में भी सामाजिक धर्मों का उल्लंघन ही दंडित हो सकता है। दंड देनेवाला राज्य हो सकता है। समाज भी बहिष्कार इत्यादि से दंड दे सकता है।

दंड देने में छः बातों का ध्यान रखना आवश्यक है: (१) धर्म क्या है? (२) अधर्म क्या है? (३) अधर्म, कर्ता के अतिरिक्त किन घटकों को कष्ट दे रहा है? (४) यह कष्ट कितना है? (५) अधर्म करनेवाले को कितना और क्या दंड देना चाहिए? (६) यह दंड किस प्रकार दिया जाए?

इन सबका निर्णय कौन करे और किस आधार पर करे? यह एक अतिमहत्त्व का विषय बन गया है।

उक्त छः बातों में धर्म-अधर्म और उसमें दंड की मात्रा का निर्णय करने के लिए तो धर्मशास्त्रियों की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कानून के विषय को जानता नहीं, साथ ही जिसका मनोविज्ञान में अध्ययन नहीं, वह कानून जैसे विषय में सम्मति नहीं दे सकता। दूसरे शब्दों में, कानूनी मजलिस (Legislature) में वे ही सदस्य हो सकते हैं, जो उक्त गुण रखते हों। यह बात जनसाधारण के हित में है कि कानून बनानेवाली सभा में धर्म के ज्ञाता ही हों। अन्यथा वे धर्म को अधर्म घोषित कर देंगे और अधर्म को धर्म मान बैठेंगे। फिर अन्याय का विस्तार हो जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशास्त्रियों द्वारा निश्चित किए धर्म और उनके उल्लंघन में दंड का विधान करने के लिए निष्पक्ष, निःस्पृह और समाजशास्त्र के जाननेवाले लोग होने चाहिएँ। आज के काल में यह भावना बन गई है कि जनता के प्रतिनिधि ही उक्त दोनों प्रकार के कार्य करने में योग्य हैं और केवल वे ही योग्य हो सकते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्ति-युक्त और अव्यावहारिक है। इसमें दोष यह है कि (१) जनता इस बात की परीक्षा करने की योग्यता रखती है कि अमुक व्यक्ति धर्म-कर्म का ज्ञाता है अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। जनता के प्रतिनिधि जनता के बहुमत से ही निर्वाचित होंगे और बहुमत बुद्धिमानों का ही होगा, कोई नहीं कह सकता। मत-गणना बुद्धि की परीक्षा है, यह तो कोई मूर्ख ही मानेगा। (२) इसके अतिरिक्त जब धर्माधिकारी और न्यायकर्ता जनता के मत से नियुक्त होंगे तो धर्म की व्यवस्था देते समय उनको जनता की रुचि का सदा ध्यान रखना पड़ेगा। धर्म की माँग और जनता की माँग सदा एक ही होगी, सम्भव नहीं।

जनता का बहुमत सुख और सुविधा को तो पसन्द करता है, परन्तु धर्म और सुख-सुविधा पर्यायवाचक शब्द नहीं भी हो सकते। अतः न्यायशास्त्री और धर्म-व्यवस्था देनेवाले जनता के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। ये लोग किसी ऐसे मापदंड से नापने पड़ेंगे, जिसका सम्बन्ध शिक्षा, अनुभव और चरित्र से होगा।

धर्मानुसार शासन

शासन का अर्थ व्यक्तियों को शिकंजे में कसकर रखना नहीं है। इसके विपरीत यह भले लोगों को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता का भोग कराने के निमित्त निर्माण किया गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक कुछ प्राकृतिक विवशताएँ हैं। उदाहरण के रूप में एक मानव-शिशु बिना माता-पिता की सहायता के जीवित नहीं रह सकता और अपनी प्राकृतिक शक्तियों में विकास नहीं पा सकता। अतः यदि किसी शिशु को जीवित रखना है तो उसके पालन-पोषण का प्रबन्ध होना चाहिए। जो कोई भी उसके जीवन, मानसिक तथा आत्मिक विकास का सुचारु रूप से प्रबन्ध कर सके, उसकी नियुक्ति होनी चाहिए।

इन प्राकृतिक विवशताओं से यथासम्भव रक्षा समाज का कर्तव्य है। कुछ प्राकृतिक विवशताएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें समाज और कोई भी मनुष्य सहायक नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में जरा-अवस्था और मृत्यु है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक मुख्य रूप में राजसी और तामसी प्रवृत्ति के लोग होते हैं। राज्य मुख्य रूप में ऐसे लोगों से, भले लोगों की रक्षा के लिए निर्माण किया गया है।

कामनाओं की वृद्धि राजसी गुणों से होती है। जब कामनाएँ किसी मनुष्य की पूर्ति की सामर्थ्य से बढ़ जाती हैं, तब रजोगुणी मनुष्य तमोगुण के अधीन हो जाते हैं और वे दूसरों को अपने उचित परिश्रम तथा योग्यता से प्राप्त अधिकार से वंचित करने लगते हैं। शासन ऐसे लोगों से भले लोगों की रक्षा के लिए बना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही बात अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में होती है। व्यक्तियों की भाँति जातियाँ भी रजोगुण के अधीन कामनाओं को सीमा से अधिक बढ़ा लेती हैं, और फिर उनकी पूर्ति में तमोगुण के प्रभाव में आ जाती हैं। ऐसी जातियों से भली जातियों की रक्षा का भार भी भले देशों के शासन पर होता है।

अभिप्राय यह है कि शासन दैवी स्वभाव की जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए निर्मित किया गया है। यह व्यक्तियों के अधिकारों को संकुचित करने के लिए नहीं बना।

मनुष्यों के अधिकार शासन निश्चित नहीं करता। शासन तो केवल अधिकारों की रक्षा के लिए निर्मित हुआ है। अधिकार धर्म-संगत होने चाहिएँ और इनका निश्चय धर्मशास्त्री ही कर सकते हैं। धर्मशास्त्री कौन हों? इस विषय में हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं।

न्याय-संगत अधिकार क्या है? इनका निर्णय शासन के हाथ में दिया गया तो दुर्बल शासन भले लोगों के उन अधिकारों की, जिनकी वह रक्षा नहीं कर सकता, चिन्ता भी नहीं करेगा और आसुरी प्रवृत्तिवाले अर्थात् तमोगुण के अधीन रजोगुणी लोग, भले लोगों को लूटकर खा जाएँगे।

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। मनुष्य कितनी सम्पत्ति रखे? इसका निर्णय तो वे लोग ही कर सकते हैं, जो सम्पत्ति के निर्माण की प्रक्रिया को जानते हैं और उसमें धर्म-संगत और अधर्म-संगत व्यवहार को समझते हैं। ये लोग शासन से पृथक् रहकर ही निर्णय करेंगे तो धर्म-संगत निर्णय दे सकेंगे। यदि सम्पत्ति रखने का निर्णय शासन के हाथ में होगा, तो उसके निर्णय में शासन की दुर्बलता अथवा सबलता प्रतिध्वनित हो उठेगी। जो शासन भले लोगों की सम्पत्ति की दुष्टों से रक्षा नहीं कर सकेगा वह सम्पत्ति की सीमा इतनी कम कर देगा, जिसको कोई लूटने के लिए लालायित ही न हो सके।

जैसे यह बात सम्पत्ति के विषय में कही जा सकती है, वैसे ही यह किसी की धर्म-संगत आय के विषय में भी हो सकती है। यह बात उद्योग-युग के आरम्भ में हुई थी। योरुप में जब उद्योगों में प्रगति होने लगी तो, उस समय वहाँ की सरकारें अति दुर्बल थीं और वे श्रमिकों के उचित वेतन भी उनको दिला नहीं सकीं। अतः श्रमिकों के श्रम को लूटनेवाले मनमानी करते जाते थे।

उस समय सम्पत्ति और श्रम का मूल्य निश्चित करनेवाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो इन बातों की धर्म-युक्त व्यवस्था कर सकता और फिर उस व्यवस्था को शासन में लागू करने की सामर्थ्य रखता। उस समय सरकारें दुर्बल थीं। वे उद्योगपतियों एवं व्यापारियों के आश्रय थीं। अतः उनकी इच्छा के विरुद्ध न्याय का पक्ष भी ले नहीं सकीं।

आज भी यही बात हो रही है। सरकार सर्वसाधारण के अधीन है। इसे प्रति पाँच वर्ष के उपरान्त जनसाधारण से समर्थन प्राप्त करना पड़ता है। अतः जैसी बहुसंख्यक जनता है, वैसी ही धर्म-व्यवस्था बन रही है। बुद्धिमान्, दूरदर्शी, निर्भीक, उत्साही और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेहनती कम संख्या में होने से, सरकार द्वारा बनाई धर्म-व्यवस्था, परिश्रम का मूल्य और सम्पत्ति का स्वामित्व काहिल, जाहिल और आलसी तथा भोग-विलास के इच्छुक लोगों के पक्ष में कर रही है। इस प्रकार सम्पत्ति अर्थात् परिश्रम का मूल्य सबका साँझा माना जा रहा है। यह इस कारण कि शासन धर्म-व्यवस्था देनेवाला बन रहा है और शासन ऐसे लोगों के समर्थन पर निर्भर है, जिनमें प्रायः आलसी, प्रमादी, अदूरदर्शी, अशिक्षित और बुद्धि के कोल्हू अधिक हैं।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म-व्यवस्था अर्थात् न्याय से कितना किसका है, का निर्णय न तो वे कर सकते हैं जिनके अधिकार का निश्चय करना है, न ही शासन कर सकता है जिसने शान्ति-व्यवस्था बनाए रखनी है।

मान लीजिए कि किसी नगर में लूट मच रही है। नगर के गुंडे भले लोगों को लूटने लगे हैं। वहाँ शान्ति-स्थापना के लिए पुलिस भेजी जाती है। उस पुलिस को ही न्यायकर्ता बना दिया जाता है, अर्थात् उसको यह निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाता है कि किसका क्या है। पुलिस, जिसका काम शीघ्रातिशीघ्र शान्ति-व्यवस्था स्थापित करना है, वह जो जिसका लूटकर ले गया है, लूटनेवाले का ही घोषित कर दे तो शान्ति कम-से-कम समय में स्थापित हो सकेगी।

यही बात आज भारत में हो रही है। एक समय सरकार ने तीन आदमियों का एक आयोग बनाया था, जो देश में राज्यों का पुनर्गठन करे। आयोग ने निश्चय किया कि बम्बई नगर महाराष्ट्र में जाए और हिमाचल प्रदेश पंजाब में मिला दिया जाए। नेहरू सरकार को यह समझ आया कि यह ठीक नहीं। सरकार जनता में असंतोष से डर गई और बम्बई को गुजरात में मिला दिया तथा हिमाचल प्रदेश को पंजाब में नहीं मिलाया गया। इसके उपरान्त मरहटों ने बम्बई में गुजरातियों को मारना-पीटना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बम्बई महाराष्ट्र में मिला दिया गया। इधर अकालियों ने धमकाना आरम्भ कर दिया। पंजाब का विभाजन भाषा के विचार से कर दिया और अकाली प्रसन्न हो गए।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जो संस्था शान्ति स्थापित करने के लिए नियुक्त हो, वही धर्म-व्यवस्था देनेवाली हो जाए तो धर्म-व्यवस्था उसकी इच्छानुसार दी जाने लगेगी जो शान्ति भंग करने की सामर्थ्य रखेगी। अतः यदि न्याय-अन्याय, हित-अहित, उचित-अनुचित का निर्णय शासन के हाथ में दे दिया गया तो जिसकी लाठी उसकी भैंस हो जाएगी। कुछ सहस्र गुंडे उपद्रव मचाके शासन को अपने अनुकूल व्यवस्था देने के लिए विवश कर देंगे। शासन जिस कार्य के लिए नियुक्त है, वह कार्य बलशाली और उपद्रवियों की इच्छा के अनुसार होने लगेगा।

ये सब और अनेक अन्य उदाहरण इस बात के सूचक हैं कि शासन और धर्म-व्यवस्था देनेवाले पृथक्-पृथक् होने चाहिएँ। धर्म-व्यवस्था स्थापित करनेवाले विद्वान्, चरित्रवान्, धर्म-अधर्म के ज्ञाता और निष्पक्ष व्यक्ति होने चाहिएँ। शासन उस व्यवस्था को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करनेवाला यन्त्र होना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित होता है कि कैसे उनको पृथक्-पृथक् रखा जाए? यह कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं। सब उचित और भले कार्य करने कठिन होते हैं। कठिनाई किसी उचित कार्य के करने में बाधा नहीं होनी चाहिए। भारतीय पद्धति से समाज में चार संगठन माने गए हैं: (१) धर्मशास्त्री, (२) न्यायकर्ता,ें(३) शासक, तथा (४) शिक्षक वर्ग।

पूर्ण समाज को प्रजा कहते हैं। प्रजा में से ही ये चारों संगठन बनेंगे। इनकी नियुक्ति की विधि एक-दूसरे से भिन्न है।

(१) धर्मशास्त्री तो विश्वविद्यालयों के उच्च कोटि के विद्वानों में से नियुक्त अथवा निर्वाचित होने चाहिएँ। विद्वानों की एक मतदाता-सूची बनाई जानी चाहिए। इस सूची में कौन सम्मिलित किए जा सकते हैं, संविधान में लिखा रहना चाहिए। उदाहरण के रूप में सर्वोच्च न्यायालय और सब उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश इसमें लिये जा सकते हैं। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक इसमें लिये जा सकते हैं। देश में विद्वत्ता के लिए राष्ट्रपति से पदक-प्राप्त व्यक्ति इसमें आ सकते हैं।

देश का यह विद्वत्-मंडल बीस से पचास तक सदस्यों की एक समिति निर्वाचन कर सकता है। इस समिति का काम अस्थायी धर्मों की व्यवस्था देना हो। यह व्यवस्था देश का कानून हो। इससे देश के चारों वर्णों और चारों आश्रमों का काम चले।

(२) न्यायकर्ता तो केवल कानूनी कॉलेजों के अध्यापक और प्रधानाचार्य ही निर्वाचित करें। यदि ये लोग सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों का निर्वाचन कर दें और इन मुख्य न्यायाधीशों को अपने अधीन न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार दे दें, तो भी ठीक रहेगा।

इन दोनों कार्यों के लिए निर्वाचन सर्वसाधारण के मत से नहीं होना चहिए।

(३) सर्वसाधारण को केवल शासक निर्वाचन करने का अधिकार देना चाहिए। राष्ट्रपति शासन का प्रमुख अधिकारी होना चाहिए और उसका निर्वाचन सर्वसाधारण के मतदान से होना चाहिए। राष्ट्रपति को सम्मति देनेवाले मंत्रिमंडल के सदस्यों का निर्वाचन हो सकता है। नगर-निगमों का निर्वाचन हो सकता है। राज्य-प्रमुखों का निर्वाचन हो सकता है।

यह शासन-प्रपंच न तो कानून बना सके, न ही न्यायकर्त्ता नियुक्त कर सके। यह शासन-प्रपंच धर्मशास्त्रियों से निश्चित किए विधि-विधान के अनुसार करे। इस प्रपंच के कार्य की देख-रेख भी न्यायपालिका करे।

(४) शिक्षा-संगठन इन तीनों से पृथक् होना चाहिए। यह किसी के अधीन नहीं हो सकता। यह राष्ट्रपति की देख-रेख में, परन्तु कार्य में विद्वत्-मंडल के अधीन होना चाहिए।

प्रस्तुत लेख देश के संविधान से उतना ही सम्बन्ध रखता है जितने से समाजवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धर्मवाद में अन्तर स्पष्ट हो सके। प्रजा का सीधा सम्बन्ध शासन से होता है और शासन की नियुक्ति प्रजा की रुचि और स्वीकृति से होनी चाहिए। यही युक्ति-संगत व्यवहार है। इस पर भी शासन और प्रजा दोनों धर्माधीन होने चाहिएँ। देश धर्म-व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकता।

परन्तु धर्म-व्यवस्था का निश्चय धर्मशास्त्री ही कर सकते हैं। धर्म-सभा की नियुक्ति अथवा निर्वाचन विद्वानों के अधीन ही होना चाहिए। इसके साथ ही धर्म-सभा में निर्वाचित होने के लिए कुछ योग्यता अनिवार्य होनी चाहिए।

प्रजा और शासन दोनों धर्म-व्यवस्था के अनुसार आचरण रखेंगे। इसके लिए सेना और पुलिस राष्ट्रपति के अधीन होनी चाहिए। एक सीमा तक पुलिस पर अधिकार राष्ट्रपति का हो।

न्याय-संगठन तो यह देखनेवाला संस्थान है कि देश के सब संगठन धर्मानुकूल कार्य करते हैं अथवा नहीं। धर्मशास्त्री भी अस्थायी धर्मों की व्यवस्था देते समय सनातन धर्मों का विरोध नहीं कर सकते।

यह धर्म-राज्य का एक सांकेतिक संविधान है। यह पूर्ण व्यवस्था नहीं है। इससे केवल यह स्पष्ट करना अभीष्ट है कि धर्म-राज्य का रूप किस प्रकार होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज

एक कागज पर परकार रखकर एक-केन्द्रीय घेरे बनाए जाएँ तो यह चित्र समाज का होगा। परकार की सुई व्यक्ति पर है और व्यक्ति के चारों ओर छोटे-बड़े घेरे बने हुए हैं। भीतर के सब घेरे बाहर के घेरे में ही आ जाते हैं। इन घेरों को परिवार, बिरादरी, मुहल्ला, नगर, देश और मानव नाम दिए जाते हैं। मानव-समाजरूपी कागज पर परकार से छोटे-छोटे घेरे पृथक्-पृथक् केन्द्रों से भी बनाए जा सकते हैं। ये एक-केन्द्रीय भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते। फिर भी ये सब घेरे एक बड़े घेरे में लिये जा सकते हैं। इस प्रकार बनाए हुए घेरे हो सकते हैं बालक, युवा, वृद्ध, अथवा दुकानदार, क्लर्क, कृषक, सुनार, चमार, अध्यापक इत्यादि।

अतः मानवों में कई घेरे बनाए जा सकते हैं। इनको समुदाय कहा जाता है। ये सब समुदाय एक बड़े घेरे, जिसे जाति कहा जाता है, में लाए जा सकते हैं। जातियाँ राष्ट्र में समा जाती हैं और ये सब पूर्ण मानव-समाज में। इस प्रकार मानव-समाज में कई प्रकार के घेरे समा जाते हैं।

इन घेरों में देखने की बात यह है कि ये कृत्रिम हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक घेरे में एक त्रिज्या होती है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक समुदाय में एक शर्त होती है, जो उस शर्त को पूरा करता है वह उस समुदाय के घेरे में रह सकता है।

समाज के घेरे कृत्रिम होने से समाज का रूप स्थिर नहीं हो सकता। सबसे अधिक स्वाभाविक और स्थिर घेरा परिवार का है। परन्तु उसको भी परिवार के सदस्य छोड़ते देखे जाते हैं। लोग मुहल्लों को, बिरादरियों को, नगरों को, प्रान्तों को और देशों को भी छोड़ते देखे जाते हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति पूर्ण समाज से भी उपराम होकर एकान्त गुफा-निवासी होता देखा जाता है। इन घेरों में एक वस्तु स्थिर है। वह है व्यक्ति अर्थात् केन्द्र, जहाँ परकार की सुई रखकर घेरा खींचा गया है।

जब एक परिवार का सदस्य किसी कारण परिवार को छोड़कर जाता है, तब परिवार के दूसरे सदस्य इसको बुरा मानते हैं। यही बात सब समुदायों की है। किसी भी समुदाय से जब कोई व्यक्ति उसे छोड़कर बाहर निकलता है, तब उस समुदाय के दूसरे सदस्य इसको पसन्द नहीं करते। वे उसे रोकना चाहते हैं; परन्तु मानवों का यह नियम है कि समुदाय के लोग छोड़कर जानेवाले व्यक्ति को जाने से रोक नहीं सकते। वे रोकना चाहते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब समुदाय को छोड़कर जानेवाले व्यक्ति को पीछे रहनेवाले लोग रोकना चाहते हैं तो जानेवाला व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता में बाधा मानता है। जब छोड़कर जानेवाले व्यक्ति की बुद्धि कुटिलतापूर्ण हो अर्थात् स्वार्थ और द्वेष से युक्त हो, तब तो वह राज्य से दण्डनीय हो जाता है। कारण यह है कि उसके उद्देश्य का निर्णय समाज के दूसरे व्यक्ति नहीं कर सकते। निर्णय करनेवाला संस्थान तो राज्य का न्यायाधिकरण ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी समुदाय के सदस्य किसी को बलपूर्वक अपने समुदाय में बाँधकर रख नहीं सकते।

उदाहरण के रूप में मजदूरों की एक ट्रेड यूनियन है। वह निश्चय करती है कि कारखाने में हड़ताल कर दी जाए। एक मजदूर देखता है कि हड़ताल करने का कोई भी कारण नहीं। वह हड़ताल में सम्मिलित नहीं होता। वह ट्रेड युनियन को ही छोड़ देता है। ऐसी व्यवस्था में ट्रेड यूनियन उससे विद्वेष कर उसको विद्रोही घोषित करती है। उसको हानि पहुँचाने का यत्न भी करती है। राज्य उसकी रक्षा करने के लिए बाध्य है। अर्थात् समुदाय को छोड़ने की उसकी स्वतंत्रता उसका अधिकार है।

यूनियन छोड़नेवाले व्यक्ति ने यह कार्य सात्त्विक बुद्धि से किया है अथवा राजसी बुद्धि से, इसका निर्णय तो न्यायकर्ता ही कर सकता है। वह भी छोड़कर जानेवाले व्यक्ति को केवल तब ही दण्डित मान सकता है, जब उसका कार्य तामसी बुद्धि से किया गया है। यूनियन के सदस्य तो उसको दण्ड दे ही नहीं सकते। उनका प्रयास केवल प्रेरणा और सम्मति तक ही सीमित रह सकता है।

समाज अथवा समाज े किसी अंग से बाहर हो जाने का अधिकार व्यक्ति को है। व्यक्ति की इस स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगानेवाला समाज, समाज नहीं रह सकेगा। यह तब कारागृह कहाएगा। यह इस कारण कि समाज व्यक्तियों ने बनाया है, न कि समाज ने व्यक्ति बनाए हैं।

योरुप के समाजशास्त्री इससे भिन्न विचार रखते हैं। योरुप के नास्तिक मीमांसकों के दादा अरस्तू ने यह मिथ्या उक्ति प्रचलित की थी कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है। यह बात ठीक नहीं। सामाजिकता मानवों से अधिक कई इतर जीव-जन्तुओं में देखी जाती है। चींटियों और मधु-मक्खियों में सामाजिकता मनुष्य से कहीं अधिक है।

यथार्थ बात यह है कि मनुष्य मुख्यतः सामाजिक जीव नहीं है। यह बुद्धिशील जीव है। इसकी सामाजिकता अथवा असामाजिकता इसकी बुद्धि के अधीन है। बुद्धियाँ अनेक प्रकार की हैं। विशेष रूप में उन मनुष्यों की जो संसार को ही सब-कुछ मानते हैं। ऐसे व्यक्ति भोग तथा ऐश्वर्य में लीन उक्त सुन्दर वचनों से भ्रम में पड़े हुए स्थिर बुद्धि नहीं रखते।

योरुप के समाजशास्त्री इन सांसारिक सुखों की लालसा में विचार करते हुए अनेकों वाद बना लेते हैं और फिर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं।

मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है और इसे बुद्धि स्थिर करके ही लोक-कल्याण की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करनी चाहिए। भारतीय शास्त्रों में स्थिर बुद्धि (स्थितप्रज्ञ) की बहुत महिमा कही है।

परन्तु एक विख्यात अमेरिकन समाजशास्त्री आर० एम० मेकिवर अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में लिखते हैं—

....no man is free of the need of society. When the hermit leaves the society of men he imagines he can find another society in communication with God or with 'Nature' or he is driven by some obsession to a kind of self-punishment. If he is not mad at the outset he becomes so in the end. For normal humanity must have social relationships to make life livable.[1]

'समाज की आवश्यकता से कोई मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। जब कोई साधु समाज को छोड़ता है तो वह किसी अन्य समाज के पाने की कल्पना करता है, जो परमात्मा अथवा प्रकृति की संगत में हो सकेगी। अथवा वह किसी भ्रम में फँसकर अपने को दंड का भागी बनाता है। यदि वह आरम्भ में पागल नहीं तो पीछे अवश्य ही हो जाता है। एक सामान्य मनुष्य को जीने योग्य जीवन चलाने के लिए सामाजिक सम्बन्ध बनाने आवश्यक हैं।'

समाज के विषय में योरुप के समाजशास्त्री यही धारणा रखते हैं। वे मनुष्य को समाज की उपज मानते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य समाज का बच्चा है। वे यह भी कहते हैं कि समाज के बिना वह रह नहीं सकता। उनके विचार में समाज को सुधारने से व्यक्ति सुधारा जा सकता है।

मनुष्य ने समाज तथा समाज ने समुदायों की रचना की है। इन रचनाओं में कुछ उद्देश्य रहते हैं। जब मनुष्य में राग-द्वेष के कारण उन कारणों का ही विरोध होने लगता है, जिनसे समाज का निर्माण किया गया था, तो बुद्धिशील व्यक्ति इसका त्याग कर देते हैं। प्रायः वे अपने कार्य की पूर्ति के लिए नए समुदाय-निर्माण करते हैं और कभी पूर्ण मनुष्य-समाज को मिथ्या पथगामी समझ इसको छोड़ संन्यास ले लेते हैं।

मनुष्य के लिए समाज एक आवश्यक वस्तु नहीं। हाँ, समाज के लिए उसके घटक एक आवश्यक पदार्थ हैं। अतः समाज का विचार, मनुष्य को छोड़कर नहीं किया जा सकता। मनुष्य के शारीरिक सुख-प्रसाधन आवश्यक होते हुए भी उसके मन, बुद्धि और आत्मा निरन्तर स्वतन्त्रता की खोज करते हैं। समाज इस खोज में बाधक नहीं हो सकता।

अतः समाज का ढाँचा निर्माण करते समय इसके बाहर से भीतर आने के और भीतर से बाहर जाने के द्वार बन्द नहीं किए जा सकते।

---

1. R.M. MacIver and Charles H. Page – Society (1962); p. 8.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार समाज एक खुला प्रांगण है। इसमें आने, इस समाज का लाभ उठाने की सबको स्वतन्त्रता है। यदि इस प्रांगण में किसी को दुःख अथवा कष्ट प्रतीत होता है तो वह इससे बाहर जाने की स्वतन्त्रता रखता है। अतः स्वतन्त्र प्राणियों की स्वेच्छा से सहचारिता का प्रबन्ध समाज से अपेक्षित है।

समाज और व्यक्ति

समाज एक कारागृह नहीं, अपितु यह एक खुला प्रांगण है, जिसमें आने-जाने के द्वार खुले रहते हैं। व्यक्ति समाज में अथवा समाज के किसी घेरे में जाकर रह सकता है और उससे बाहर भी आ सकता है। इस आने-जाने में एक शर्त है। समाज के प्रत्येक घेरे अर्थात् समुदाय की एक त्रिज्या रहती है। जैसे किसी घर में रहनेवाले को उसकी त्रिज्या का ध्यान रखना पड़ता है, उसी भाँति किसी समुदाय में रहनेवाले के लिए समुदाय में रहने की शर्त का पालन करना पड़ता है। शर्त का उल्लंघन करते हुए उस समुदाय में नहीं रहा जा सकता। कोई भी समुदाय यह पसन्द नहीं कर सकता कि उस समुदाय का सदस्य उसमें रहने की मुख्य शर्त का ही उल्लंघन करता रहे।

उदाहरण के रूप में इस्लाम में यह शर्त है कि हजरत मुहम्मद को पैगम्बर मानो। मुहम्मद साहब को पैगम्बर न माननेवाला इस्लाम में नहीं रह सकता। इसी प्रकार एक समय कांग्रेस ने यह निश्चय किया था कि इसका सदस्य होने के लिए एक निश्चित मात्रा में सूत कातना आवश्यक है। उस समय अनेक लोग कांग्रेस से बाहर कर दिए गए थे। कारण यह कि वे निश्चित मात्रा में सूत कात नहीं सके थे।

कांग्रेस को जीवित रहने के लिए यह शर्त भंग करनी पड़ी, अन्यथा कांग्रेस शून्य के समान होनेवाली थी। एक जीवित-जागृत समाज प्रथम तो अपनी त्रिज्या ऐसी बनाता है जिसका पालन अधिक-से-अधिक संख्या में सदस्य कर सकें। साथ ही समुदाय बनाने का प्रयोजन भी बना रहे। यदि भूल से अथवा किन्हीं कारणों से कोई ऐसा नियम बन जाए जिसका पालन करना सदस्यों को कठिन प्रतीत होने लगे, अथवा वह परिवर्तित परिस्थिति में अनावश्यक हो जाए, तो एक जीवित समाज उस उपनियम को बदल देता है। इसका एक उदाहरण हिन्दू समाज में देखा गया है। एक समय हिन्दू समाज में यह पसन्द नहीं किया जाता था कि इसके सदस्य समुद्र-पार की यात्रा करें। जब कोई ऐसी यात्रा करता था तो हिन्दू समाज उसका बहिष्कार कर देता था। उस काल में हिन्दू बने रहने के लिए इस समाज के लोग समुद्र-पार की यात्रा नहीं करते थे। भगवान् जाने कितने ही लोग इस नियम का उल्लंघन करने से हिन्दू समाज से निकाल दिए गए थे। जब हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य आया तो एक बड़ी संख्या में हिन्दू भारत से बाहर शिक्षा, व्यापार अथवा विनोद के लिए जाने लगे। विवश हिन्दू समाज ने अपने इस नियम में संशोधन किया। पहले तो बाहर जाकर लौटनेवालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया, फिर इसको भी छोड़ना पड़ा। अब हिन्दू समाज में यात्रा का प्रतिबन्ध नहीं रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह एक उदाहरण है जब जीवित समाज ने परिस्थितियों के अनुकूल अपनी त्रिज्या को बदल दिया है।

हिन्दू समाज के उक्त उदाहरण से निम्न बातों का पता चलता है—

(१) समाज में रहनेवालों के लिए कुछ शर्तें होती हैं।

(२) वे शर्तें ऐसी होनी चाहिएँ, जो सरल होती हुई भी उस समाज की विशेषता को प्रकट करनेवाली हों। सदस्यों को वे अपने हित में प्रतीत हों।

(३) समाज में रहने की शर्तों को बलपूर्वक नहीं मनवाया जा सकता। इनको मनवाने के लिए उस शर्त का युक्तियुक्त, प्रेरणात्मक और हितकर होने का समाधान कराने योग्य प्रचार होते रहना आवश्यक है।

हिन्दू समाज ने अपने में रहनेवालों के लिए बहुत कठोर शर्तें बनाई थीं। उनके बनाने में कुछ कारण रहे होंगे, परन्तु व्यक्ति परिस्थितियों से विवश होकर तथा बुद्धि से विचारकर उन शर्तों का पालन नहीं कर सके। वे समाज त्यागकर बाहर जाने लगे। हिन्दू राजनैतिक पराधीनता अथवा आलस्य, प्रमाद एवं मूर्खता के कारण न तो अपने नियमों की सार्थकता को समझा सके, न ही वे उन नियमों में उपयुक्त परिवर्तन कर सके। इस कारण समाज के सदस्य स्वयं ही नियम भंग कर इसमें रहने का हठ करते रहे। परिणाम यह हुआ है कि इस समय हिन्दू समाज की कोई त्रिज्या ही नहीं रही। न तो राजनैतिक, न ही कोई धार्मिक अथवा सामाजिक शर्त रही, जिससे कोई हिन्दू समझा जा सके।

अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होनी परमावश्यक है कि वह किसी समाज में रहे अथवा न रहे, वहाँ यह भी आवश्यक है कि समाज में रहने की कोई सरल, युक्तियुक्त और हितकारी शर्त हो जिसका एक बहुत बड़ी संख्या में लोग पालन कर सकें और पालन करते हुए सुख अनुभव करें। समाज में रहते हुए व्यक्ति को समझ आने लगे कि समाज उसके हित में है। अन्यथा, समाज विनाश को प्राप्त हो जाएगा।

अतएव मानव-समाज को अथवा किसी मानव-समुदाय को, यहाँ तक कि किसी परिवार को भी अपनी रूप-रेखा बनाए रखने के लिए अपनी एक त्रिज्या निश्चित करनी आवश्यक है, और वह त्रिज्या अर्थात् शर्त समुदाय के भीतर रहनेवालों पर बलपूर्वक थोपी नहीं जा सकती। यदि इस शर्त का पालन कराने में बल का प्रयोग किया गया तो निःसन्देह समाज विघटित हो जाएगा।

आदिकाल से ही मनुष्य ने अपने चारों ओर कई घेरे बनाए थे। अभिप्राय यह कि कई प्रकार के समुदाय बनाए। जहाँ कहीं शर्तें रखीं और उसके साथ उन शर्तों की उपयुक्तता तथा उपादेयता के समझाने का प्रबन्ध नहीं किया, तो समुदाय के सदस्यों ने समाज अथवा समुदाय के विपरीत विद्रोह किया और वह समाज अथवा संगठन ऐसे सिमट गए जैसे स्लेट पर लिखा लेख सुगमता से मिट जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में यदि बहुत प्राचीन काल से एक समाज, आर्य, भारतीय अथवा हिन्दू जीवित चला आ रहा है, तो इसमें कारण यह है कि इस समाज ने अपने में त्रिज्या ऐसी रखी हुई थी, जो लोग स्वीकार करते हुए अपना हित समझते थे। यह समाज भी उन नियमोपनियमों को हितकर सिद्ध करने में निरन्तर यत्न करता रहता था। परिणाण यह हुआ कि समाज न केवल सहस्रों वर्ष तक जीवित रहा, वरन् अति सुदृढ़ और आकर्षक बना रहा। कई ऐतिहासिक कारणों से यह न तो अपने में वह लचक रख सका, न ही अपने आधारभूत नियमों में कारण समझाने का यत्न कर सका। इसके सदस्य इसको छोड़-छोड़कर जाने लगे। समाज ने उनके छोड़कर जाने से सुख अनुभव किया। अपनी बौद्धिक दासता के कारण यह समाज अपने कठोर आवरण में सुधार नहीं कर सका। न ही उस कठोरता में युक्तियुक्त कारण अपने सदस्यों को समझा सका।

इसके दो परिणाम हुए। एक तो समाज संकुचित होने लगा। दूसरे, समाज के अन्दर छोटे-छोटे अनेकों घेरे बन गए और वे धीरे-धीरे अपने को मुख्य समाज से असम्बद्ध मानने लगे। अभिप्राय यह कि व्यक्तियों अथवा उन समुदायों ने स्वेच्छा से हिन्दू समाज के घेरे को तोड़ना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू समाज के उदाहरण देने का प्रयोजन यह है कि इससे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है। बुद्धियाँ, विशेष रूप में सांसारिक जीवों की, समान नहीं होतीं, न ही सदा समान रहती हैं। इसमें कारण यह है कि समाज एक चलायमान वस्तु है। यह स्थिर और निश्चित नहीं रह सकती।

एक दूसरी बात इससे स्पष्ट होती है कि यद्यपि समाज अपने नियमों को चालू रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करता है, इस पर भी वे नियम परिवर्तनशील होते हैं।

तीसरी बात यह है कि समाज में व्यक्तियों की बदल रही प्रवृत्तियों के अनुसार नियम बदलते रहने चाहिएँ।

चौथी बात यह कि यदि समाज में लचक नहीं रहेगी तो समाज टूट जाएगा। व्यक्ति इसके बन्धन तोड़कर निकल जाएँगे।

हमारा यह कहना है कि समाज की भारतीय मीमांसा ही ठीक है। व्यक्ति मुख्य है। भले लोगों को दुष्ट लोगों से सुरक्षित रखने के लिए ही समाज का निर्माण किया था।

दुष्ट लोगों के भी समुदाय होते हैं, परन्तु उनका नाम समाज नहीं रखा जा सकता। उनका नाम टोला (gang) होता है।

जब समाज अपने ही भले लोगों की रक्षा नहीं कर सकता तो वह विघटित हो जाता है।

जहाँ तक समाज के संगठन का सम्बन्ध है, इसके नियम-उपनियम केवल सम्मति अथवा प्रेरणा मात्र ही होते हैं। इस पर भी उनका पालन होना चाहिए। यह पालन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। जहाँ बलप्रयोग होगा, वहाँ के नियम-उपनियम एक अल्पकाल के लिए ही चल सकेंगे। तदुपरान्त समाज विघटित होने लगेगा। इसको संगठित रखने का केवल एक ही उपाय है कि समाज के घटकों में यह विश्वास बना रहे कि समाज में रहना उनके हित में है।

बल का प्रयोग समाज के नियमों में अवांछनीय है। इसमें कारण ये हैं :

(१) बल का प्रयोग सामाजिकता का विरोधी है। यह सामाजिक सम्बन्धों में कृत्रिमता उत्पन्न कर देगा। इससे सम्बन्धों में विवशता, नीरसता एवं घृणा उत्पन्न हो जाएगी।

(२) बलप्रयोग किसी भी सुधार में सफल नहीं होता। यह मानव के क्रियाकलाप को बिगाड़कर रख देता है और फिर इसका स्वाभाविक परिणाम विद्रोह होता है। राज्य के विषय में भी दण्ड का विधान अपराधों को निःशेष नहीं कर सका। इसका उस क्षेत्र में भी केवल एक प्रयोग हो सका है, वह है भले लोगों की दुष्टों से रक्षा करना। अपराधियों को जेल में डाल देने अथवा शारीरिक दण्ड देने का यही प्रयोजन है कि वे भले लोगों से दूर रखे जा सकें। दुष्टों को सुधारने में सम्मति और प्रेरणा (prescription and persuasion) ही उपाय है।

पाश्चात्य समाजशास्त्री सामाजिक नियमों में बलप्रयोग को क्षम्य मानते हैं। इसमें दो कारण हैं। एक यह कि वे समाज और राज्य को पर्यायवाची मानते हैं। वे राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज के प्रत्येक कार्य में स्वीकार करते हैं। जब वे समाज शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके मस्तिष्क में राज्य का चित्र बन जाता है। दूसरा कारण है पाश्चात्य समाजशास्त्रियों का मनुष्य में स्वतन्त्र आत्मा का न होना मानना।

ये दोनों बातें ग़लत हैं। राज्य समाज का एक अंश-मात्र है। इसका कार्य-क्षेत्र सीमित है। मानव-समाज के कार्य राज्य के कार्यों से बहुत अधिक हैं। यदि उन सब में राज्य हस्तक्षेप करेगा तो मानव की मानवता ही विलुप्त हो जाएगी।

जब और जहाँ सामाजिक सम्बन्धों में प्रेरणा को छोड़कर बल का प्रयोग किया जाएगा, सम्बन्ध बिगड़ेंगे। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि एक पुरुष का एक ही स्त्री से सम्बन्ध होना तो ठीक है, परन्तु इसको चलाने के लिए प्रेरणा और सम्मति ही ठीक उपाय है।

समाज जब बन जाता है, तो समाज अपने भीतर के घटकों को समाज से बाहर जाने की स्वीकृति नहीं देता। न ही समाज यह चाहता है कि इसके सदस्य उसके नियम भंग करें। समाज में जो लोग अधिकारी बन जाते हैं, अथवा बना दिए जाते हैं, वे घटकों को बलपूर्वक अनुशासन में रखने का यत्न करते हैं और घटक इस बल के प्रयोग का विरोध करते हैं।

यही स्थिति प्रायः संयुक्त परिवारों में देखी जाती है। जहाँ बिरादरियों का रिवाज है, वहाँ भी इस अभिरुचि के दर्शन होते हैं। इसमें हमारा मत है कि समाज के प्रयोजन को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न समझ यह दुर्व्यवस्था देखी जाती है। समाज के विषय में हम यह लिख चुके हैं कि यह स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वेच्छा से बनाया संगठन है। जब तक व्यक्ति की इच्छा संगठन में रहने की बनी रहेगी, तब तक ही यह रहेगा। जब भी व्यक्तियों को इसमें बलपूर्वक जकड़ने का प्रयत्न किया गया, तब ही इसमें विघटन आरम्भ होने लगेगा।

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों और प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों की कल्पना में अन्तर केवल इस कारण ही है कि वर्तमान युग में एक मनुष्य और प्राकृतिक पदार्थ में अन्तर नहीं माना जाता। एक पत्थर और एक युवक में समानता मानी जाती है।

मानव-समाज में समाज के नियमों का पालन बल के अतिरिक्त कैसे कराया जाए? यह प्रश्न है। इसका एक सामान्य गुर तो बताया है, वह है प्रेरणा और सम्मति। इसके अतिरिक्त भी समाजशास्त्रियों ने समाज-व्यवस्था को चलाने के लिए कई उपाय बताए हैं।

(१) **भक्ति**—यह एक उपाय है। एक व्यक्तिविशेष के लिए, किसी रीति-रिवाज के लिए, किसी विचार के लिए, परिवार में परिवार के पुरखा के लिए, बिरादरी के चौधरी के लिए, नगर अथवा देश में नेता के लिए, पंथ के गुरु या पीर के लिए भक्ति हो सकती है। हिन्दुओं में गौ-ब्राह्मण के लिए, सिखों में गुरु ग्रंथ साहब के लिए, मुसलमानों में कुरान और मुहम्मद साहब के लिए भक्ति होती है। किसी जाति की सभ्यता के लिए अथवा धार्मिक और ऐतिहासिक स्थानों के लिए भी भक्ति हो सकती है।

यह भक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्या यह बुद्धि का विषय है अथवा स्वभाव का विषय है? भक्ति के केन्द्र तथा भक्ति उत्पन्न होने में कारण पर ही इसका प्रभाव निर्भर करता है। यदि भक्ति केवल संस्कारों के कारण है, तब तो यह किसी समय भी क्षीण हो सकती है और फिर समाज की नींव खोखली हो जाएगी। उदाहरण के रूप में सूअर के प्रति भक्ति है। मुसलमानों में इसको मारना वर्जित है। इस पर भी देखा गया है कि किंचित्-सा विचार कर अकबर और जहाँगीर सूअर के शिकार पर तैयार हो गए थे। इस भक्ति में कोई युक्तियुक्त आधार नहीं था।

इसके विपरीत हिन्दुओं में राम और कृष्ण में भक्ति सहस्रों वर्षों से अक्षुण्ण चली आ रही है, और अभी ढीली होती प्रतीत नहीं होती। इसमें कारण है इन महापुरुषों के पीछे इतिहास और विचारधारा की उपस्थिति। यह जहाँ संस्कारों का विषय है वहाँ इतिहास और युक्ति का भी विषय है। यह स्थायी भक्ति और उच्च विचारों की प्रेरक होने से हितकर है।

वास्तव में हिन्दू समाज को जीवित और संगठित रखने में राम और कृष्ण के प्रति भक्ति और निष्ठा का बहुत बड़ा हाथ है। यह केवल संस्कारों का ही विषय नहीं, वरन् बुद्धि का विषय भी है।

(२) **मतान्तःप्रवेशन** (Inductrination)—इसका अभिप्राय है कि किसी बात को किसी के मन में इस प्रकार डालना कि वह उसको विचार किए बिना ग्रहण कर ले। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो शुद्ध प्रेरणा और सम्मति का ही एक रूप है।

(३) **संस्कार डालना**—बचपन से जब कोई मनुष्य किसी काम को बार-बार करता है तो वह उस काम का स्वभाव बना लेता है। तब वह उन संस्कारों से ग्रसित समाज के नियमों का पालन करता रहता है। संस्कारों में यह आवश्यक है कि संस्कारित कर्मों का समय-समय पर मनन, विवेचन और संशोधन होता रहे। नहीं तो संस्कार अच्छे होते हुए भी रूढ़िगत हो जाने से विद्रोह का विषय बन जाते हैं।

(४) **रीति-रिवाज तथा कर्मकाण्ड** (Ritual)—समाज ऐसे रीति-रिवाज स्वीकार कर लेता है जिनसे उनका संगठन बना रहता है। जैसे वैष्णवों में आरती और कीर्तन है। मुसलमानों में नमाज पढ़ने का ढंग है। इंग्लैंड में राजा के राज्यारोहण की रस्म है। किसी काल में हिन्दुओं में चोटी रखना अथवा यज्ञोपवीत पहनना था, अथवा किन्हीं सम्प्रदायों में तिलक लगाने का ढंग है।

और भी कई उपाय हैं जो समाज के संगठन को स्थिर रखने के लिए आविष्कार किए गए हैं। वास्तव में ये सब उपाय प्रेरणा और सम्मति की उपज होते हैं और इनसे ही चल सकते हैं। उदाहरण के रूप में हिन्दुओं में चोटी रखने और यज्ञोपवीत पहनने की प्रेरणा नहीं रही तो ये रिवाज भी समाप्त हो गए हैं। इन सब उपायों में समय-समय पर समाज के घटकों को यह हृदयंगम कराने की आवश्यकता बनी रहती है कि ये रीति-रिवाज समाज के घटकों के हित में हैं।

बलपूर्वक समाज के घटक को समाज में रखना और समाज के नियम भंग करने से रोकना तो समाज के हित में नहीं हो सकता।

नियम भंग करनेवाले को समाज से कैसे बाहर करना सम्भव होगा? यह समाज की अपनी परिस्थितियों अथवा उससे समाज को होनेवाले हानि-लाभ पर निर्भर करता है।

यदि मुसलमान अथवा ईसाई समाज का कोई घटक अपने समाज के नियमों का उल्लंघन करता है तो वे समाज उसे अपनी और अपने मुल्ला अथवा पादरी की सेवाओं से वंचित कर सकता है, अथवा उसके घर में किसी शादी-ग़मी के अवसर पर दूसरे घटक को जाने से मना कर सकता है। इस प्रकार के बहिष्कार को अंग्रेजी में 'सैक्शन्ज़' कहते हैं।

किसी ज़माने में हिन्दू समाज में नियम भंग करनेवाले घटकों का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो इस प्रकार के बहिष्कार इस युग में सफल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त भी, कोई समाज अपने घटकों को आज दंडित नहीं कर सकता। यदि करे तो समाज को राज्य का स्थानापन्न बनना पड़ जाएगा और यह बात राज्य स्वीकार नहीं कर सकेगा।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध स्वेच्छा का है। समाज में रहते हुए व्यक्ति के लिए समाज के नियमों का पालन उचित ही है, परन्तु जब भी किसी घटक को यह समझ आए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे नियम उसके हित में नहीं, तो उसको अधिकार होना चाहिए कि वह समाज छोड़ दे। समाज को उसके समाज छोड़ चले जाने से दुःख और असुविधा होनी स्वाभाविक है, परन्तु समाज को अपना कोप प्रकट करने का रूप क्या हो? आज सभ्य समाज में किसी भी समाज के घटक को दंड देना अथवा दंड देने के योग्य समझना केवल राज्य का अधिकार है। परन्तु राज्य तो उन अपराधों का ही दंड दे सकता है, जो सनातन अथवा सामयिक धर्मों के विरोध में किया जाएगा। किसी व्यक्ति को बाँधकर किसी समुदाय अथवा समाज में रखना राज्य का काम नहीं। राज्य समाज नहीं हो सकता। यह देश में शान्ति-व्यवस्था रखने के लिए निर्माण किया गया है।

जब राज्य ऐसे काम अपने हाथ में लेगा जिसके लिए उसका निर्माण नहीं हुआ, और उन कामों को करने के लिए वह बल का प्रयोग करेगा तो राज्यान्तर्गत लोग उस राज्य का भी विरोध करने लगेंगे। किसी समय योरुप में पोप कई देशों के राज्य-कार्यों में और व्यक्तियों के निजी सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने लगा था। राजाओं के विवाह अनियमित घोषित कर दिए जाते थे। विवाह करने अथवा विवाह-विच्छेद करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। परिणामस्वरूप पोप की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। एक बहुत बड़ी संख्या में ईसाइयों ने पोप के मत को छोड़ अपना स्वतंत्र ईसाई मत बना लिया।

मतलब यह कि समाज के किसी अंग को समाज से बाहर जाने में बाधा नहीं हो सकती। राज्य भी समाज का एक अंग माना गया है। समाज ने इसे बल-प्रयोग करने की स्वीकृति दे रखी है, साथ ही राज्य के अधिकार सीमित कर रखे हैं, अर्थात् राज्य बल का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में ही कर सकता है। जब भी यह अपने क्षेत्रों को पार करके बल का प्रयोग करेगा, इसे विद्रोह का सामना करना पड़ेगा।

यहाँ मुसलमान आए। राजनैतिक प्रभुत्ता के अतिरिक्त मुसलमान राजाओं ने यहाँ के रहनेवालों के धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। जब यह हस्तक्षेप सीमा से अधिक हुआ, देश में विद्रोह खड़ा हो गया। यह औरंगज़ेब के काल में हुआ। औरंगज़ेब ने हिन्दुस्तान के रहनेवाले हिन्दुओं को अपना मज़हब रखना दंडित करार दिया था। परिणाम यह हुआ कि देश-भर में विद्रोह खड़ा हो गया। यह ठीक है कि विद्रोह को फलीभूत होने में एक शताब्दी से अधिक समय लग गया। यह विद्रोहियों में संगठन की कमी के कारण था। परन्तु विद्रोह हुआ और एक प्रबल विद्रोह हुआ।

कभी ऐसा भी होता है कि राज्य सेना के सुसंगठित होने से पूर्ण समाज पर अथवा उसके पूर्ण कार्यों पर आधिपत्य जमा लेता है और विद्रोहियों को सफल होने में प्रबल बाधा खड़ी कर देता है। ऐसी स्थिति में समय पाकर विद्रोह भी प्रबल हो उठता है। क्रिया के समान ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। इसका उदाहरण सन् १९६५ की इण्डोनेशिया की क्रान्ति में देखा जा सकता है। कम्युनिस्ट अधिकारियों ने वहाँ सेना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल से अपना प्रबल आधिपत्य जमा रखा था। यहाँ तक कि लोगों का दिन-प्रतिदिन का व्यवहार भी दूभर होता चला जाता था। परिणामस्वरूप लाखों कम्युनिस्टों की हत्या हो गई और तब जाकर ही शान्ति स्थापित हो सकी।

राज्य के अतिरिक्त भी, कभी किसी समुदाय में विद्रोहियों की संख्या कम होती है और समुदाय के नियम माननेवालों की संख्या बहुत अधिक। ऐसी अवस्था में यह और भी अधिक आवश्यक हो जाएगा कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करें। दोनों अपने-अपने मार्ग पर चलते हुए एक-दूसरे के लिए केवल सम्मति और प्रेरणा का ही उपाय प्रयोग करें। वे एक-दूसरे पर बल-प्रयोग का प्रयत्न न करें।

जीवन का यह ढंग सर्वथा भारतीय है। हिन्दू समाज में यह अनन्त काल से चला आ रहा है। सबको अपने विचार और आचरण में स्वतन्त्रता है। इसमें शर्त यह है कि जो व्यवहार कोई अपने लिए पसन्द करता है, वैसा ही व्यवहार वह दूसरे के प्रति रखे।

हिन्दू समाज का यह वचन है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'पूर्ण धर्म का यह सार है। इसको सुनो और धारण करो। जो अपने प्रतिकूल है वह दूसरों के प्रति व्यवहार में न लाओ।'

यह सिद्धान्त समाज में रहने अथवा समाज से निकलने में पथ-प्रदर्शक है।

समाज और राज्य

समाज ने अपने में शक्ति का निर्माण किया था। इस शक्ति के निर्माण से प्रयोजन यह था कि समाज की (भले लोगों की) दुष्टों से रक्षा की जा सके। यह शक्ति राज्य कहलाई।

वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम्।[1]

अर्थात्—प्रजा की रक्षा से बढ़कर राजा के लिए और कोई धर्म ही नहीं है।

और भी लिखा है—

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः॥[2]

अर्थात्—प्रजा की रक्षा में यदि राजा के प्राण भी चले जाएँ, तो भी यह कार्य उसके लिए महान् धर्म है। राजाओं का यही व्यवहार है।

ऐसा प्रजारक्षक राजा जहाँ न हो, वहाँ नहीं रहना चाहिए। यह भी महाभारत का

---

१. म० भा० शा० ५७-१४
२. वही, ५८-२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वचन है—

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।[1]

भले लोगों की रक्षा के लिए राज्य को क्या-क्या करना चाहिए? यह ही विचारणीय बात है। जो कुछ भी करना पड़े वह राज्य करे। परन्तु ऐसा करने के लिए राजा सदा ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों के आदेश से कार्य चलाए।

महाभारत में राजा पृथु कहता है—

इससे एक बात यह स्पष्ट हो गई कि ब्राह्मण (विद्वान्) तथा ब्राह्मणों का निर्माण राजा तथा राज्य के अधीन नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार राजा (राज्य) के अधीन देश की अर्थ-व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थ-व्यवस्था में अर्थ-उपार्जन और अर्थ-वितरण की बात आती है।

राजा को धन की उपलब्धि का यह प्रकार बताया है—

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥[2]

अर्थात्—बुद्धिमान् राजा को प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिए आय का छठा भाग कर के रूप में लेना चाहिए।

और भी लिखा है—

बलिषष्ठेन शुल्केन दंडेनार्थापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥[3]

अर्थात्—प्रजा की आय का छठा भाग कर लेकर, अपराधियों को आर्थिक दंड देकर तथा शास्त्रानुसार व्यापारियों की रक्षा करके उचित रक्षा का मूल्य प्राप्त कर राजा धन-संग्रह करे।

अर्थात् राजा शासन करे भले लोगों की रक्षा के लिए, और शस्त्रास्त्र धारण करे पापियों को दण्ड देने के लिए। इन दो कार्यों के निमित्त जो कुछ भी करणीय है, करे।

इस कार्य के निमित्त राजा सेना, संरक्षक, सुभट्ट नियुक्त करे। राज्य-कार्य एवं आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए उसको धन संचय करना चाहिए; न्याययुक्त शासन के लिए निष्पक्ष न्यायकर्ता नियुक्त करने चाहिएँ; सबसे अधिक, धर्म की विवेचना के लिए धर्मशास्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए।

यह एक अतिसंक्षिप्त झलक राज्य-प्रणाली की लिखी है। राजा राज्य का प्रतीक है। प्रजा-पालन के लिए उसकी सृष्टि हुई है। ब्राह्मण-वर्ग राजा का परामर्शदाता है। ब्राह्मण का अर्थ विद्वानों से है। धनोपार्जन करनेवाला वैश्य कहाता है। उससे राजा आय का छठा भाग कर ले। न्यायकर्ता, राजा और राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हो और ब्राह्मण-निर्माण

---

१. म०भा० शां० ६७-५
२. वही, ६९-२५
३. वही, ७१-१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कार्य भी राजा तथा राज्य के हाथ में न हो।

महाभारत के भीष्म पर्व के अध्याय ६९ में राजा (राज्य) द्वारा करने योग्य कार्यों की सूची लिखी गई है। वह हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ लिख देना चाहते हैं—

(१) राजा अपने मन एवं शरीर पर नियन्त्रण रखे। जो राजा अपने-आपको नहीं जीत सकता, वह शत्रुओं को क्या जीतेगा! अर्थात् राजा अथवा राज्याधिकारी को संयमी होना चाहिए।

(२) किलों (छावनियों) में, राज्य की सीमा पर अथवा नगरों में खुले स्थानों पर सेना रखनी चाहिए। पड़ावों पर, नगरों में, राज्य-भवन में तथा उसके आसपास सेना रखनी चाहिए।

(३) भलीभाँति परीक्षा किए हुए बुद्धिमान् परन्तु गूँगे, अन्धे, और बहरे (अर्थात् अपने कार्य से सम्बन्ध न रखनेवाली बातों के विषय में मौन, न देखने और सुननेवाले) लोग गुप्तचर के रूप में नियुक्त करे। ये गुप्तचर मन्त्रियों और राजा के मित्रों पर भी काम करें। वे गुप्तचर जहाँ अपने राज्य और अपने नागरिकों पर नियुक्त हों, वहाँ शत्रुओं की गतिविधियाँ जानने के लिए भी नियुक्त किए जाएँ।

(४) अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण जो दण्ड-नीति में निपुण हों, उनको मन्त्री बनाए। प्रत्येक कार्य में प्रथम नीतिशास्त्र के तत्त्वों को जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणों से राय करे, तब नीतिज्ञ क्षत्रियों से अभीष्ट कार्य के विषय में पूछे, तदनन्तर अपने (राज्य के) हित में लगे वैश्य एवं शूद्रों से विचार-विनिमय करे। तब कार्य करे।

(५) अपनी दुर्बलता का शत्रु को पता चलने से पूर्व ही संधि कर लेनी चाहिए। यदि इस संधि से कोई कार्य सिद्ध होता हो तो यह और भी आवश्यक है।

(६) गुणवान्, उत्साही, धर्मज्ञ तथा साधु पुरुषों को सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा (राज्य) बलवान् राज्यों के साथ सन्धि स्थापित करे।

(७) यदि पता चले कि कोई हमारा (राज्य का) उच्छेद कर रहा है तो बुद्धिमान् राजा उसका और उसमें कोई राज्याधिकारी हो तो तुरन्त उसका सर्वनाश कर दे।

(८) राजा न तो किसी का उपकार करे, न किसी का अपकार करे। जिसका उच्छेद करना भी आवश्यक न हो, उसकी भी उपेक्षा करे।

(९) बल और पराक्रम से हीन राजा (राज्य) भी अपने से अत्यन्त शक्तिशाली नरेश (राज्य) के अधीन कभी न रहे। उसे चाहिए कि गुप्त रूप से प्रबल शत्रु को क्षीण करता रहे।

(१०) राज्य का हित चाहनेवाले राजा को सदैव युद्ध को टालने का प्रयत्न करना चाहिए। साम, दाम, भेद इन तीनों उपायों का प्रयोग करे।

(११) प्रजा से उनकी रक्षा के निमित्त आय का छठा भाग कर ले। मत्त, उन्मत्त, दस्यु, तस्कर, प्रतारक, शठ, लम्पट, जुआरी, कृत्रिम (छली), घूसखोर—इन दस प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपराधियों से दण्ड-कर प्राप्त करे और उसे पुरवासियों (भले लोगों) की रक्षा के लिए प्रयोग करे।

(१२) राजा अपनी प्रजा को पुत्र-पौत्रों की दृष्टि से देखे, परन्तु जब न्याय करने का अवसर आए तो किसी का पक्षपात न करे।

(१३) न्याय करते समय वादी-प्रतिवादी की बातों को सुनने के लिए अपने पास सर्वदर्शी विद्वान्-पुरुषों को बैठाए। शुद्ध न्याय पर ही राजा की प्रतिष्ठा है।

(१४) सोने आदि की खान, नमक, अनाज आदि मण्डियों पर, नाव-घाट तथा हाथियों के यूथ इत्यादि, इन सब स्थानों पर अपना (राज्य का) हितचिन्तन करनेवाले विश्वसनीय पुरुषों को नियुक्त करे।

(१५) राजा (राज्य) को किसी का वित्त (आय का स्रोत) छीनना नहीं चाहिए।

इस प्रकार राजा अथवा राज्य के करने योग्य कार्य बताए हैं। इनमें ध्यान रखने योग्य बात यह है कि राजा अथवा राज्य को स्वयं ब्राह्मण तथा वैश्य बनने के लिए नहीं लिखा।

इसके विपरीत भारतीय नीतिशास्त्र में लिखा है—

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्॥[1]

अर्थात्—क्षत्रिय दान तो करे, परन्तु किसी से याचना न करे। स्वयं यज्ञ करे, परन्तु दूसरे से यज्ञ न कराए। स्वयं अध्ययन तो करे, परन्तु अध्यापक न बने। प्रजाजनों का सब प्रकार से पालन करे और लुटेरों, डाकुओं का वध करने के लिए तैयार रहे।

और भी लिखा है—

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥[2]

अर्थात्—राजा समस्त प्रजाओं को अपने-अपने धर्मों में स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कार्यों का अनुष्ठान करावे।

यह है राज्य की भारतीय कल्पना।

परन्तु आज समाजशास्त्री समाज और राज्य का सम्बन्ध इससे भिन्न मानते हैं। वर्तमान युग में दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक विचारधारा समाजवादियों की है। उनका कथन है कि राज्य पूर्ण समाज की प्रतिनिधि संस्था होने से समाज के पूर्ण कार्यों पर अधिकार रखता है। दूसरी विचारधारा है व्यक्ति की स्वतन्त्रता के उपासकों की। वे समझते हैं कि राज्य भी मानवों का अनेक समाजों में एक समाज है। जैसे मानवों के

---

१. महा० भा० शा० ६०-१३, १४।

२. म० भा० शा० ६०-१९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक समाज का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र है, वैसे ही राज्य का भी एक क्षेत्र है।

यह दूसरी विचारधारा सिद्धान्तरूप में राज्य की भारतीय कल्पना से मिलती-जुलती है। यद्यपि दोनों में अन्तर है, परन्तु वह अन्तर इस सिद्धान्त में नहीं; वह राज्य के कार्य-क्षेत्र की व्याख्या में है। व्याख्या में भी अन्तर आज मनुष्यों में यातायात के तथा विचार-विनिमय के साधनों में विकास हो जाने के कारण उत्पन्न हुआ है।

समाजवादियों की राज्य-सम्बन्धी विचारधारा के विषय में हम समाजवाद के सिद्धान्त एवं व्याख्या के विषय में लिखते समय बताएँगे। यहाँ हम वर्तमान युग के व्यक्तिवादियों की बात लिख रहे हैं, जिससे पाठक भली-भाँति वर्तमान-युगीन राज्य की तुलना भारतीय राज्य की कल्पना से कर सकें।

राज्य सांस्कृतिक संस्थान नहीं हो सकता।

उदाहरण के रूप में राज्य किसी राज्य में रहनेवाले लोगों से एक भिन्न वस्तु मानी जानी चाहिए। जब हम कहते हैं कि भारत ने पश्चिमी जर्मनी से इतने करोड़ रुपए के ऋण की सन्धि की है तो हमारा अभिप्राय भारत के राज्य से होता है। परन्तु जब हम कहते हैं कि भारत यौन-सम्बन्धों की पवित्रता और स्थिरता में विश्वास रखता है तो हमारा अभिप्राय भारत राज्य से पृथक्, भारत में रहनेवाले समाज से होता है। राज्य ने तलाक का कानून पास किया है, परन्तु यह भारत के रहनेवालों की संस्कृति का प्रतीक नहीं भी हो सकता।

भारतीय मत यह है कि जो संस्कृति बुद्धिशील अथवा ब्राह्मणवर्ग निर्माण करता है, राज्य का कार्य उसका प्रसार करना है। राज्य इन कार्यों में संस्कृति का निर्माता नहीं हो सकता, न होना चाहिए। यही अभिप्राय है राजा से ब्राह्मणवर्ग को वन्दनीय मानने का।

वर्तमान युग के समाजशास्त्री राज्य के सुधारक होने में आपत्ति इस कारण करते हैं कि—

(१) राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज के क्षेत्र से छोटा होता है। समाज में कई संस्थान हैं जो राज्यान्तर्गत नहीं आ सकते। उदाहरणतया परिवार है, पन्थ, मज़हब, मज़हबी स्थान हैं; इतिहास का ज्ञान-प्रसार है; ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र है।

(२) राज्य समाज में बलप्रयोग का एकमात्र साधन है।

राज्य का प्रभाव शक्ति होता है। इस कारण इसकी प्रेरणात्मक शक्ति सीमित होती है। समाज के दूसरे संस्थान अपनी बात प्रेरणा और सम्मति (persuasion and prescription) से मनवाते हैं। परन्तु राज्य की बात मनवाने के लिए पुलिस और सेना होती है। इस कारण समाज के प्रायः कार्यों में राज्य एक अनुपयुक्त साधन है। समाज के प्रायः संस्थान, स्वतन्त्र मानवों के स्वेच्छा से मिल बैठने के स्थान हैं।

इस कारण यह आवश्यक है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र उन बातों तक ही सीमित रहे, जिनको करने के लिए बलप्रयोग की आवश्यकता हो। उदाहरण के रूप में चोरों को पकड़कर दण्ड देना राज्य का कार्य है, परन्तु एक विद्यार्थी अर्थशास्त्र पढ़े अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसायनशास्त्र पढ़े, यह बताना राज्य का कार्य नहीं। और यह बताना भी राज्य का कार्य है कि किसी नगर में कोई सड़क पर न सोए; परन्तु कोई मकान की छत पर सोए अथवा छत के नीचे सोए, इस विषय में राज्य विधान नहीं बना सकता।

राज्य सब कार्य नहीं कर सकता। यह क्या कर सकता है ? उस सन्दर्भ में कामों की श्रेणियाँ बना दी गई हैं। उदाहरण के रूप में राज्य ही समाज में शान्ति-व्यवस्था स्थापित कर सकता है। राज्य ही धर्म स्थापित कर सकता है। सर्व-साधारण के कामों के संचालन के नियम राज्य ही बना सकता है। सब मानवों को समान मिलनेवाली सुविधाएँ राज्य ही दिला सकता है। सब के साँझे कर्तव्य और नियम राज्य ही नियत कर सकता है। सबके लिए समान अवसर राज्य ही दिला सकता है। देश में वजन, लम्बाई इत्यादि के सर्वमान्य माप-दण्ड राज्य ही स्थिर कर सकता है। निम्नतम जीवन-स्तर का निश्चय भी राज्य ही कर सकता है। अधीनस्थ अधिकारियों के अधिकार राज्य ही नियत कर सकता है। समाज के भिन्न-भिन्न संस्थानों में ताल-मेल राज्य ही बैठा सकता है।

संक्षेप में, राज्य जनता में शांति-व्यवस्था स्थापित रखने के लिए वचनबद्ध है।

भारतीय विचारधारा में राज्य को धर्म की स्थापना के निमित्त माना गया है। धर्म मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों की रूप-रेखा बाँधता है।

दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जो राज्य दूसरों से अधिक योग्यता से कर सकता है। इनमें वे कार्य आते हैं जो नागरिक जीवन के लिए करने आवश्यक हैं और जो निजी उद्योग के आश्रय सुचारु रूप से नहीं चल सकते। इन कामों को अनिवार्य सेवाएँ (essential services) कहते हैं। उदाहरण के रूप में नगर में सफाई का प्रबन्ध, जल, वायु, बिजली, सड़कों को कार्य-रूप में रखना इत्यादि काम हैं। इसी प्रकार के कामों में छोटे बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा भी आ सकती है। ये कार्य दूसरे लोग कर तो सकते हैं, परन्तु राज्य कुशलता से करेगा।

तीसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जिनके लिए उपयुक्त कार्यकर्ता नहीं हैं। उदाहरणतया व्यापार, उद्योग, सामाजिक-सम्बन्ध (पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र एवं शत्रु-शत्रु में), मानव की उच्च आकांक्षाओं के लिए उच्च शिक्षा, विशेषज्ञों का निर्माण इत्यादि। ये कार्य राज्य कर तो सकता है, परन्तु राज्य इन कामों के करने के योग्य नहीं है। वह इन कामों को अयोग्यतापूर्ण ढंग से ही करेगा।

चौथी श्रेणी उन कार्यों की है, जिनमें राज्य हस्तक्षेप कर हानि कर सकता है। उदाहरणतः मनुष्यों की विचार करने की सामर्थ्य; विचार-प्रसार की सुविधा; मनुष्य की मन को अधीन रखने की सामर्थ्य; मनुष्य की मानसिक और शारीरिक सफाई तथा चरित्र-निर्माण, मोक्ष-प्राप्ति के उपाय, (मत, पंथ) इत्यादि।

इस प्रकार राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या हो, इसका निर्णय किया जा सकता है। राज्य की भारतीय कल्पना में राज्य को धर्म-व्यवस्था स्थापित करने के निमित्त लिखा है। धर्म उन कार्यों को कहते हैं जिनमें मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध बनता है। परन्तु राज्य को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-निर्माता नहीं माना, अपितु इसको धर्म-व्यवस्थापक ही माना है।

राज्य समाज की प्रत्येक गतिविधि में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रखता। समाज राज्य से बड़ा है। राज्य समाज में सर्वाधिकार-सम्पन्न संस्थान हो नहीं सकता।

यह प्रश्न सदा से चला आ रहा है कि राज्य पर नियंत्रण कैसे रखा जाए? जब किसी को सेना तथा पुलिस रखने की स्वीकृति मिल सकती है और वर्तमानयुगीन विज्ञान से निर्मित शस्त्रास्त्र, सेना और पुलिस के हाथों में पहुँच जाते तो फिर देश में समाज उस सेना के स्वामी की दया पर निर्भर हो जाता है। तो फिर किस प्रकार राज्य पर नियंत्रण रखा जाए कि वह अपने अधिकारों की सीमा से बाहर न निकल सके?

मंत्रिमंडल, प्रजा के संगठन, संसद, विधानसभाएँ इत्यादि राज्य पर नियन्त्रण के निमित्त ही होती हैं।

उदाहरण के रूप में जब संसद दण्ड-विधान में यह स्वीकार करती है कि चोर को सात वर्ष तक के कारावास का कठोर दण्ड दिया जा सकता है तो संसद वास्तव में राज्याधिकारियों की सामर्थ्य पर सीमा बाँधती है, अर्थात् वे सात वर्ष से अधिक उस अपराध का दण्ड नहीं दे सकते। इसी प्रकार दूसरी बातों में भी समझ लेना चाहिए।

कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य सर्वाधिकार-सम्पन्न संस्था नहीं है। इसके अधिकारों की सीमा है और वह सीमा कौन बाँधे, कैसे बाँधे और क्या बाँधे, यह समय और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

राज्य समाज का एक अंगमात्र है। राज्य के अधिकार की सीमा होती है। समाज राज्य से विशाल है। राज्य का कार्य शान्ति-व्यवस्था बनाए रखना सर्वोपरि है। शान्ति-व्यवस्था भले लोगों को पकड़कर जेल में बंद कर रखने से सहज ही हो सकती है, परन्तु ऐसी शान्ति-व्यवस्था से राज्य का कर्त्तव्य-पालन नहीं होता। अतः शान्ति-व्यवस्था के साथ न्याययुक्त विशेषण लगाना अत्यावश्यक है। शान्ति न्याय-संगत होनी चाहिए। यदि किसी व्यवस्था से अन्याय की सृष्टि होती है, तो वह शान्ति नहीं कही जा सकती।

राज्य का कार्य न केवल राज्यान्तर्गत शान्ति और न्याय की व्यवस्था स्थापित करना है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना है।

जैसे राज्यान्तर्गत शान्ति न्याय से पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी शान्ति और न्याय साथ-साथ ही चलने चाहिएँ। अन्याय-युक्त प्रबन्ध शान्ति स्थापित नहीं कर सकते।

राज्यान्तर्गत, शान्ति और न्याय के उदाहरण तो नित्य देखने को मिलते हैं। भारत में ही देखें। जब अधिक हल्ला करनेवालों को प्रसन्न करने के लिए शांति-प्रिय लोगों को दण्डित किया जाता है, तो जो अस्थायी रूप में शांति स्थापित होती है, वह विस्फोटक बन अशांति में प्रकट होती है।

अंग्रेजी-हिन्दी के प्रश्न पर दक्षिण में हुए दंगे-फसाद इस बात का उदाहरण हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय और शान्ति का परस्पर मेल हो। यहाँ हम हिन्दी-अंग्रेजी के विवाद में पड़ना नहीं चाहते, परन्तु हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि भारत में राष्ट्र-भाषा कौन-सी हो और क्या हो, यह दो-चार के अपने को आग लगाकर जल मरने से सिद्ध नहीं होती। इसका निर्णय करने के लिए अधिक-से-अधिक छः मास लगने चाहिए थे। इसका निर्णय करने के अधिकारी भाषा-विशेषज्ञ ही हैं।

इसमें निर्णायात्मक बात है शिक्षा के माध्यम की। जो भाषा शिक्षा का माध्यम होगी, वह निर्विवाद रूप में सरकारी काम-काज की भाषा होगी। यदि सरकारी भाषा आज जनता की बोल-चाल की भाषा होगी तो शिक्षा का माध्यम भी वही होनी चाहिए।

कुछ भी हो, इसका निर्णय किसी के जल मरने से नहीं हो सकता। कारण यह कि जल मरना न्याय का लक्षण नहीं।

यही बात पंजाबी सूबा की है। एक के जल मरने से सरकार का रक्त-चाप बढ़ जाना न्याय का सूचक नहीं। इस सबका एक ही परिणाम निकलता है कि भारत सरकार शान्ति और न्याय को पृथक्-पृथक् रखकर विचार करती है और शान्ति बनाए रखने के लिए न्याय, सत्य इत्यादि धर्म-लक्षणों की हत्या करने के लिए तैयार हो जाती है।

यही बात अनतर्राष्ट्रीय जगत् में भी हो सकती है। उदाहरण के रूप में कश्मीर के विषय पर सुरक्षा परिषद् का व्यवहार जो १९४८ से १९६५ तक रहा, न्याय और शान्ति को पृथक्-पृथक् देखने का परिणाम है।

स्वेज़ नहर के विषय में श्री जवाहरलाल नेहरू, अमेरिका तथा रूस का व्यवहार भी न्याय और शान्ति को पृथक्-पृथक् कर देखने का परिणाम है।

देश के अन्दर तथा बाहर शान्ति-व्यवस्था न्याय-संगत ही हो सकती है। राज्य का यह काम है कि वह इसको स्थापित करने में यत्नशील रहे।

रांज्यान्तर्गत गुण्डों एवं बदमाशों को पकड़ने के लिए पुलिस अभियान चलाती है। उदाहरण के रूप में पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरो के हत्यारों को पकड़ने के लिए पुलिस को भारी अभियान चलाना पड़ा था। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय गुण्डे राज्यों को नियंत्रण में रखने के लिए भी भले राज्यों को अभियान चलाने चाहिएँ। इन अभियानों का नाम युद्ध है। ये युद्ध (Wars) पाप नहीं हैं। ये इतने ही पुण्य हैं, जितने किसी हत्यारों के दल को पकड़ने के लिए लाठियाँ, बन्दूकें और आँसू लानेवाली गैस के गोले लेकर चलाया पुलिस का अभियान।

यह ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कोई एक राष्ट्र अकेला शान्ति-व्यवस्था तथा न्याय स्थापित नहीं कर सकता। इस पर भी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का दृष्टिकोण केवल शान्ति स्थापित करना नहीं हो, वरन् न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना हो।

युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आवश्यक घटनाएँ हैं। जब-जब भी इसका उद्देश्य न्याय-संगत शान्ति स्थापित करना होता है, तब-तब ही युद्ध में विजय प्रगति की प्रतीक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट

वेद ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है, जो ईश्वर की कृपा से आदिकाल में उत्पन्न हुए कुछ ऋषियों के मन में प्रस्फुरित हुआ। उन ऋषियों ने यह ज्ञान मानवीय भाषा में प्रसारित किया जिससे मनुष्य इस ज्ञान से लाभ उठा सके।

यह ज्ञान आदिकाल से भारतवासियों के पास धरोहर के रूप में है और जब तक यह ज्ञान भारतवासियों के पास है, भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हो सकती।

इस तथ्य को अंग्रेजों ने समझा और भारत की संस्कृति को नष्ट करने के लिए इस धरोहर को विकृत करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। वेदों को गडरियों के गीत मात्र कहते हुए इसकी विकृत विवेचना की। हमारा इतिहास जो इस ज्ञान का साक्षी है, उसके विकृत करने का प्रयास आरम्भ कर दिया।

श्री गुरुदत्त जी ने अपनी रचनाओं में जहाँ वेदज्ञान पर सप्रमाण प्रकाश डाला है वहाँ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पाश्चात्य इतिहासकारों ने जानबूझकर हमारे इतिहास को विकृत किया है। इसमें अंग्रेजों का आशय यह था कि भारतवासियों को अनपढ़, मूर्ख तथा अनभिज्ञ सिद्ध किया जा सके। उनका यह भी प्रयास था कि भारत में उनकी शिक्षा द्वारा शिक्षित एक ऐसी श्रेणी तैयार की जाए जो उनकी शिक्षा से शिक्षित होकर अपने ही देशवासियों को कुशिक्षित करे। उनका यह प्रयास सफल हुआ है और परिणामस्वरूप उस श्रेणी के अधिकारीगण आज उसी कुशिक्षा का व्यापक प्रसार तथा प्रचार कर रहे हैं और अरबों रुपये इस कुशिक्षा पर व्यय कर सारे समाज को न केवल भ्रमित कर रहे हैं प्रत्युत जानबूझकर भारतीय संस्कृति को नष्ट कर एक नई संस्कृति का निर्माण कर रहे हैं। वे धर्मशास्त्रों की मिथ्या विवेचना कर रहे हैं, नया इतिहास लिख रहे हैं, धर्म के मिथ्या अर्थ लगाकर उस धर्म को नष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। धर्म-निरपेक्षता के लुभावने रूप को दिखाकर आचारविहीन समाज का निर्माण कर रहे हैं। यही कारण है कि आज सारा भारत देश भौतिकवाद को स्वीकार कर अर्थ का दास बन गया है। भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार में फँस रहा है और विचित्र बात यह है कि इसी में प्रगति समझ रहा है।

धर्मविहीन राजनीति गन्दगी का तालाब बन गई है और जिस प्रकार मैले का कीड़ा मैले में आनन्द अनुभव करता है, यही स्थिति आज समाज की बनती जा रही है।

श्री गुरुदत्त जी ने अंग्रेजों के दुष्प्रयास तथा उनकी मानस सन्तान के कुप्रयासों पर लेखनी उठाई है। अगले कुछ लेख उनकी ऐसी रचनाओं के प्रतिनिधित्व के रूप में हम प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे पाठक हमारे साहित्यकार के शुभ प्रयासों का अनुमान लगा सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमादित्य साहसांक

गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य साहसांक था, जिसका संवत्, विक्रमी संवत् के नाम से उत्तरी भारत, राजस्थान, मालवा इत्यादि प्रदेशों में प्रचलित है।

भारतवर्ष के प्रायः इतिहास-लेखक, जिनको यूरोपियन लेखकों से प्रेरणा मिली है, संवत्-प्रवर्तक विक्रम को ऐतिहासिक पुरुष मानते ही नहीं। वास्तव में वे मानसिक दासता में फँसे हुए, मिथ्या पथ के पथिक ही हैं।

इस समय हमारे सम्मुख इतिहास के तीन ग्रन्थ हैं—१. प्राचीन भारत का इतिहास, लेखक डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी।

२. A New History of Indian People, प्रकाशक भारतीय इतिहास परिषद्। यह परिषद् बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने सन् १९३७ में स्थापित की थी। इस इतिहास-ग्रन्थ के Vol. VI में गुप्त साम्राज्य का वर्णन है।

३. भारतवर्ष का इतिहास—आर्य युग से गुप्त साम्राज्य के अन्त तक, लेखक पण्डित भगवद्दत्त, बी० ए०, दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर के अनुसन्धान विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष।

इन तीनों ग्रन्थों में प्रथम दो पुस्तकों के लेखक यूरोपियन लेखकों की शैली तथा प्रेरणानुसार लिखनेवाले हैं। इनमें डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी तो कहीं-कहीं भारतीय सामग्री को भी मान्यता देते हैं, इस पर भी इनके लिखे इतिहास का आधार पूर्णतः यूरोप के लेखकों के लेख एवं अनुसन्धान ही हैं। A New History of Indian People के लेखक श्री रमेशचन्द्र मजूमदार, M.A., Ph. D., P.R., A.S.B. तथा श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर, M.A., L.L.B., D.Litt. तो सर्वथा यूरोपीय लेखकों को ही प्रमाण मानते हैं।

पण्डित भगवद्दत्त दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर के अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। पण्डितजी पूर्णतया भारत के लेखकों तथा पुराणादि ग्रन्थों के आधार पर ही अपना अनुसन्धान चलाते हुए इतिहास लिखते रहे हैं। स्वाभाविक रूप में पण्डित भगवद्दत्तजी के लेख अधिक विश्वसनीय हैं। किसी देश का इतिहास उस देश के विद्वानों द्वारा लिखे ग्रन्थों एवं प्रचलित परम्पराओं की अवहेलना करके नहीं लिखा जा सकता। विदेशों से कुछ काल के लिए आए यात्री, देश की भाषा और वाङ्मय से अनभिज्ञ तथा देश की परम्पराओं को जानने तथा समझने में अशक्त, भला उस देश का क्या इतिहास लिखेंगे? देश के इतिहास को समझने में अपने पुराणादि शास्त्र अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाणिक मानने होंगे और विदेशों में बैठ, सुनी-सुनाई बातों पर कल्पना के सूत्र खींचने वालों को अमान्य ही करना होगा।

इन भारतीय प्रमाणों के आधार पर ही हम संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य साहसांक तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

पूर्व इसके कि हम अपनी धारणा के विषय में युक्ति तथा प्रमाण उपस्थित करें, हम विदेशी आधारों पर भारत का इतिहास लिखनेवालों की अल्पज्ञता के विषय में उनका एक हास्यास्पद उल्लेख कर देना चाहते हैं। श्री मजूमदार तथा श्री अल्तेकर अपने उक्त इतिहास के ग्रन्थ में लिखते हैं—

> "With the accession of Samudra Gupta, our knowledge of the political history becomes fuller and more precise. This is due to a large number of records, engraved on stone and copper during the reign of this monarch."
>
> (A New History of Indian People, Vol. VI, page 136)
>
> अर्थात्—समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय से भारत के राजनैतिक इतिहास का हमारा ज्ञान अधिक विस्तृत और ठीक हो जाता है। यह इस कारण कि इस सम्राट् ने पत्थर तथा ताम्रपत्रों पर 'बहुसंख्या में लेख' लिख छोड़े हैं।

अब तनिक इस 'बहुसंख्या में लेख' की व्याख्या पढ़ लीजिए। इसी पृष्ठ पर कुछ पंक्तियाँ आगे चलकर ये महानुभाव लिखते हैं—

> "Of Samudra Gupta himself, we possess two records on stone and two on copper. The first two bear no dates, but the others are dated respectively 5 and 9. The genuineness of these two dated copper-plates has been doubted by many....."
>
> अर्थात्—समुद्रगुप्त के अपने दो तो पत्थर पर खुदे लेख मिलते हैं और दो ताम्रपत्रों पर। इनमें से दो पर तो तिथि ही नहीं है और दो पर संवत् ५ तथा ९ लिखा है। इन दो ताम्रपत्रों की सचाई पर, जिन पर संवत् लिखे हैं, बहुत-से लोग सन्देह करते हैं।

पाठक इन दिग्गज इतिहास-लेखकों की 'बहुसंख्या में लेख' की सचाई समझ सकते हैं। इन लँगड़े-लुंजे प्रमाणों के आधार पर ये लोग भारत का इतिहास लिखना चाहते हैं! इनकी अपनी धारणाओं के विपरीत पचासों ग्रन्थों के प्रमाण ये स्वीकार ही नहीं करते। कहीं-कहीं कुछ मुद्राएँ निकल आने से ये इतिहास में चिप्पियाँ लगाने का यत्न करते रहते हैं।

जिस देश में सोना भारी मात्रा में विद्यमान हो, जहाँ मुद्रा सोने के भाव पर ही चलती हो, कोई भी व्यक्ति अपनी मुद्राएँ चला सकता है। इसके अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न भागों में व्यापार पर प्रतिबन्ध न होने से देश के किसी भी कोने की मुद्राएँ देश के दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोने में मिल सकती हैं। इसका देश की राजनीति के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

फिर ये ही महानुभाव अपनी उक्त पुस्तक के पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं—

"Chandra Gupta's exploits, naturally recalled those of King Vikramaditya of Ujjain, who is described in Indian legends as having expelled the first Saka conquerors of India, more than four hundred years before. It in presumably is imitation of this legendry hero that Chandra Gupta, like his father, assumed the title Vikramaditya."

अर्थात्—चन्द्रगुप्त के कारनामे स्वाभाविक रूप में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की याद दिलाते हैं, जो हिन्दुस्तान के किस्से-कहानियों में आते हैं। इन किस्से-कहानियों के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों के प्रथम आक्रमण के समय, उनको, इस काल से चार सौ वर्ष पूर्व, देश से निकाला था। यह माना जा सकता है कि इन किस्से-कहानियों के नायक के कारनामों की नकल में चन्द्रगुप्त और उसके पिता समुद्रगुप्त ने विक्रमादित्य का विरुद ग्रहण कर लिया था।

यह बच्चों की-सी बात है। हम पूछते हैं कि लम्बी-लम्बी उपाधि-प्राप्त लेखक जिनको किस्से-कहानियाँ समझते हैं, क्या उसको गुप्तकालीन विद्वान् भी ऐसा ही मानते थे? यदि उस काल में भी ये किस्से-कहानियाँ समझी जाती थीं, तो समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त जैसे प्रभुता-सम्पन्न सम्राट् इन काल्पनिक कारनामों के नायक के नाम को अपना विरुद न बनाते। यदि उस समय यह प्रमाणित कथा समझी जाती थी, तो आज ये किस्से-कहानियाँ मात्र कैसे रह गईं?

वास्तविक बात तो यह है कि ये भारतीय लेखक यूरोपीय लेखकों की मानसिक दासता में फँसे हुए हैं। भारतीय ग्रन्थों में लिखी बातें उनको Legends अर्थात् किस्से-कहानियाँ प्रतीत होती हैं और गोरी खाल वालों की कही अनर्गल बातें उनको वेदवाक्य प्रतीत होते हैं।

जिनको ये लेखक किस्से-कहानियाँ कहते हैं, उनको भारतवर्ष के अनेक लेखक, जो अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व साहित्य-रचना करते रहे हैं, प्रामाणिक घटनाएँ मानते हैं।

इतिहास जानने का ढोंग करनेवाले, जो यूरोपियन लेखकों का अनुकरण करते हैं, भूल, गुप्त वंशों के राजस्व-काल को तथा वास्तव में भारतवर्ष के पूर्ण इतिहास को ईसा के जन्म के साथ जोड़ने में करते हैं। जहाँ भारतीय लेखक भारत के इतिहास के काल की गणना महाभारत-युद्ध के काल से करते हैं, वहाँ वे इतिहासज्ञ घटनाओं को ईसा-पूर्व अथवा पश्चात् की दृष्टि से लिखते हैं।

पौराणिक ग्रन्थों में और महाभारत युद्ध-काल के पीछे के अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में संवत् भारत-युद्ध से आरम्भ किया जाता रहा है। भारत-युद्धकाल से गिनी जानेवाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिथियों को कलियुग-संवत् भी कहा जाता है। यूरोपियन लेखक महाभारत को काल्पनिक गाथा मानते हैं। अतः उसके संवत् के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त करने का यत्न ही नहीं करते।

ईसा-जन्म का भारतीय घटनाओं की तिथियों से ग़लत सम्बन्ध मेगस्थनीज़ की पुस्तक के कुछ फटे-पुराने पृष्ठों में एक बात के मिथ्या अर्थ लगाने के कारण लगाया जाता है। मेगस्थनीज़ ने उन पृष्ठों में लिखा कहा जाता है कि वह सैन्ड्राकोटेस, जो पालिब्रोथ्रा में राज्य करता था, की राज्यसभा में रहा है और उसने चार वर्ष वहाँ रहकर वह पुस्तक लिखी है। इस सैन्ड्राकोटेस तथा पालिब्रोथ्रा का अर्थ एक अंग्रेजी लेखक ने चन्द्रगुप्त मौर्य तथा पाटलिपुत्र से लगाया है। मेगस्थनीज़ के भारत आने की तिथि ईसा-संवत् से ज्ञात है। अतः भारत में घटी उन सभी घटनाओं की, जो चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्धित थीं, तिथि ईसवी संवत् से गिन डाली गई।

भूल यही है। न तो सैन्ड्राकोटेस चन्द्रगुप्त मौर्य है और न पालिब्रोथ्रा पाटलिपुत्र। इसी भूल के कारण चन्द्रगुप्त मौर्य का काल ईसा-पूर्व ३२१ वर्ष आँका गया, परन्तु भारतीय गणना में यह ग़लत है।

भारतीय ढंग से काल-गणना का आधार सौर-जगत् में तारों की गति है। महाभारत में कई स्थलों पर लिखा मिलता है कि परीक्षित के जन्म के समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे। ये तारागण १०० वर्ष में एक नक्षत्र के सामने चलते हैं. अतः इन तारों की गति से हम भारत-युद्ध के पीछे की घटनाओं की तिथियाँ निश्चित करते हैं।

उदाहरण के रूप में ऐहोल की पहाड़ी पर जैन मन्दिर के शिलालेख में कलियुग संवत् ३७३५ और शक संवत् ५५६ लिखा मिला है, अर्थात् इस वर्ष यह मन्दिर बना था।

इसी प्रकार आन्ध्रों के अन्त पर इस सप्तर्षि-मंडल की स्थिति से यह अनुमान लगाया गया कि महाराजा प्रतीप, शान्तनु के पिता के काल से २७०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महाराजा प्रतीप परीक्षित से ३०० वर्ष पहले हुए थे। अतः परीक्षित के जन्म से आन्ध्रों के अन्त तक २४०० वर्ष हुए।

इसी प्रकार परम्परागत पंचांगों में प्रतिवर्ष कलियुग संवत् दिया जाता है और उसका शक संवत् अथवा विक्रमी संवत् भी दिया जाता है।

भारतीय गणना-पद्धति से चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारम्भ कलियुग संवत् १६०१ से हुआ। विक्रमी संवत् के आरम्भ के समय कलियुग संवत् ३०४५ था। इस गणना से चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल ईसा-पूर्व १४४५ बनता है, अर्थात् यूरोपीय भ्रममूलक गणना और भारतीय गणना में ११२४ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि गुप्त-काल ईसा की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी भी ग़लत है। यह उससे बहुत पूर्व है।

हम तो यूरोपियन लेखकों की गणना को अशुद्ध मानते हैं। यह गणना मेगस्थनीज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ग्रन्थ के सैन्ड्राकोटेस और पालिब्रोथ्रा के ग़लत अर्थ लगाने से बनी थी। ठीक गणना क्या है? इस विषय में दोनों पक्षों के लेखकों को एक गोलमेज़ पर बैठकर निर्णय करना चाहिए। इसके लिए पण्डित भगवद्दत्तजी ने सन् १९४८ में प्रयास भी किया।

डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, जो A New History of Indian People के लिखवाने-वाली परिषद् के प्रधान थे, वे ही उचित व्यक्ति थे, जो इस प्रकार का गोलमेज-सम्मेलन बुला सकते थे। अतः पण्डित भगवद्दत्तजी उनसे मिले और फिर उन्होंने उनको पत्र भी लिखा। यह पत्र पण्डितजी के 'भारतवर्ष का बृहत् इतिहास' के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण की भूमिका में छपा है। इस पत्र में पण्डितजी ने निम्न समस्याओं पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया था—

१. क्या भारत-युद्ध एक सत्य घटना है? इसका काल क्या था?
२. शौनक ऋषि का काल कौन-सा था?
३. पुराणों के प्रद्योत वंश की विवेचना।
४. तथागत बुद्ध का काल।
५. पुरातन जैन वाङ्मय में महावीर स्वामीजी का काल।
६. शक काल का आरम्भ।
७. विक्रम काल का आरम्भ।
८. सिद्धसेन, दिवाकर और संवत्-प्रवर्तक विक्रम का काल।
९. गुप्तकाल का आरम्भ।
१०. वेद-वेदांगों के चरण तथा शाखा-ग्रन्थों, ब्राह्मण-ग्रन्थों का संकलन कब हुआ?

पण्डितजी ने इसी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि इस पत्र का उन्हें कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

हमारा विश्वास है कि पाश्चात्य ढंग के लेखक भारतीय ढंग से इतिहास लिखने वालों के साथ गोलमेज़ पर बैठकर बात नहीं करेंगे। उनके मन में निष्पक्षता नहीं है। वे सदा भारतीय विपक्षियों को अपने से हीन समझते रहे हैं और उनको उत्तर न दे सकने की लज्जा सहन नहीं कर सकते।

पण्डितजी ने अपनी पुस्तक में यह भी लिखा है—"भारतीय इतिहास इस समय बहुत विकृत कर दिया गया है। सत्य को असत्य प्रदर्शित किया गया है और असत्य को सत्य बनाने का यत्न किया जा रहा है। मैक्समूलर, वैबर तथा मैक्डानल्ड और कीथ प्रभृति पाश्चात्य ग्रन्थकारों तथा उनका अनुकरण करनेवाले भारतीय लेखकों ने भारत-युद्ध के अस्तित्व में ही सन्देह उत्पन्न कर दिया है। रेप्सन और स्मिथ आदि इतिहास-लेखक सगर्व कह रहे हैं कि ईसा से अधिक-से-अधिक २४०० वर्ष पूर्व आर्य लोग भारत में प्रविष्ट हुए। इस काल के उपरान्त ही उनके वेदादि शास्त्र बने। याकोबी और कीथ तो विष्णुगुप्त चाणक्य को अर्थशास्त्र का रचनेवाला ही नहीं मानते। फ़्लीट, रेप्सन तथा जायसवाल और रायचौधरी ने तो उज्जयिनी के प्रसिद्ध विक्रमादित्य का नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही इतिहास से मिटा दिया है।

इस लेख को अधिक लम्बा न करते हुए हम अपना मत लिख देना चाहते हैं। यूरोपियन इतिहास-लेखकों ने, संस्कृत-वाङ्मय का ठीक ज्ञान न रहने के कारण, भारत के इतिहास को बहुत बुरी तरह विकृत कर दिया है। देश में प्रचलित परम्पराओं और साहित्य-रचनाओं को झूठ और विदेशीय यात्रियों के अधूरे ज्ञान तथा सुनी-सुनाई बातों को सत्य मानकर इस विकृति को निन्दनीय सीमा तक पहुँचा दिया है।

यहाँ पण्डित भगवद्दत्तजी का गुप्त-वंश के विषय में निष्कर्ष लिख देना उचित है। आपने, भिन्न-भिन्न भारतीय ग्रन्थों और मान्यताओं के ७९ प्रमाण देकर उनसे निकले निष्कर्ष का सारांश दिया है, जो इस प्रकार है—

१. विक्रमादित्य साहसांक तथा शकान्तक एक ही व्यक्ति था।

२. चन्द्रगुप्त द्वितीय, साहसांक तथा शकान्तक एक ही व्यक्ति था।

३. साहसांक तथा भट्टारक हरिश्चन्द्र समकालीन थे।

४. चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा हरिश्चन्द्र समकालीन थे।

५. अतः विक्रमादित्य साहसांक तथा विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त एक ही व्यक्ति था।

६. चन्द्रगुप्त विद्वान् तथा कवि था।

७. विक्रमादित्य सूक्तिकार और कोषकार तथा साहसांक कोषकार ही था।

८. अतः विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त और साहसांक एक थे।

९. विक्रम संवत्-प्रवर्तक ही जैन-साहित्य का प्रसिद्ध विक्रम और संवत्-प्रवर्तक था।

१०. इस विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का वररुचि, हरिश्चन्द्र, सिद्धसेन, दिवाकर, विशाखादत्त एवं कालिदास से सम्बन्ध था। वसुबन्धु और दिङ्नाग भी उसी के काल में हुए थे।

११. विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जिसका संवत् पूर्ण उत्तरी भारत, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार इत्यादि प्रदेशों में प्रचलित है।

१२. विक्रमादित्य ने अपने जीवन-काल में देश तथा धर्म एवं भारतीय वाङ्मय की अतुल सेवा की।

१३. गुप्तवंश के काल में वेद-वेदांग, पुराण तथा धर्मशास्त्रों का पुनः प्रचार हुआ था और वर्तमान हिन्दू-संस्कृति को वेदशास्त्रों के साथ जोड़ने के लिए भारी प्रयास किया गया था।

१४. गुप्त शासकों ने भारतवर्ष की सीमाओं को हिन्दुकुश तक पहुँचा दिया था। इसके लिए देश के भीतर के देशद्रोहियों तथा विदेशी आक्रमणकारियों एवं देश में रहने वाले अनार्यों ने गुप्त वंश वालों की निन्दा की है। उनको क्रूर, आततायी इत्यादि कहकर सम्बोधित किया है।

१५. शक विदेशीय थे। इनको देश से बाहर निकालने में चन्द्रगुप्त द्वितीय अर्थात् विक्रमादित्य ने और स्कन्दगुप्त ने भारी प्रयास किया था। अतः इनको देश से बाहर निकाले जाने की प्रसन्नता में शक संवत् चला था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्राट् अशोकवर्धन

डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी के 'भारत का प्राचीन इतिहास' में से महाराजा अशोक-वर्धन के विषय में लिखी निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

"सिंहली वृत्तान्तों से अशोक को राज्यारोहण से पूर्व निर्दयी चित्रित किया गया है। उनमें लिखा है कि उसने अपने सहोदर भाई तिष्य को छोड़कर शेष सब भाइयों (९९ के लगभग) को तलवार के घाट उतार दिया और इस प्रकार रक्त का समुद्र पार कर वह मगध के सिंहासन पर बैठा। अशोक के पाँचवें शिलालेख में भाइयों के प्रति संकेत के आधार पर अनेक विद्वान्, सिंहली इतिहासज्ञों के इस वृत्तान्त पर संदेह करते हैं। इस शिलालेख का प्रमाण यद्यपि सर्वथा असन्दिग्ध नहीं है, क्योंकि इसमें वस्तुतः जीवित भाइयों के नहीं वरन् उनके परिवार के प्रति अशोक की कल्याण-बुद्धि का निर्देश मिलता है। तथापि, इसमें संदेह नहीं कि यह दक्षिणी विवरण अतिरंजित है। सम्भव है ऐसा करने में भिक्षुओं का तात्पर्य यह सिद्ध करना हो कि बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होने के पूर्व अशोक अतिक्रूर और भीषण था, परन्तु बौद्ध होते ही वह राक्षस से देवता बन गया। इतनी बात विश्वसनीय अवश्य है कि अशोक का राज्यारोहण स्वाभाविक नहीं हुआ होगा। वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था। मगध के राज्य का वास्तविक अधिकारी सुषीम अथवा सुमन था...

"उत्तराधिकार का यह संघर्ष सचमुच था, यह इस बात से सिद्ध होता है कि बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक के राज्याभिषेक के बीच ३-४ वर्ष का अन्तर है।"

यह है इतिहास ! इसका निष्कर्ष यह निकलता है—

बौद्ध लेखकों ने किसी उद्देश्य-सिद्धि के लिए इतिहास की तोड़-मरोड़ की है।

डॉक्टर रमाशंकर जी का कहना है कि "यह सम्भव है बौद्ध धर्म की महिमा को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करने के लिए अबौद्ध-अशोक को अतिक्रूर चित्रित किया गया है।" लेखक इसका यह परिणाम निकालता है कि यह प्रायः निश्चित ही है कि तत्कालीन लेखकों ने बौद्ध धर्म की महिमा को बढ़ा-चढ़ाकर सिद्ध करने के लिए बौद्ध अशोक के मिथ्या गुण गाए हैं।

डॉक्टर रमाशंकर जी का कहना है कि "पंचशिलालेख का प्रमाण सर्वथा असन्दिग्ध नहीं है।" इस पर लेखक का प्रश्न है कि अन्य शिलालेख भी कैसे सर्वथा असन्दिग्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे जा सकते हैं? वास्तव में महाराजा अशोक के राज्य का पूर्ण विवरण इन शिलालेखों और बौद्ध लेखकों के आधार पर ही है। शिलालेख महाराज अशोक ने स्वयं लिखवाए थे। अपना गुणानुवाद प्रायः वही करता है जो अपराधी हो, जिसकी आत्मा स्वयं को अपराधी मानती हो। विरोधियों का मुख बन्द करने के लिए अशोक ने, अधिक सम्भव है, अपनी झूठी प्रशंसा के लेख लिखा-लिखाकर देशभर में गड़वा दिए हों। बौद्ध श्रावकों के लेखों से महाराज अशोक के विषय में अथवा उस काल के त्रिषय में लिखा हुआ, कितना प्रामाणिक हो सकता है, यह भी डॉक्टर महोदय ऊपर की पंक्तियों में लिख चुके हैं।

मनुष्य किसी यंत्र की भाँति निर्जीव तो है नहीं, जो केवल 'गीयर' बदल देने से राक्षस से देवता बन सकता है। मनुष्य का व्यवहार संस्कारों के अधीन चलता है। संस्कार एक दिन में नहीं बदल सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में अशोक प्रथम सम्राट् था, जिसने देश में साम्प्रदायिक राज्य स्थापित किया।

उक्त इतिहास-लेखक आगे चलकर लिखता है—"परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अशोक की धम्म-विजय सम्बन्धी नीति के कारण राजनैतिक महत्ता को अवश्य धक्का लगा था····देश का सामरिक उत्साह जब ठंडा पड़ा तो देश विदेशी लुटेरों का शिकार हो चला। भारत की उत्तरी सीमा के समीप ही बाख्त्री (बल्हीक) में ग्रीकों का एक उपनिवेश-राज्य था। उस आधार से उन राजाओं का आक्रमण आरम्भ हुआ····शीघ्र ही इन विदेशी चोरों से भारत क्षत-विक्षत हो गया और इसका दूरस्थ कारण निस्सन्देह अशोक की अराजनैतिक करुणानीति थी।"

"अशोक के पुत्रों में केवल तीवर का नाम उसके अभिलेखों में मिलता है, जो सम्भवतः अपने पिता के राज्यकाल में ही मर गया था। अशोक का दूसरा पुत्र जलौक, शैव था····वह कश्मीर चला गया था, वहाँ वह स्वतंत्र हो गया। तीसरा पुत्र कुणाल (सुयशस्) वायुपुराण के अनुसार, आठ वर्ष तक राज्य करता रहा। परन्तु दक्षिणी ग्रन्थों के लेखों के अनुसार उसे अन्धा मान सिंहासन से वंचित कर दिया गया था।····अशोकावदान में एक दूसरी ही कथा कही गई है। उससे ज्ञात होता है कि संघ को निःशेष धन दान कर देने के कारण मंत्रियों के दबाव से अशोक को कुणाल के पुत्र (अपने पौत्र) सम्प्रति के पक्ष में गद्दी छोड़नी पड़ी।"

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि "मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण अशोक की नीति के विरुद्ध ब्राह्मणों का वैमनस्य था। अशोक द्वारा यज्ञों का निषेध, धम्म-महामात्रों की नियुक्ति और व्यवहार तथा दण्ड की अपनी अविषम समता ने ब्राह्मणों को अपना शत्रु बना लिया था।"

अविवादास्पद बात यह है कि अशोक के काल में बौद्ध सम्प्रदाय को धन और राज्यबल से भारी सहायता मिली थी। इस सहायता का दुरुपयोग हुआ था अथवा नहीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहना कठिन है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि राज्य की ओर से एक सम्प्रदाय को सहायता मिली तो अन्य सम्प्रदाय के लोग असन्तुष्ट हुए ही होंगे।

दक्षिणी लेखक, जो अशोक के राज्य से बाहर रहनेवाले थे, उसको इतना श्रेष्ठ नहीं मानते, जितना उत्तरी और पूर्वी लेखकों ने माना है। यह स्पष्ट है कि वे राज्य के प्रभाव के अधीन थे और साथ ही वे प्रायः बौद्ध श्रावक ही थे। वे अशोक की कृपा पर पलते थे।

विचारणीय बात यह है कि बौद्ध सम्प्रदाय को अशोक-जैसे बलशाली और समृद्ध सम्राट् की सहायता मिलने पर भी वह पनप नहीं सका। अशोक के निधन के कुछ काल पश्चात् बौद्ध सम्प्रदाय का ह्रास आरम्भ हो गया था।

शुंग-परिवार और तदनन्तर गुप्त-परिवार के हाथ में भारत का राज्य जाने का कारण अशोक के काल में राज्य की ओर से बौद्ध सम्प्रदाय का पक्षपातपूर्ण समर्थन था। अशोक के मरते ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और इसके १२० वर्षों के भीतर ही विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गए। पहले मीनांदर का आक्रमण हुआ और उसके बीस वर्ष पश्चात् ही शकों ने आक्रमण किया। इसके उपरान्त हूणों और पार्थियनों ने आक्रमण किया, पश्चात् कुषाण और फिर कनिष्क ने। इन सब आक्रमणों में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि देश के बौद्ध-मतावलम्बी विदेशी आक्रमणकारियों का स्वागत और इनकी सहायता करतें रहे थे।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि बौद्ध विचारधारा ने देश को विदेशियों की दया पर छोड़ दिया था। देश के विद्वानों ने इसको अनुभव किया, परिणामस्वरूप देश में बौद्धों का घोर विरोध आरम्भ हुआ।

यह माना जाता है कि भारत से बौद्धमत का उन्मूलन शंकर, कुमारिल भट्ट प्रभृति विद्वानों के खण्डन ने किया था। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि बौद्धों के अपने व्यवहार ने जनता को अपना विरोधी न बना लिया होता तो इन विद्वानों का खण्डन-मण्डन कुछ न कर पाता। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरादि का धर्मप्रचार देश में होनेवाली एक रक्तरंजित क्रान्ति को रोकनेवाला सिद्ध हुआ। यदि यह प्रचार आरम्भ न होता तो जनता का ध्यान सत्यासत्य के निर्णय की ओर न जाकर विरोधियों के नाश की ओर चला जाता।

बौद्ध विचारधारा ने एक ऐसे ढलवाँ पथ का निर्माण किया, जिस पर पत्थर लुढ़क पड़े। बौद्ध, जो आत्मा तथा परमात्मा को प्रकृति से पृथक् कुछ नहीं मानते, वे निर्जीव पत्थर की भाँति बौद्ध विचारधारा के ढालू पथ पर लुढ़कने के अतिरिक्त कर भी क्या सकते थे! ढालू पथ पर चलने के लिए सजीव, प्रकृति से श्रेष्ठ वस्तु, के प्रयास की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति वैदिक विचारधारा के माननेवाले ही हो सकते हैं।

देश का राजनैतिक ह्रास होता देख गुप्त वंश ने इसके उत्थान के लिए भारी प्रयत्न किया था और विदेशी आक्रमणकारियों को मार-मारकर हिन्दुकुश के पार भगा दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। इस विजय के पश्चात् भारत में पुनः चैन की वंशी बजने लगी। परन्तु देश के दुर्भाग्य के कारण हर्षवर्द्धन के काल में पुनः बौद्ध विचारधारा को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि हर्षवर्द्धन स्वयं अबौद्ध मतावलम्बियों का भी आदर करता था, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह स्वयं ह्वान-च्वांग के बौद्धमत-विवेचन से प्रभावित हो स्वयं बौद्ध बन गया था। हर्षवर्द्धन स्वयं कैसा था, इससे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं। परन्तु जिस बौद्धमत को उसने पुनः सहायता दी, उससे देश में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई।

गुप्तकाल में ब्राह्मणों ने जैनियों के तीर्थंकरों की मूर्तियों को देखकर अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बना ली थी और उसी काल में वैष्णव सम्प्रदाय का विकास हुआ था। राम और कृष्ण को भगवान् का अवतार भी इस काल में माना गया। उसके बाद हर्षवर्द्धन ने महात्मा बुद्ध को भगवान् बुद्ध बनाया और इसकी मूर्तियों की स्थापना कराकर भगवान् बुद्ध को विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक मनवा दिया। हर्ष के प्रयत्न से हिन्दू वैष्णव धर्म और महायान एक हो गए। यद्यपि, बुद्ध को इन्द्र और ब्रह्मा से भी ऊँचा रखा गया।

बौद्ध सम्प्रदाय की इस नवीन व्यवस्था ने ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में अन्तर नहीं रखा और अधिकांश जन दोनों के दुर्गुणों को लेकर एक धर्म मान बैठे। मत-मतान्तरों की वृद्धि हुई और भारत साम्राज्य टूक-टूक होकर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया।

इन सबका दुष्परिणाम मुसलमानों के सफल आक्रमणों में प्रकट हुआ। बौद्ध, इन आक्रमणों के समय जैसे-कैसे भी थे, वे तुरन्त मुसलमान हो गए। इस्लाम से संघर्ष तो ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित हिन्दू धर्म को ही करना पड़ा। इस काल के धर्म-प्रवर्तकों की शिक्षा के अध्ययन से यह विदित होता है कि हर्षवर्द्धन के प्रयास से हिन्दू समाज में जो कुछ भी विचारधारा घुस आई थी, उन्होंने उसे निकालने का यत्न किया था। ज्यों-ज्यों युद्ध से तटस्थता तथा विरोधियों से समझौता की भावना कम होती गई और परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास बढ़ता गया, हिन्दू समाज मुसलमानों का विरोध करने में समर्थ होता गया।

बौद्ध विचारधारा अवैदिक विचारधारा थी। इस कारण राज्य द्वारा इसका समर्थन हिन्दू-(आर्य)-विरोधी माना गया। देश में बौद्ध विचारधारा दो बार पनपी, प्रथम अशोकवर्द्धन के राज्य के समर्थन से और परिणाम हुआ मिनान्दर, इण्डो-बैक्टीरियन, शक, कुषाण, कनिष्क इत्यादि के देश पर सफल आक्रमण। पुनः इसका उत्थान हर्षवर्द्धन के काल में हुआ और परिणाम हुआ देश पर पठान और मुगलों के सफल आक्रमण। देश का विदेशी प्रभुत्व से उद्धार हुआ पहली बार गुप्त वंश के विपुल प्रयास से और दूसरी बार मराठा और सिख गुरुओं के आन्दोलन से। दोनों बार देश को बचाने का श्रेय हिन्दू विचारधारा वालों को ही मिला।

उन्नीसवीं शताब्दी में भी हिन्दू समाज की ईसाइयों से टक्कर हो गई और उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध करने में जहाँ ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज सफल हुए, वहाँ बौद्ध विचारधारा से प्रभावित लोग ईसाई बन गए।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में अंग्रेज़ों से राजनैतिक संघर्ष चला और इसकी सफलता का श्रेय किसको मिला? यद्यपि कांग्रेस को स्थापित करनेवालों ने इसको एक असांप्रदायिक संस्था बनाने का यत्न किया, जिससे भारत के भिन्न-भिन्न मतों के लोग इस संस्था में सम्मिलित हो सकें, परन्तु इस राजनैतिक संघर्ष को चलानेवाले, चाहे कांग्रेस के भीतर हों अथवा बाहर के, हिन्दू ही थे। कोई एकाध विरला अहिन्दू इस आन्दोलन में आया तो वह संघर्ष को सफलता की ओर ले-जाने की अपेक्षा इसके मार्ग में रोड़े अटकानेवाला ही सिद्ध हुआ।

इस ऐतिहासिक वृत्त का एक ही अर्थ निकलता है कि वैदिक मत में कुछ ऐसी बात है, जो अन्य मतों में नहीं है।

"यूनान मिश्र रोमां सब मिट गए जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।"

इसके साथ यदि यह भी कह दिया जाए कि "इस्लाम, बुद्ध, ईसा के अनुयायी वैदिक मत की टक्कर में आकर स्वयं मिट गए" तो अतिशयोक्ति न होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर्षवर्द्धन

हर्षवर्द्धन के काल का पूर्ण वृत्तान्त बाण के 'हर्षचरित' और ह्वेनसांग के 'हर्ष जीवन-चरित' से मिलता है। बाण तो अपना हर्षचरित समाप्त नहीं कर सका और ह्वेनसांग हर्ष के मरने से पूर्व ही भारत छोड़कर चला गया था। दोनों के कथन अधूरे हैं। बाण हर्ष का वेतनधारी सेवक था और वह जो कुछ हर्ष की प्रशंसा में लिख गया है, वह पूर्णतया सत्य ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ह्वेनसांग के अपने कथन में ही परस्पर विरोध है। ऐसा प्रतीत होता है कि ह्वेनसांग बौद्ध था और वह बौद्ध सम्राट् की प्रशंसा कर बौद्ध धर्म की महिमा बढ़ाना चाहता था।

ह्वेनसांग के लेखों के अप्रामाणिक होने में प्रमाण तो बहुत हैं, यहाँ केवल दो दिये जाते हैं।

श्री भगवती प्रसाद पांथरी द्वारा लिखित 'हर्षवर्द्धन शीलादित्य' नामक पुस्तक के पृष्ठ ४७ पर लिखा है—

> "ह्वेनसांग ने कन्नौज का वर्णन देते हुए भूल से हर्ष के पूर्वजों—प्रभाकरवर्द्धन और राज्यवर्द्धन को भी कन्नौज का राजा बतलाया है··· । ह्वेनसांग के इस भ्रमात्मक विवरण के आधार पर कतिपय विद्वानों ने··· ।"

डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी द्वारा लिखित 'प्राचीन भारत का इतिहास' नामक पुस्तक के पृष्ठ २२४ पर लिखा है—

> "ह्वेनसांग का वक्तव्य है कि 'हर्ष, जब तक उसने पाँचों भारतों पर अधिकार न कर लिया, छः वर्ष तक निरन्तर युद्ध करता रहा···' सर्वथा अयुक्त (अयुक्तिसंगत) है।···इसी प्रसंग में ह्वेनसांग के दूसरे वक्तव्य का अनुवाद कि, 'हर्ष ने ३० वर्ष तक बिना अस्त्र उठाए शान्तिपूर्वक शासन किया', ठीक नहीं क्योंकि···हर्ष को अपने घटना-बहुल शासन के अन्त तक युद्ध करते रहना पड़ा।"

ह्वेनसांग के लेखों में अनेकों भ्रममूलक बातें हैं और वे केवल एक बौद्ध सम्राट् की चारणों की भाँति प्रशंसा मात्र हैं।

इन दोनों लेखकों ने हर्षवर्द्धन की प्रशंसा में गुण गाए हैं। वास्तव में हर्षवर्द्धन की नीति देश में भारी वैमनस्य उत्पन्न करनेवाली सिद्ध हुई थी।

प्रस्तुत उपन्यास में कई लेखकों के विचारों के विपरीत लेखक ने कुछ बातें लिखी हैं। परन्तु वे ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही हैं, जो इस प्रकार हैं—

यह प्रकट है कि हर्षवर्द्धन ने अपने पैतृक राज्य थानेश्वर और अपनी बहन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य कन्नौज को मिलाया, परन्तु अन्य कोई भारी विजय प्राप्त नहीं की। डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी अपने 'प्राचीन भारत का इतिहास' में पृष्ठ सं० २२३ पर इस प्रकार लिखते हैं—

"हर्षवर्द्धन की दिग्विजयों के विषय में हमें सविस्तार सामग्री उपलब्ध नहीं। ह्वेनसांग के वृत्तान्त में अवश्य कुछ प्रशंसात्मक विजय-प्रसंग हैं। उदाहरणतया, 'पूर्व की ओर बढ़कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार न की थी। छः वर्षों तक वह पाँचों भारतों के साथ लड़ता रहा।' इस प्रकार ह्वेनसांग ने किसी राज्य का नाम नहीं बताया, जिसको उसने विजय किया हो। कहीं-कहीं आक्रमण अवश्य किये प्रतीत होते हैं, परन्तु सफलता उतनी नहीं मिली, जितनी कि चीनी यात्री अपने वृत्तान्त में लिखता है।"

इतिहासकार पुनः लिखता है—

"ह्वेनसांग द्वारा लिखित जीवन से पता चलता है कि हर्ष ने स्वयं महाराष्ट्र के पुलोकिश के विरुद्ध सैन्य-संचालन किया, परन्तु परिणाम विरुद्ध हुआ और दक्षिणाधिप ने उसे बुरी तरह परास्त किया"

"इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष शशांक का कुछ बिगाड़ नहीं सका।"

इस विषय में श्री भगवती प्रसाद पांथरी लिखते हैं, "किन्तु इतना निश्चय है कि शशांक बिना कोई भारी हानि उठाए अपने राज्य को वापस लौट गया।"

इतिहास पढ़ने से इतना तो ज्ञात होता है कि हर्ष दिग्विजय पर निकला था, परन्तु वह छोटे-छोटे सामन्तों को अपने अधीन कर सकने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका। न तो मालवा विजित हुआ और न ही गौड़ राज्य। दक्षिण का चालुक्य ज्यूँ-का-त्यूँ ही बना रहा।

इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि बाण कब और कहाँ मरा। कदाचित् वह हर्ष की सेवा छोड़कर चला गया था। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से कुछ ऐसा ही समझ में आता है। यह भी प्रतीत होता है कि बाण उज्जैन से उदासीन हो चला गया था।

कई इतिहास-लेखकों ने यह लिखा है कि हर्ष ने अपना राज्य पक्षपात-रहित होकर चलाया है। सत्य इस कथन के विपरीत है। हर्ष जब कन्नौज में आया तो वह धीरे-धीरे बौद्ध विचारधारा को माननेवाला बनता गया, और जब तक वह पूर्ण रूप से बौद्ध सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं हो गया, तब तक वह कन्नौज के सिंहासन पर बैठ नहीं सका।

इस कथन में युक्ति यह है कि यद्यपि राज्यश्री मालव-नरेश और शशांक के अधिकार से छूटते ही बौद्ध भिक्षुणी बन गई थी, तो भी हर्ष कई वर्ष तक कन्नौज की राजगद्दी पर बैठ नहीं सका और वह राज्यश्री के स्थान राज्य-कार्य चलाता रहा।

ऐसा उल्लेख आता है कि कई वर्ष पीछे, बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर जी के कहने पर (अर्थात् आज्ञा पर) वह कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। इससे यह सिद्ध होता है कि हर्षवर्द्धन का परिवार शैव था और कन्नौज में बौद्धों का प्राबल्य था, इस कारण वे हर्ष के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्यारहण का विरोध करते रहे। जब हर्ष बौद्ध हो गया तो उनका विरोध समाप्त हो गया और बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर जी ने राज्यारोहण की स्वीकृति दे दी।

हर्ष बौद्धों की कृपा से राज्यारोहण कर सका। अतएव वह उनके पक्ष में सदा रहा और बौद्ध भिक्षु उसके गुण गाते रहे। इस विषय में भगवती प्रसाद पांथरी अपनी पुस्तक में 'महात्यागोत्सव' का वर्णन इस प्रकार लिखते हैं—

> "पहले दिन बुद्ध की मूर्ति स्थापित की गई और सम्राट् शीलादित्य ने बहुमूल्य जवाहरात भेंट किए। मूर्ति की पूजा के पश्चात् समस्त राजाओं ने बहुमूल्य वस्तुएँ, वस्त्र और भोग-सामग्री वितरित की और फूल बिखेरे गए।
>
> "दूसरे दिन आदित्य देव की मूर्ति स्थापित की गई और पहले दिन की अपेक्षा आधी वस्तुएँ दान में वितरित की गईं।
>
> "तीसरे दिन ईश्वर देव (महादेव) की मूर्ति स्थापित की गई और दूसरे दिन की तरह ही दान वितरित किया गया।
>
> "चौथे दिन बौद्ध धर्म संघ के १०,००० बौद्ध पण्डितों तथा भिक्षुओं को दान दिया गया। प्रत्येक बौद्ध पण्डित को १०० स्वर्ण मुद्राएँ, एक मोती, एक सूती वस्त्र, विभिन्न प्रकार की पेय और खाद्य सामग्री तथा इत्र और फूल प्राप्त हुए।
>
> "इसके बाद लगातार २० दिन तक ब्राह्मणों को दान दिया गया और दस दिन तक अन्य धर्मावलम्बियों को दान दिया गया।"

यह सब वृत्तान्त ह्वेनसांग के लेखों से लिया गया है। ह्वेनसांग ने उक्त वृत्तान्त से यह बात स्पष्ट कर दी है कि बौद्धों के साथ अन्य धर्मावलम्बियों से अधिक श्रेष्ठ व्यवहार किया गया था।

ह्वेनसांग ने बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे उसकी, तात्कालिक देश की अवस्था से भी अनभिज्ञता प्रकट होती है। इस कारण वह जब लिखता है कि हर्ष पक्षपात-रहित था, तो वह अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करता है। वास्तविकता तो उसके 'महात्यागोत्सव' से स्पष्ट होती है।

जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि मलाई-मलाई बौद्ध सम्प्रदाय वालों को मिली थी और खुर्चन अन्य धर्मावलम्बियों को।

महाराज हर्षवर्द्धन का पक्षपातपूर्ण व्यवहार महाधर्म सम्मेलन में और भी स्पष्ट हो जाता है।

श्री पांथरी इस विषय में लिखते हैं—

> "कन्नौज की सभा में भाग लेने के लिए हर्ष के आदेशानुसार देशभर से अट्ठारह-बीस राज्यों के राजा अपने यहाँ के प्रमुख श्रवणों तथा ब्राह्मणों को लेकर पधारे।"
>
> "ह्वेनसांग लिखित 'लाइफ' के अनुसार महायान और हीनयान सम्प्रदाय के ३०० विदग्ध आचार्य, ३००० ब्राह्मण और नालन्दा से लगभग १००० आचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने शिष्यों-सहित वहाँ पधारे थे।"

इसका अर्थ यह हुआ कि निमन्त्रण तो बौद्ध-अबौद्ध, दोनों को दिया गया था, परन्तु उसी पुस्तक में आगे चलकर लिखा है—

"किन्तु जो बौद्ध धर्म में आस्था नहीं रखते थे और जिन्हें भवन में जाने नहीं दिया जा सकता था, उन्हें सम्राट् के आदेशानुसार भवन के प्रवेश-द्वार के बाहर बैठने को कहा गया।"

फिर लिखा है, "सभा के मुखिया और प्रमुख वक्ता के रूप में ह्वेनसांग के लिए सम्राट् के निर्देशानुसार एक बहुमूल्य मंच तैयार कर दिया गया।"

'रैकॉड्र्स' के अनुसार "इस सभा के वादविवाद में भिन्न विदग्ध पण्डितों ने गम्भीरतापूर्वक तर्क-वितर्क किया। परन्तु प्रमुख वक्ता ह्वेनसांग थे, जिन्होंने महायान धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की और उसकी महानता पर प्रकाश डाला।"

इस सम्मेलन का आगे विवरण इस प्रकार है—

"पाँच दिन सभा होने के पश्चात् हीनयान सम्प्रदाय वालों को जब यह प्रतीत हो गया कि ह्वेनसांग ने उनके मत का खण्डन कर दिया है, तो वे रोष से भरकर उसकी हत्या करने का षड्यन्त्र करने लगे। यह बात जब हर्ष को विदित हुई तो उसने एक घोषणा-पत्र प्रेषित किया, जिसमें कहा गया—

'…चीन के धर्माचार्य, जिनका अध्यात्म-ज्ञान विशाल है, जिनकी प्रवचन-शक्ति गुरु-गम्भीर है, जो लोगों को सही बात बताने और महान् धर्म के सत्य रूप का दर्शन कराने, व मूर्खों तथा राहभूलों का उद्धार करने यहाँ आए हुए हैं, किन्तु वंचना और असत्य का अनुगमन करनेवाले, झूठ का परित्याग करने के स्थान तथा प्रायश्चित्त करने के स्थान उनके विरुद्ध घातक षड्यन्त्र रचने का विचार कर रहे हैं… अतः यदि कोई धर्माचार्य को क्षति पहुँचाएगा, या छूएगा तो उसका तत्काल सिर उड़ा दिया जाएगा। साथ ही जो कोई उनके विरुद्ध बोलेगा, उसकी जीभ काट ली जाएगी।'

"इस घोषणा के परिणामस्वरूप असत्यवादियों का बल खिसक गया। सभा के अट्ठारह दिन व्यतीत हो गए परन्तु किसी ने वादविवाद में भाग नहीं लिया।

"इसके पश्चात् राजाज्ञा से ह्वेनसांग का बहुत ही मान किया गया। हर्ष शीलादित्य ने ह्वेनसांग को १०,००० स्वर्ण मुद्राएँ, ३०,००० रजत मुद्राएँ तथा १०० बहुमूल्य सूती वस्त्र उपहार में दिए… अन्त में हर्ष ने धर्मविजेता ह्वेनसांग की एक विशाल हाथी पर नगर में सवारी निकलवाई और सर्वत्र यह घोषणा की गई कि चीनी धर्माचार्य ने धर्म की विजय स्थापित कर असत्यपूर्ण विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन किया… ह्वेनसांग को 'महायान' देव की उपाधि से अलंकृत किया गया…।"

इस विवरण से इन परिणामों पर ही पहुँचा जा सकता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. यह सभा सर्वधर्म-सम्मेलन नहीं थी।

२. इसमें केवल महायान और हीनयान पर विवेचना होती रही।

३. अबौद्धों को मंडप में प्रवेश नहीं दिया गया।

४. हीनयान वालों के विरुद्ध हर्ष ने जली-कटी सुनाई।

५. बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर जी की उपस्थिति में ह्वेनसांग की प्रशंसा की गई और उसका ही सबसे अधिक सम्मान किया गया।

६. यह धर्मचर्चा उस प्रकार की नहीं थी, जैसी शंकराचार्य और मंडन मिश्र के भीतर हुई थी। यह तो राज्यशक्ति से एक पक्ष का पृष्ठ-पोषण ही था।

७. जब हीनयान वालों ने देखा होगा कि ह्वेनसांग को बलपूर्वक विजयी बनाया जा रहा है, तो उन्होंने ही कदाचित् राजा पर आक्रमण का षड्यन्त्र किया होगा।

८. जब हत्यारे से पूछा गया कि उसने सम्राट् पर आक्रमण क्यों किया तो उसने विधर्मियों का नाम ले लिया।

९. हत्यारे को जो दण्ड दिया गया, उसका कहीं वर्णन नहीं, परन्तु यह वर्णन है कि पाँच सौ ब्राह्मण पकड़ लिये गए और मुख्य नेताओं को प्राणदण्ड देकर शेष को देश-निर्वासन की आज्ञा दे दी गई।

१०. इस घटना का लेखक वही व्यक्ति है, जो स्वयं वैमनस्य का कारण था। पूर्ण सभा का संचालन उसने किया था। पूर्ण उत्सव में, झगड़ा तथा वादविवाद, हीनयान और महायान वालों में होता रहा और अन्त में केवल हत्यारे के कहने पर ब्राह्मणों को दोषी मान उनको दण्ड दिया गया।

लेखक का मत है कि जैसे पूर्ण सभा की कार्यवाही पक्षपातपूर्ण थी, वैसे ही सम्राट् की हत्या के षड्यन्त्र की बात और ब्राह्मणों पर दोषारोपण की बातें भी पक्षपातपूर्ण ही होंगी।

ब्राह्मणों द्वारा सम्राट् की हत्या में उतना कारण नहीं हो सकता था, जितना हीनयान वालों द्वारा होने में।

हीनयान वालों ने पहले ह्वेनसांग की हत्या का षड्यन्त्र किया और कदाचित् पश्चात् सम्राट् की हत्या का षड्यन्त्र भी उन्होंने किया होगा।

सम्भव यह है कि हत्यारे ने अपनी जान छुड़ाने के लिए उनका नाम ले दिया हो, जिन पर सन्देह करना सुगम और भयरहित हो। किसी बौद्ध पर दोषारोपण करना सुगम नहीं होगा।

हर्ष के जीवन और उसके काल की प्रायः घटनाएँ और विशेष रूप में इस सर्वधर्म-सम्मेलन का विवरण ह्वेनसांग का लिखा हुआ है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि ह्वेनसांग बहुत-कुछ भ्रममूलक बातें लिख गया है। इस सभा में तो वह एक पक्ष का पोषक था। वह बौद्ध सम्प्रदाय का समर्थक था। इस कारण, सम्भव है कि हत्यारे के कथन पर विश्वास करने से बौद्धों का मान बचाने के लिए ब्राह्मणों को दण्ड देना उचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लिया गया हो।

कुछ भी हो, इस घटना का, विशेष रूप में ब्राह्मणों को दण्ड देने का एक भयंकर परिणाम हुआ। देश में ब्राह्मण धर्मानुयायी और बौद्ध धर्मानुयायी परस्पर एक-दूसरे के घोर शत्रु हो गए।

देश में साम्प्रदायिक बातों की ओर प्रजा का ध्यान बँट जाने के कारण राजनैतिक स्थिति अत्यन्त दुर्बल पड़ गई और तब वह आश्चर्यजनक घटना घटी, जिसकी तुलना इतिहास में कहीं नहीं मिलती।

अशोक के राज्य के पचास-साठ वर्ष पश्चात् ही देश की अवस्था इतनी दुर्बल हो गई थी कि शक, पार्थियन इत्यादि विदेशियों ने देश में घुसकर अधिकार कर लिया था। इसी प्रकार हर्षवर्द्धन के राज्य के कुछ ही काल पश्चात् मुसलमानों के सफल आक्रमण आरम्भ हो गए। आश्चर्यजनक बात यह हुई कि एक विदेशी आक्रमणकारी, ग़ज़नी से चलकर सोमनाथ के मन्दिर तक पहुँचा और वहाँ के सहस्रों नर-नारियों को पकड़कर दास बना, सही-सलामत ग़ज़नी लौट गया। पूर्ण देश के लोग मुख देखते रह गए। यह आक्रमणकारी बार-बार आया और भारत की धन-दौलत, नर-नारी लूटकर ले गया, परन्तु जनता के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। यह चमत्कार उस फूट, राजनैतिक शैथिल्य और आलस्य-प्रमाद के कारण ही सम्भव हो सका, जो बौद्धों और वैष्णवों के कारण देश में चल रहा था और जिसका बीजारोपण अशोक के काल में हुआ था तथा जिसकी सिंचाई हर्षवर्द्धन शीलादित्य के काल में हुई थी।

जब-जब देश में बौद्ध विचारधारा का प्राबल्य हुआ, देश राजनैतिक विचार से दुर्बल हुआ। सामाजिक शान्ति और भ्रममूलक सुरक्षा के मोह में जनता में संसार की दुष्ट-प्रवृत्तियों के विरोध की क्षमता कम हुई।

इसका एक प्रमाण तो भारत में मुसलमानों के राज्य के समय मिला। मुसलमानों के राज्य में बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन कराने के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इनमें जहाँ सहस्रों ब्राह्मण धर्मावलम्बी खड्ग की धार के नीचे भी धर्म छोड़ने को उद्यत नहीं हुए, वहाँ एक भी बौद्ध धर्मावलम्बी का ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिसने मरना स्वीकार किया हो परन्तु धर्म त्याग करना स्वीकार न किया हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का सरकारीकरण

ए० ओ० ह्यूम सन् १८८२ में जब सरकारी सेवा से मुक्त हुए तो अपने सेवा-काल में प्राप्त अनुभवों पर विचार करने लगे। उनका जीवन-चरित लिखनेवाले सर विलियम वडरबर्न उनके अनुभवों के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

'सेवा-मुक्त होने से कुछ पहले ह्यूम के पास ऐसे प्रमाण एकत्रित हो गए थे कि जिनसे उसे विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तान में एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो चुकी है, जिसका अति भयंकर परिणाम निकल सकता है।'

सर विलियम वडरबर्न आगे लिखते हैं—

The evidence that convinced him of the immence of the danger, was contained in seven large.....volumes containing a vast number of enteries....from over thirty thousand different reporters...

(महान् भय के प्रमाण जो उसे मिले, वह सात बृहत्...खण्डों में रखे गए थे। उन प्रमाणों में लगभग तीस सहस्र सूचनाएँ सम्मिलित हैं।

इन सात खण्डों में साधु-सन्त, महात्माओं और उनके चेलों के लिखे पत्र हैं, जो देश के धार्मिक नेता थे। उनका अविश्वास नहीं किया जा सकता था। इन प्रमाणों की उपस्थिति में सर वडरबर्न लिखते हैं—

Hume felt that a safety valve must be provided for the suppressed discontentment of the masses and something must be done to relieve their dispair, if a disaster was to be averted....

(ह्यूम यह अनुभव करता था कि जनता में दबे हुए असन्तोष को निकालने का स्थान होना चाहिए। उनकी निराशा को दूर करने का कुछ यत्न करना चाहिए, जिससे भयंकर दुर्घटना होने से रोकी जा सके।)

सर ह्यूम सरकारी नौकरी में सन् १८४९ में आए थे और सन् १८८२ में सेवा-मुक्त हुए थे। वे हिन्दुस्तान के उस ऐतिहासिक काल में भारत सरकार में रहे थे, जिसमें सन् १८५७ का अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ था और उस विद्रोह के उपरान्त अंग्रेज सेनाशाही ने जनता से भीषण प्रतिशोध लिया था। उस काल के अनुभव ही ह्यूम के मस्तिष्क पर बोझ बने हुए प्रतीत होते हैं।

परन्तु जो कुछ ह्यूम को अपने सेवा-काल में विदित हुआ था, वही कुछ मैकॉले और उसके समान विचारवाले अंग्रेज अधिकारियों को पहले ही अनुभव हो चुका था। उन्होंने भी भारत के प्रशान्त सागर की तह के नीचे गहराई में एक प्रबल धारा बहती देखी थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उन्होंने अपने ढंग से इस धारा को दबा देने का प्रयत्न किया था।

इस प्रतिशोध का स्वरूप दो प्रकार से दृष्टिगोचर हुआ था। एक ओर राजा राममोहन राय की ब्रह्म-समाज के रूप में तथा दूसरी ओर मैकॉले साहब की सरकारी शिक्षा के रूप में। इसी विरोध का एक अन्य रूप हुआ, सर ह्यूम द्वारा स्थापित इण्डियन नेशनल कांग्रेस।

हिन्दू-समाज के प्रशान्त सागर की गहराई में चल रही धारा को अंग्रेज विद्वानों ने देखा था और समझा था। वह धारा थी भारतीय संस्कृति और धर्म की, जिसे लम्बा मुसलमानी राज्य भी मिटा नहीं सका था।

अंग्रेजी शासन के बंगाल में स्थापित होते ही, अंग्रेज अधिकारियों को यह जानने की चिन्ता लग गई थी कि जो कुछ इस्लामी राज्य मोराको से अफगानिस्तान तक कुछ ही वर्षों में सम्पन्न कर सका था, वह हिन्दुस्तान में अपने सात सौ वर्ष के राज्य-काल में क्यों नहीं कर सका? उनकी खोज का यह परिणाम निकला कि यह भारत की प्राचीन संस्कृति और धर्म की धारा थी, जो इस्लाम के यहाँ असफल होने में कारण बनी। इसको विनष्ट करने में ही अंग्रेज सरकार को अपनी भलाई दिखाई देने लगी थी।

यह ठीक है कि राजा राममोहन राय के विचार पूर्वोक्त अंग्रेजों के कहने से नहीं बने थे। वे उनके अपने बाल्यकाल में मुसलमानों से सम्पर्क के कारण बने थे। साथ ही ये विचार बने थे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के सेवा-काल में उनके एक योग्य अंग्रेज अधिकारी की संगति से। राजा साहब ने उपनिषदादि ग्रन्थों का अपने विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन भी किया था, परन्तु जब उनके विचार ब्रह्म-समाज में मूर्त होने लगे तो अंग्रेजी सरकार को राजा राममोहन राय अपनी योजना के अनुकूल प्रतीत हुए। उन्हें वे उस तरंग की सहायता करते प्रतीत हुए, जिससे सरकार भारतीय सांस्कृतिक धारा का विरोध करना चाहती थी। अतः सरकार इसमें सहायक होने लगी।

अंग्रेज नीतिज्ञों को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि यह ब्रह्म-समाज भी उस गहराई में चलने वाली धारा का एक प्रकार से विरोध ही कर रही है। अतः ब्रह्म-समाज को उनका समर्थन और सहायता प्रस्तुत हो गई और सन् १८२८ से लेकर, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य के अन्त काल तक, वह सहायता उनको प्राप्त रही।

इसी अर्थ मैकॉले की सरकारी शिक्षा की योजना थी। मैकॉले ने एक समय अपने पिता को एक पत्र में लिखा था—

The effect of this education on the Hindoos is prodigious. No Hindoo, who has received our English education ever remains sincerely attached to his religion.

(इस शिक्षा का हिन्दुओं पर प्रभाव आश्चर्यजनक होगा। कोई भी हिन्दू, जिसने यह अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर ली है, कभी भी निष्ठापूर्वक अपने धर्म से सम्बद्ध नहीं रह सकता।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म-समाज १८२८ में स्थापित हुई। अंग्रेजी सरकारी शिक्षा १८३५ में चालू की गई और ह्यूम साहब की इण्डियन नेशनल कांग्रेस सन् १८८५ में स्थापित की गई। तीनों तरंगें जान-बूझकर अथवा अनजाने में हिन्दू-समाज की आभ्यान्तरिक सांस्कृतिक धारा को नाश करने में संलग्न रहीं। जितना-जितना इनका बल बढ़ता गया, सांस्कृतिक धारा का विरोध, ये उतने ही बल से करती रहीं।

परन्तु इस तरंग का विरोध भी हुआ। सन् १८७५ में इस तरंग के विरोध-स्वरूप महर्षि स्वामी दयानन्द ने बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की। वैसे स्वामी दयानन्द ने इसका आरम्भ पाखण्ड-खण्डिनी ध्वजा के नीचे सन् १८६७ में हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर किया था। परन्तु इसका मूर्त रूप सन् १८७१-७२ में कलकत्ता में विचार किया गया और सन् १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की गई।

श्री प्यारेलाल (महात्मा गांधी के जीवन चरित में) आर्यसमाज के विषय में लिखते हैं—

Swami Dayanand with his generation had noted with deep inner anguish the onslaught on the one hand of superficial European rationalism and, on the other hand, of Christianity which coming as a hand-maid of Western imperialism, had disrupted their national solidarity, bred asepticism and schism when it entered a family and undermined their own religion without providing an adequate substitute for it.

(उस समय की पीढ़ी के साथ स्वामी दयानन्द ने यह अति दुःख के साथ अनुभव किया था कि एक ओर बाहरी यूरोपीय बुद्धिवाद ने, और दूसरी ओर ईसाइयत ने, जो देश में विदेशीय साम्राज्यवाद के साथ आया था और यहाँ की समाज में फूट डलवा रहा था, भारतीय परिवार पर आक्रमण कर, यहाँ के मज़हब को विनष्ट कर दिया था और उसका स्थानापन्न प्रस्तुत नहीं किया था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य-समाज के विषय में यही महाशय लिखते हैं—

In marked contrast with the reformist Brahmo Samaj was the Arya Samaj—the church militant within the Hindoo fold—bearing to Hinduism what Protestanism is to the Roman Catholic church..... it was a revivalist movement with return to the pure ancient Vedic faith, culture and institution as its goals.

(सुधार करनेवाली ब्रह्मसमाज से सर्वथा विपरीत आर्यसमाज थी। यह संघर्षप्रिय संस्था थी। हिन्दुओं के भीतर इसका स्थान वही था, जो प्रोटैस्टैण्ट समुदाय का रोमन कैथॉलिक के प्रति था···यह पुनरुद्धार करनेवाला आन्दोलन था। यह पुनः प्राचीन वैदिक मत को, इसकी सभ्यता और रीति-रिवाज को चाहता था।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज नीतिज्ञ नहीं चाहते थे कि विचारों के वे तत्त्व जीवित और जाग्रत रहें, जिन्होंने इस्लाम जैसे बलशाही समुदाय का मुख मोड़ दिया था। अतः पूर्ण अंग्रेजी सरकार इसका विरोध करने के लिए उद्यत हो गई।

भारतवर्ष में विशाल हिन्दू-समाज, जिसके पाँव दृढ़ता से अपनी प्राचीन संस्कृति और धर्म में जमे हैं, काल की विपरीत गतियों का सफलतापूर्वक सामना करती चली आती थी। भारतवर्ष पर गिद्ध की-सी दृष्टि रखनेवाले विदेशीय, हिन्दू-समाज के पाँव उखाड़ने में यत्नशील हो गए। एक दूषित संयोग इस्लाम, ईसाइयत और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आस्थाविहीन हिन्दुस्तानी घटकों का बन गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दासता के नये रूप

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब स्मृतिकार महाराज मनु ने यह लिखा था कि श्रुति में अयुक्तिसंगत बात नहीं हो सकती, तो उसने मानव की दासता की शृंखलाओं पर घोर आघात किया था। यही कारण है कि भारतीय आचार-व्यवहार अथवा मान्यताओं में युक्ति विशेष निर्णायक आधार रही है।

स्मृतिकार के ऐसा विधान करने पर भी सत्ताधीश लोग मनुष्य को दासता की शृंखलाओं में बाँधने का यत्न करते रहे हैं। राजनीतिक सत्ता अथवा आर्थिक व सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त करके लोग अन्य मनुष्यों को अपनी सत्ता अथवा प्रभाव के अधीन रखने के लिए अनेकानेक प्रकारों का प्रयोग करते हैं। ये दासता उत्पन्न करने के उपाय हैं। समय के साथ इसके रूप बदलते रहे हैं। फिर भी दासता तो दासता ही है। रूप बदलने से न तो दासता की तीव्रता कम होती है और न ही उसके दुष्परिणामों से बचा जा सकता है।

आम के पेड़ का अंकुर, जमने के समय भी आम का पेड़ ही होता है, वह नारंगी अथवा नींबू का अंकुर नहीं हो सकता। इसी प्रकार दासता प्रारम्भिक रूप में भी दासता ही रहती है, वह स्वतंत्रता नहीं कही जा सकती। दासता का अंकुर विचारों में उत्पन्न होता है। विचार से दासता, आचरण में भी दासता ही उत्पन्न करेगी, अन्य कुछ नहीं।

आज संसार में विचार-स्वातन्त्र्य का लोप हो रहा है। जन-साधारण की बात यदि छोड़ भी दी जाए तो तथाकथित पढ़े-लिखे लोग भी विचार-स्वातन्त्र्य को अवांछित मानने लगे हैं। वे विचारों की दासता और नियन्त्रण में मतभेद नहीं समझ पाते।

राजनीति में दलबन्दी भी दासता का ही एक रूप है। ऐसा माना जाता है कि राजनीति दल बनाने के बिना नहीं चल सकती। दल-निर्माण के समय तो आधारभूत सिद्धान्तों की मान्यता ही निहित रहती है, परन्तु समय-समय पर, जब प्रत्येक विषय में दल के सदस्यों पर 'ह्विप' (आदेश) चलाए जाते हैं तो यह नियन्त्रण अधिनायकवाद में बदल जाता है और दल दासों का एक बाड़ा बन जाता है। शासन की संसदीय प्रणाली में दलबन्दी विशेष अंग माना जाता है और साधारण बातों में भी दल के सदस्यों को 'ह्विप' के अनुसार मतदान करना होता है। यों तो उसको नियन्त्रण का नाम दिया गया है, वास्तव में यह अधिनायकवाद का ही एक रूप है।

भारतीय संसद् में कांग्रेस का प्रबल बहुमत होते हुए भी निरन्तर 'ह्विप' की आवश्यकता बनी रहती है। वे विषय भी, जो दल बनाते समय अथवा निर्वाचनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय किसी के ध्यान में नहीं होते, जब विचार के लिए उपस्थित होते हैं, तो दल के नियन्त्रण के अधीन सबको एक ही मत देना होता है। इसको दासता नहीं कहें तो और क्या कह सकते हैं?

जब १९५३ में मध्यप्रदेश के कुछ मन्त्रीगणों के लाभ के कार्यों में भाग लेने का विषय उठा तो इस पर संसद् में कांग्रेस का 'ह्विप' जारी हुआ और जब उत्तर प्रदेश के एक संसद्-सदस्य ने, कांग्रेस के नेता के आदेश के विरुद्ध अपनी आत्मा की पुकार के अधीन मत दिया तो उसको दल से बाहर करने की धमकी दी गई और उस बेचारे से क्षमायाचना कराई गई।

जो लोग संसदीय कांग्रेस पार्टी की मीटिंग में कांग्रेस नेता की फटकारें सुनते रहते हैं, वे मध्यकालीन राजाओं-महाराजाओं के आदेशों का पालन करने वाले मानसिक दासों के चित्र का एक नवीन संस्करण तैयार करते प्रतीत होते हैं।

दासता का यह रूप केवल संसदीय अथवा विधान सभा के दलों तक ही समित नहीं रहा। आज कांग्रेस के चार आना सदस्यों पर भी नियन्त्रण का चक्र चलाया जा रहा है। उन पर भी स्वतन्त्र विचार रखने पर अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है। कांग्रेस का मान रखने के लिए कांग्रेस के प्रत्येक सदस्य को अपनी वाणी और कार्यों पर काबू रखने का आदेश है। परिणाम यह हो रहा है कि विचारशील, चरित्रवान् तथा योग्य व्यक्तियों के लिए राजनीतिक दलों में स्थान कम होता जाता है और गुण्डे, चरित्रहीन, स्वार्थी तथा मूर्खों के लिए इन दलों में स्थान बढ़ता जाता है। यह तो ऐसे ही है, जैसे चाटुकार राजाओं-महाराजाओं के पास खुशामदी और स्वार्थी लोगों का जमघट लग जाता था। अन्तर केवल यह हुआ है कि जहाँ पिछले काल में अधिनायकवाद व्यक्तिगत होता था, वहाँ आज यह पार्टी के नेताओं का बन गया है।

पार्टी के नेताओं के प्रभाव और उनकी सत्ता का सिक्का जन-साधारण में बनाए रखने के लिए जो उपाय प्रयोग में लाए जाते हैं, वे वही हैं, जो बीते युग में शासकों की सत्ता बनाए रखने के लिए प्रयोग में लाए जाते थे।

बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। आज १९५४ से चालीस-पचास वर्ष पूर्व, जो कुछ अंग्रेज शासकों के प्रभाव को स्थिर रखने के लिए किया जाता था, वही आज कांग्रेस शासकों का शासन स्थिर रखने के लिए किया जा रहा है। लार्ड कर्जन तथा उस समय के 'प्रिंस आफ वेल्स' के भ्रमण के समय, जिस प्रकार स्कूलों के विद्यार्थियों को उनके स्वागत के लिए सड़कों के किनारे खड़ा करके उनके हाथों में कागज की 'यूनियन जैक' की झण्डियाँ पकड़ाकर हिप-हिप हुर्रे' के नारे लगवाए जाते थे, वही आज देश के दो-चार व्यक्तियों के लिए किया जा रहा है। केवल उसके रूप में अन्तर है।

अपने देश के किसी एक व्यक्ति के लिए, उसकी विचारधारा को समझने की शक्ति न रखनेवाले कोटि-कोटि विद्यार्थियों के मुख से, उसके लिए जय-जयकार बुलवाने का प्रयास तो किसी सीमा तक क्षम्य भी माना जा सकता है, यद्यपि यह भी दासता का एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप ही है। परन्तु उन विद्यार्थियों को, जिनके न तो विचार हमसे मिलते हैं और न ही उनके काम हमें पसन्द हैं, यहाँ बुलाकर भारत के बालकों के मन में केवल संस्कार डालकर उनकी मान-प्रतिष्ठा बैठाना तो घोर दासता का चिह्न है। यह किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं हो सकता।

आज राजनीतिक और आर्थिक मान्यताएँ वैसे ही जनता के मन में डाली जा रही हैं, जैसे किसी काल में सरलचित्त बालकों के मन में धर्मगुरु और भगवान् की मान्यताएँ डाली जाती थीं। भगवान् के अस्तित्व में सन्देह करनेवाले पर तो भारत में कभी प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु राजनीतिक तथा आर्थिक धारणाओं पर सन्देह करनेवालों के लिए तो आज जेल और फाँसी तक का दण्ड नियत है। इस कारण राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों की दासता मजहबी दासता से कहीं अधिक पतन की बात मानी जानी चाहिए।

इन सबका परिणाम यह हो रहा है कि जनता तो दास की दास ही है। केवल शासक बदल गए हैं। किसी काल के राजा-महाराजाओं के स्थान में, किसी काल के धनी-मानी जमींदारों के स्थान पर, अथवा किसी काल के वायसरायों, कमिश्नरों और डिप्टी-कमिश्नरों के स्थान पर आज राजनीतिक नेता आसीन हो गए हैं। जनता तो वैसी की वैसी ही दासता में जकड़ी पड़ी है।

जब कोई व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रयोग न करके किसी अन्य की बात को केवल इस कारण मानता है कि वह धनी-मानी है या किसी प्रकार से बड़ी पदवी पर पहुँच गया है तो वह दास ही कहाएगा। यह अवस्था तब अतिचिन्तनीय हो जाती है, जब जन-साधारण इस दासता में आनन्द अनुभव करने लगता है। आज जन-साधारण महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल तथा स्टालिन अथवा कार्ल मार्क्स, लेनिन तथा अन्य नेताओं को इस कारण माननीय मानता है क्योंकि वे नेता हैं अथवा रहे हैं। भले ही उनकी बातें अथवा सिद्धान्त उनकी समझ से दूर हों और परीक्षा करने पर अमान्य सिद्ध हों।

ये हैं दासता के नये रूप जिसकी झलक मात्र यहाँ दिखाई गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा न्यायाधिकरण

स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त भारत में धर्म-व्यवस्था उत्तरोत्तर बिगड़ रही है। यहाँ धर्म कानून का पर्याय माना है। करने योग्य कर्म को धर्म कहते हैं और वर्तमान काल में कानून ही करने योग्य कर्म का निर्णय करता है।

जब यह देखा जाता है कि चोरी, डाके, हत्याएँ, लड़ाई-झगड़े बढ़ रहे हैं, तो इसमें कारण जानने की लालसा उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है।

अधर्माचरण अर्थात् कानून के विरुद्ध आचरण, आज समाज में व्याप्त हो रहा है। यह निरन्तर अधिक और अधिक हो रहा है। ऐसा क्यों है ?

इसमें मुख्य कारण जीवन की भौतिकवादी कल्पना (materialistic conception of life) ही है। यूँ तो आत्मा-परमात्मा को न माननेवाले, वैसे ही आदिकाल से संसार में उपस्थित हैं, जैसे आत्मा-परमात्मा को माननेवाले। देवता और दानवों की उत्पत्ति आदिकाल में हुई ही मानी जाती है। इस पर भी यूरोप के सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के प्रायः मीमांसक (फिलॉसॉफर) जीवन की भौतिकवादी कल्पना पर विशेष बल देते रहे हैं। इस बल का परिणाम यह हुआ है कि यूरोप की राजनीति भौतिकवाद की भित्ति पर खड़ी हो गई है। कार्ल मार्क्स ने तो जीवन तथा संसार की गतिविधि का कारण ही भौतिक बताने का यत्न किया है और उसकी मीमांसा की संसार पर आज गहरी छाप है।

भौतिकवाद मानता है कि इस घटनावश बने संसार में मनुष्य एक घटना है। इसके सब कार्य उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ही हैं और मानव-इतिहास इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किए गए प्रयत्नों का इतिहासमात्र है। दुनिया की गतिविधि इसी विचार की धुरी के चारों ओर चल रही है।

यूरोप का भौतिकवाद भारत में, अंग्रेज़ी काल की शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से आया है। अंग्रेज़ तो गए, परन्तु अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य और जीवन-मीमांसा के अनुयायी नेताओं को पीछे छोड़ गए हैं। अतः वह नैतिक पतन, जो यहाँ अंग्रेज़ी-काल में आरम्भ हुआ था, अभी तक चल रहा है और दिन-प्रतिदिन वृद्धि पा रहा है।

अंग्रेज़ी-काल में यहाँ एक विशेष न्याय-प्रपंच बना और स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त वैसा ही चल रहा है। वही डिप्टी-कमिश्नर और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट, वही कचहरियाँ और वकील, पुलिस तथा खुफिया पुलिस, कोर्ट-फीस और वकीलों की उजरत, अपीलें और रिविज़न इत्यादि चल रही हैं, जो अंग्रेज़ी-काल में थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ी-काल में तो शासक विदेशीय थे और वे जैसे-कैसे अंग्रेज़ी शासन बनाए रखने में ही अपना कल्याण मानते थे। अतः उनकी दृष्टि में मौलिक न्याय अंग्रेज़ी राज्य को यहाँ बनाए रखने में था।

कहीं अंग्रेज़ी न्यायाधीश बहुत यत्न से दूध-का-दूध, पानी-का-पानी करता देखा जाता था तो इसमें भी उसका उद्देश्य वही होता था, जिससे शासितों के मन में अंग्रेज़ी न्याय की महिमा बनी रहे और भारतवासी यहाँ पर अंग्रेज़ी राज्य को ईश्वरीय वस्तु समझते रहें।

उनके लिए न्याय राज्य के लिए बन रहा था; राज्य न्याय की स्थापना के लिए नहीं था। जब-जब भी न्याय किसी राज्यद्रोही के पक्ष में होता था, अंग्रेज़ी न्याय अन्याय का रूप धारण कर लेता था। उस काल में कानून अर्थात् धर्म केवल अंग्रेज़ी राज्य को भारत में बनाए रखने के लिए रह गया था। परिणाम यह हुआ कि राज्य का नाश हुआ। रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है। मारा हुआ धर्म मारकर ही साँस लेता है।

यही बात स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेसी राज्य में हो रही है। आज कांग्रेस अपना शासन बनाए रखने के लिए कानूनों का निर्माण कर रही है। शासन मौलिक न्याय के लिए नहीं है।

संसद् और विधान सभाएँ प्रजा से निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनती हैं, परन्तु इन संस्थाओं की सदस्यता के लिए किसी प्रकार की योग्यता का होना आवश्यक नहीं है अर्थात् कानून बनानेवाली संस्थाओं में सदस्य बनने के लिए कानून जानने और इसके मानव-समाज पर प्रभावों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं मानी जाती।

यूरोप के प्रायः देशों में, जहाँ प्रजातन्त्रात्मक विधान प्रचलित हैं, यही विडम्बना चल रही है और मानवता का ह्रास हो रहा है। कारण स्पष्ट है कि कानून और शासन चलाने वालों में इन दोनों बातों का ज्ञान और अनुभव नहीं होता।

कानून का ज्ञान और कानून का आधार कुछ तो होना आवश्यक ही है। पार्लियामेंट, संसद्, धारा-सभाएँ अपने कार्यों में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकतीं। मौलिक न्याय को विकृत करने का अधिकार इनको भी नहीं होना चाहिए। भारत के संविधान में कुछ मौलिक बातों का उल्लेख है। वे पर्याप्त नहीं और फिर उनमें भी परिवर्तन करने का अधिकार संसद् को है।

भारतीय परम्परा में कानून का आधार सत्य ज्ञान माना है और वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक मानी गई है। भारतीय धर्मशास्त्र में लिखा है—

'वेदोऽखिलो धर्ममूले स्मृतिशीले च तद्विदाम्।'

पूर्ण धर्म का मूल वेद तथा वेद और स्मृति के विद्वानों का चलन है। और—

'समयधर्म वेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।'

अपने धर्म का निश्चय करते समय ज्ञान-चक्षु से देखो।

अर्थात् धर्म-व्यवस्था देनेवाले, अभिप्राय यह कि कानून बनानेवाले वेद अर्थात् सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान के जाननेवाले होने चाहिएँ। पाश्चात्य आचार-विचार के माननेवालों को यहाँ वेद शब्द अरुचिकर प्रतीत होगा, परन्तु इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि समाज के लिए कानून बनानेवालों को संसार का सत्य ज्ञान होना आवश्यक है !

सार्वलौकिक मत (Universal Franchise) से संसद्-सदस्य निर्वाचित हों अथवा किसी अन्य प्रकार से उनकी नियुक्ति हो, यह विवेच्य नहीं। विवेच्य बात तो यह है कि कानून बनानेवाले, जिनको धर्म की व्यवस्था करनी है, धर्म के ज्ञाता और धर्म के मूल आधार को जाननेवाले होने चाहिएँ।

भारत में भी संसद् तथा विधानसभाओं का संगठन वैसा ही बना है, जैसा यूरोपीय प्रजातन्त्रात्मक देशों में है। अतः जो अव्यवस्था वहाँ पर है, वही भारत में भी उत्पन्न हो रही है। इस अव्यवस्था का व्यापक परिणाम यह हो रहा है कि जैसे संसद् में सदस्यता के लिए योग्यता, चरित्र और अनुभव का होना कोई आवश्यक नहीं, वैसे ही देश की अन्य बातों में भी अधिकारी-अनधिकारी का भेद-भाव मिटता जाता है। उचित-अनुचित तथा उपकारी-अनुपकारी में भेद करने की न तो किसी में योग्यता ही रह गई है और न ही इच्छा।

यूरोपीय न्याय-व्यवस्था में वकीलों का एक महान् स्थान है। इसमें लेखक का मत है कि वकील होना तो कोई बुरी बात नहीं है। हाँ, पेशेवर वकील होना, जो दाम लेकर किसी को न्याययुक्त सिद्ध करने का यत्न करता है, बुरी बात है। इसी से खराबी उत्पन्न होती है। इनसे अभियोगों में वृद्धि, इनका लम्बे काल तक चलना, न्यायाधीशों का स्वयं न्याय करते समय प्रमाद में फँसना, इत्यादि कितने ही अवगुण उत्पन्न होते जाते हैं। सबसे बुरा परिणाम, पेशेवर वकीलों के होने से यह हो रहा है कि न्याय उत्तरोत्तर महँगा और महँगा होता जाता है।

जिन लोगों ने न्याय की समस्याओं पर कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया, उन्हें न्यायालय, बिना वकीलों के एक अस्वाभाविक बात प्रतीत होगी। वास्तव में पैसा लेकर पैरवी करनेवाले वकील, न्याय को अप्राप्य करने में और न्याय को अन्याय में बदलने में, पूर्णतया नहीं तो बहुत अंशों में उत्तरदायी अवश्य हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि बिना वकीलों के यह कैसे हो? उत्तर है जैसे होना चाहिए वैसे हो, अर्थात् प्रजा को न्याय प्राप्त कराना राज्य का दायित्व है। अतः राज्य को निष्पक्ष, विद्वान्, अनुभवी और चरित्रवान् न्यायकर्ता नियुक्त करने चाहिएँ।

जब किसी को यह अनुभव हो कि उसके साथ अन्याय हो रहा है, वह सीधा न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी बात मौखिक रूप में बताए। कचहरी में उसकी बात को लिखा जाए और न्यायाधीश उस पर उचित आज्ञा करे। वह बताए कि क्या सत्य ही उस व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का अन्याय हुआ है? यदि अन्याय हुआ है तो किसने किया है? अपराधी को दंडित करने से पूर्व उसको बुलाकर उसके विपरीत आरोप सुनाए। आरोप कहे जाने पर वह उस अपराधी की सफाई सुने और तदनन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक हो तो साक्षी बुलाए और अंत में विधि-विधानानुसार निर्णय दे।

यदि न्यायकर्ता स्वयं कानून नहीं जानता और उसे पक्ष-विपक्ष के वकीलों की बहस सुनकर ही निर्णय लेने की बात समझ में आती है, तो वह व्यक्ति न्यायकर्ता के पद के योग्य नहीं है।

इसके साथ ही कानून की भाषा सरल, स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए। कानून के शब्द, कानून का उद्देश्य और अर्थ, जैसे कानून बनते समय उपस्थित किए गए हों, उस उद्देश्य को ही प्रकट करें। उद्देश्य से भिन्न अर्थ अमान्य हों।

कानून का आधार व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना हो। समाज की स्वतन्त्रता अथवा अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपज ही हों। जब तक किसी व्यक्ति का कार्य किसी दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा अधिकारों का हनन न करे, तब तक कानून उसकी स्वतन्त्रता और इच्छा का आदर करे।

शासन स्वयं व्यापारी अथवा उद्योगपति न हो। ऐसा होने से शासन वैश्य-वृत्ति वाला बन जाएगा। वैश्य-वृत्ति वाला शासन न्याय करने के अयोग्य सिद्ध होगा।

वैश्य-वर्ग प्रायः लोभी होता है। इसकी लोभ की प्रवृत्ति को नियन्त्रण में रखने के लिए शासन की आवश्यकता है। जब शासन स्वयं ही वैश्य-वृत्ति करने लगेगा तो उसे नियन्त्रण में कौन रख सकेगा? यह सर्वत्र देखा गया है कि ज्यों-ज्यों शासन उद्योग-धंधों को हाथ में लेता जाता है, त्यों-त्यों न्याय का स्तर हीन होता जाता है।

कानून अर्थात् धर्म एक अति पवित्र वस्तु है। इसके लिए नागरिक राज्य को करोड़ों रुपए कर के रूप में देते हैं। जिस दिन जन-साधारण की दृष्टि में कानून की पवित्रता लोप होगी, उसी दिन शासन और जाति का विनाश आरम्भ हो जाएगा।

देश में शान्ति, सुख और आनन्द की वृद्धि के लिए न्याय-व्यवस्था स्थिर आधारों पर बननी चाहिए। वे स्थिर आधार हैं—सत्य, ज्ञान तथा निष्पक्षता और कानून को बनाने वाले कानून के ज्ञाता, अनुभवी, आस्तिक और मनुष्य को मिट्टी का ढेला न समझनेवाले हों।

न्याय की उपलब्धि के लिए पेशेवर वकीलों को निःशेष किया जाए।

न्यायाधीश विद्वान्, कानून के ज्ञाता और अनुभवी व्यक्ति होने चाहिएँ।

न्याय प्राप्त करने के लिए एक पैसा व्यय करना भी शासन पर कलंक है।

□□□

Central Library
168023
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद, श्रीमद्भगवद्गीता, दर्शन शास्त्रों व उपनिषदों पर रचनाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म

वेद प्रवेशिका (सम्पूर्ण)

ईश केन कठ उपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद्

प्रश्न ऐतरेय उपनिषद्

मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद्

वेद मन्त्रों के देवता

वेद और वैदिक काल

वेदों में सोम

वेदों में इन्द्र

विश्वेदेवा

सायंस और वेद

अद्वैत मीमांसा

विज्ञान और विज्ञान

सृष्टि रचना

सांख्य दर्शन

न्याय दर्शन

ब्रह्मसूत्र-1 (वेदान्त दर्शन-1)

ब्रह्मसूत्र-2 (वेदान्त दर्शन-2)

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 डी.बी. गुप्ता मार्ग
(समीप प्रह्लाद मार्केट) करोल बाग, नई दिल्ली-5
फोन / टैलीफैक्स : 23553624/23551344

081
168023
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
R 089.9143
वर्ग संख्या GUR-H
आगत संख्या 168023

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

G
A
C
C
Ta
E
Rec
Data E
Check

श्री गुरुदत्त के चुने हुए उपन्यास

कुमार सम्भव
उमड़ती घटाएं
अमृत मंथन
परम्परा
अग्नि परीक्षा
वैशाली विलय (बहती रेता)
परित्राणाय साधूनाम्
विक्रमादित्य साहसांक
पुष्यमित्र
लुढ़कते पत्थर
पत्रलता
गंगा की धारा
खण्डहर बोल रहे हैं
स्वाधीनता के पथ पर
पथिक
स्वराज्यदान
विश्वासघात
देश की हत्या
दो लहरों की टक्कर
मानव
धरती और धन
आवरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त

8 दिसम्बर, 1894

से

8 अप्रैल, 1989

शिक्षा : एम. एस सी.

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर श्री गुरुदत्त जी की कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। ये रचनाएँ ज्ञान का अथाह भण्डार हैं। भारतीय संस्कृति का युक्तियुक्त, प्रमाणसहित प्रस्तुतिकरण और वह भी सरल, सुबोध, बोधगम्य भाषा में--यह उनकी विशेषता है।

अब तक प्रकाशित और अप्रकाशित लेखों का सार एक ही खण्ड में प्रस्तुत करने का यह एक प्रयास है। निश्चय ही यह संग्रह पाठकों के ज्ञानवर्धन में सहायक सिद्ध होगा।

ISBN. 81-88388-74-2

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर, 10/54, देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344
E-maill : indiabooks@rediffmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar